श्रीसर्वेश्वरो विजयतेतमाम्

श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्राय नमः

श्रीब्रह्मसूत्रम्

(श्रीनिम्बार्कदर्शनम्)

स्वाभाविक-भिन्नाभिन्नत्व-प्रतिपादनपरम् ।

मुद्रापकः प्रकाशकश्च

महन्त पण्डित कल्याणदासः ।

प्रथम संस्करणं १००० प्रति	सं० १९८५ ईसवीय १९२८	मूल्य श्री निम्बार्क- पद प्रेम

श्रीसर्वेश्वरो विजयतेतमाम्

श्री १०८ भगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्राय नमः

श्रीब्रह्मसूत्रम्

श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रविरचितवेदान्त-
पारिजातसौरभाख्यसूत्रवाक्यार्थेन

श्रीश्रीनिवासाचार्यचरणप्रणीत—
श्रीवेदान्तकौस्तुभभाष्येण च
सनाथीकृतम् ।

(श्रीनिम्बार्कभाष्यम्)

न्यायोपाध्याय काव्यतीर्थ—
पं० ढुण्ढिराजशास्त्रिणा संशोधितम् ।

तथा

श्रीवृन्दावन पानीघाटस्थान महन्तम-
पं० श्रीकल्याणदासेन मुद्रापितं
प्रकाशितञ्च ।

प्रथमसंस्करणम्
१००० प्रति

विक्रम सं० १९८९
ईशवीयः १९३२

मूल्यं श्री निम्बार्क-
पद प्रेम

श्रीराधासर्वेश्वरो विजयतेतमाम् नितराम् ।

समर्पणपत्रम्

हे निम्बार्क दयानिधे गुणनिधे हे भक्तचिन्तामणे
हे आचार्य्यशिरोमणे मुनिगणैरामृग्यपादाम्बुज ॥
हे सृष्टिस्थितिपालक प्रभवन हे नाथ मायाधिप
हे गोवर्द्धनकन्दरालय विभो मां पाहि सर्वेश्वर ॥

अयि परमसौशील्यादिगुणगणार्णव शरणागतवत्सल श्रीसुदर्शनचक्रावतार श्रीमदाद्याचार्य्य भगवान् श्री १०८ श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्की पवित्र प्रेरणासे भागवत धर्म्म तथा भगवद्गीतादि वैदिक सत्सम्प्रदायप्रवर्त्तनार्थ इस धराधामपर अवतीर्णहोकर संसारी जीवोंके शिक्षार्थ आपने अखण्ड नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यव्रतका पालन किया, तथा आध्यात्मिकतापत्रयग्रस्त जीवसमुदायको परमानन्दस्वरूप भगवद्भावापत्ति (मोक्ष) प्रदानकरनेकी शुभकामना से श्रीराधाकृष्ण युगलोपासनारूप भागवतधर्म्मका स्वयं आचरण किया, तथा स्वकीय शिष्यसमुदायको-भी परमपावन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य तथा श्रीकृष्णकैङ्कर्य्यरूपधर्म्मका आचरणकराया। स्वरचितग्रन्थोंमें निर्दोष परब्रह्मस्वरूपका यथार्थतत्त्व सन्निवेश कर निज शिष्योंको ग्रहण कराया, तथा वैदिक सच्छास्त्रोंका अनुशीलन कर उनका परम साररूप एवं अकाट्य द्वैताद्वैतसिद्धान्तका प्रतिपादन किया। इसप्रकार आपने इस वसुधातलपर सनातन भागवतधर्म्मका स्थापन एवं प्रचारकर श्रीभगवदाज्ञाका पूर्णतया पालनकर सर्वेश्वर श्रीकृष्ण भगवान्को सन्तुष्ट किया, तथा द्वैताद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादक वे०पा० सौरभनामक ब्र०सू० वाक्यार्थका प्रणयन कर उसका विशदरूपसे तात्पर्य्य प्रकाशितकरनेके लिये स्वकीय शिष्यप्रवर श्री श्री निवासाचार्य्यजीको आज्ञादी, उन्होंने श्रीचरणोंकी आज्ञा सादर शिरोधार्य्य कर वेदान्तकौस्तुभनामक ब्र०सू० भाष्य निर्म्माण किया। श्री गोपालजीकी असीम कृपासे उक्तभाष्यद्वयका प्रकाशन कर निम्बग्रामनिवासी परमकारुणिक श्रीमदाद्याचार्य्य श्री १०८ श्रीभगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्र तथा तच्छिष्य श्रीश्रीनिवासाचार्य्यजीके परम पुनीत करकमलोंमें यह (भाष्यद्वयोपेत ब्रह्मसूत्र) सबहुमान पुरःसर समर्पित कर सविनय प्रार्थनाकरताहूं कि भवदीय पादपद्माश्रित विनीत सेवक द्वारा समर्पित इस स्वरचित भाष्यद्वयकी भेंटको स्वीकृत कर इस की ज्ञानरश्मियोंसे अज्ञानतिमिराच्छन्न जीवोंके हृदयोंको प्रकाशित कर उनको कल्याणमार्गका पथिक बनाकर कृतार्थ करनेकी कृपा कीजिये।

अनन्त चतुर्दशी
सं० १९८६ वि०

भवदीय पादपद्मैकशरणो वृन्दावनपानीयघाट वास्तव्यः (पं.) कल्याणदासः।

भूमिका

श्री ६ भगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्राय नमः ।

हार्दध्वान्तनिरासवासरमणिर्विज्ञानधारानिधि-
र्भक्ताभीष्टसहस्रपूरणविधौ चैतन्यचिन्तामणिः ॥
सद्भृङ्गेप्सितविष्णुभक्तिनलिनीव्याकोशहेतूदयः,
सोऽस्माकं कुरुतां भवाब्धिशमनं निम्बार्कनामा मुनिः ॥ १ ॥

आजकल प्रायः प्रत्येक ग्रन्थके प्रारम्भमें भूमिका लिखनेकी प्रथा चल पड़ीहै अत एव 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' के अनुसार भाष्यद्वयोपेत (श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रकृत वेदान्त-पारिजात-सौरभ तथा तच्छिष्य श्री श्रीनिवासाचार्यकृत वेदान्त-कौस्तुभ) इस ग्रन्थरत्न अर्थात् ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) के सम्बन्धमें संक्षेपतः निवेदन कियाजाताहै—

यह बात तो निर्विवादहीहै कि श्रीब्रह्मसूत्रके कर्त्ता अथवा रचयिता वेदव्यासजीहैं और यह मत प्रायः सर्वमान्यभीहै, अतः इस ग्रन्थके निर्म्माताके विषयमें विशेष कहने का प्रयोजन नहीं ।

अब देखना चाहिये कि कितने समय पूर्व इस (ब्रह्मसूत्र) का निर्म्माण हुवा था । श्रीमद्भगवद्गीता (श्रीवेदव्यासकृत महाभारत-भीष्मपर्व्वान्तर्गत) के त्रयोदशाध्यायके चतुर्थश्लोकमें ब्रह्मसूत्र का नामनिर्देश (क्षेत्रक्षेत्रज्ञके विचारप्रसङ्गमें) किया गया है यथा—

"ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥"

किन्तु ब्रह्मसूत्रके 'अनुस्मृतेश्च' इत्यादि सूत्रोंमें गीता का उल्ले(१)ख

---

(१) अनुस्मृतेश्च इ० सूत्र व्याख्यामें सब भाष्यकारों ने श्रीगीताका प्रमाण उद्धृत कियाहै ।

होनेसे यह निर्णय करना कठिनहै कि इन दोनों में से कौन ग्रन्थ पहले बना, परन्तु यह बात निश्चित है कि ब्रह्मसूत्रके रचयिता तथा श्रीमद्भगवद्गीता के सङ्कलन कर्ता श्री वेदव्यासजी ही हैं । अतः ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता का रचना काल (थोड़े अन्तरसे) एककालीन माना जासकताहै । श्रीमद्भगवद्गीताका रचनाकाल महाभारतमीमांसा (इण्डियनप्रेस, प्रयाग) के अनुसार अबसे प्रायः ५००० वत्सर पूर्व सिद्ध होताहै। क्यों कि महाभारत युद्ध अबसे ५००० वर्ष पूर्व हुवा था और उस युद्ध के आरम्भमें ही श्रीकृष्णभगवान् ने अर्जुन को गीता का उपदेश किया जिसे भगवान् श्री वेदव्यासजीने महाभारत भीष्म पर्वमें सङ्कलित किया । अस्तु, श्रीमद्भगवद्गीताका समसामयिक होने से ब्रह्मसूत्र का रचनाकाल भी प्रायः ५००० वर्ष पूर्व निर्दिष्ट किया जा सकता है ।

श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रका समय निरूपण ।

भविष्यपुराणमें लिखा है—

"सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णा(१)ज्ञप्तो जनिष्यति ।
निम्बादित्य इति ख्यातो धर्मग्लानि हरिष्यति ॥

सूत उवाच ॥

शृणुष्व चरितं तस्य निम्बार्कस्य महात्मनः ।
यमाह भगवान् कृष्णः कुरु कार्यं ममाज्ञया ॥
मेरोश्च दक्षिणे पार्श्वे देवनद्यास्तटे शुभे ।
देशे तैलङ्गके रम्ये देवर्षिचरसेविते ॥
तत्रावतीर्य्य सद्धर्मान्नारदाद्देवदर्शनात् ।
लब्ध्वा भूमौ वर्त्तयस्व नष्टप्रायान्ममाज्ञया ॥
माथुरे नैमिषारण्ये द्वारवत्यां ममाश्रमे ।
सुदर्शनाश्रमादौ च स्थितिः कार्य्या त्वयाऽनघ ॥
ओमित्यादेशमादाय भगवाञ्छ्रीसुदर्शनः ।
भक्ताभीष्टप्रदः साक्षादवतीर्णो महीतले ॥

---

(१) सुदर्शन महाबाहो कोटिसूर्य्यसमप्रभ । अज्ञानतिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय ।

देशे तैलङ्गके पुण्ये द्विजवर्य्यो महामनाः।
सुदर्शनाश्रमे पुण्ये भृगुवंशसमुद्भवः॥
नाम्नाऽरुण इति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः।
मुनिरूपधरश्चासीज्जयन्त्या भार्य्यया सह॥
समाहितं तेन तेजो विष्णुचक्रसमुद्भवम्।
दधार मनसा देवी जयन्ती पतिदेवता॥
तेजसा शुशुभे तेन चन्द्रेणेव दिशाऽमला।
अथ सर्वगुणोपेते काले परमशोभने॥
कार्त्तिकस्य सिते पक्षे पूर्णिमायां शुभे शुचौ।
कृत्तिकाभे महारम्ये उच्चस्थे ग्रहपञ्चके॥
सूर्य्यावसानसमये मेषलग्ने निशामुखे।
जयन्त्यां जयरूपिण्यां जजान जगदीश्वरः॥
येन सर्वमिदं विश्वं वेदधर्मे नियोजितम्।
विरिञ्चिरेकदा तस्मिन्निम्बार्कस्याश्रमे शुभे॥
समागत्याह भो ब्रह्मन् प्राप्तोऽहं क्षुधयाऽन्वितः।
यावत्सूर्य्यः स्थितो व्योम्नि तावन्मां भोजय द्विज॥
इति श्रुत्वा तथेत्युक्त्वा ददौ तस्मै च भोजनम्।
तदा तु भगवान् सूर्य्यो ह्यस्ताचलमुपागतः॥
मुनिना ऋषिणा तेन निम्बवृक्षे तदा शुभे।
स्थापितं तेजसा स्वेन तेजस्तस्य सुदर्शनम्।
तत्तेजः सूर्यसङ्काशं दृष्ट्वा वेधाः स्मयान्वितः।
भिक्षुवेषधरं बालं मुनिं सूर्य्यमिवापरम्॥
ननाम दण्डवद्भूमौ तपसा तस्य तोषितः।
उवाच वचनं रम्यं साधु साध्विति पूजयन्॥
निम्बादित्य इति ख्यातो वसुधायां भविष्यसि॥"

'सुदर्शनो द्वापरान्ते' इत्यादि अवतरणसे श्रीनिम्बार्कभगवान् का द्वापर युगके अन्तमें अवतीर्ण होना सिद्ध होता है।

श्रीवेदव्यासजी भविष्यपुराणान्तर्गतवेधविषयक विचारमें लिखते हैं—

"निम्बार्को भगवान्येषां वाञ्छितार्थप्रदायकः।
उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे॥"

अर्थात् जिनकी परम्परामें श्रीनिम्बार्कभगवान् ही इच्छितार्थ प्रदान करने वाले हैं उनको (श्रीनिम्बार्कानुयायियोंको) एकादशी आदि व्रतों में उदयव्यापिनी तिथि ग्रहण करना चाहिये। स्मार्त्तश्रेष्ठ श्रीकमलाकरभट्टजीने भी उपर्युक्त श्लोक स्वरचित 'निर्णयसिंधु' में उद्धृत किया है जिससे श्रीनिम्बार्कभगवान् श्रीवेदव्यासजीके समकालीन सिद्ध होते हैं।

श्रीमदाद्याचार्य्यके पुराणप्रसिद्ध अन्यान्य नाम भी उपलब्ध होते हैं तथा यह भी सिद्ध होता है कि आप द्वापरयुगके अन्तमें अवतीर्ण हुए थे। श्रीहरिके प्रिय आयुध सुदर्शन चक्रका अवतार होनेसे श्रीहरिप्रियाचार्यनाम ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें मिलताहै। एकादशी वेधविषयक विचारप्रकरणमें श्रीशौनकजीका वाक्यहै "कपालवेधमित्याहुराचार्य्या ये हरिप्रियाः।" उपर्युक्त शौनकवाक्यसे स्पष्ट है कि श्रीनिम्बार्क भगवान् शौनकजीके पूर्व वर्त्तमान थे।

श्रीमद्भागवत दशमस्कंध अध्याय ८७ में आरुणि (अरुणस्यापत्यं पुमान् आरुणिः) नाम उपलब्ध होता है। यथा—"उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः परिसरपद्धति हृदयमारुणयो दहरम्" १०॥ पुनश्च, भागवत ६ स्कन्ध १५ अध्याय चित्रकेतु आख्यानमें सुप्रसिद्ध ऋषियों के नामोल्लेख में भी श्री आरुणि ऋषिका नाम दिया गया है।

"चरन्ति ह्यवनौ कामं ब्राह्मणा भगवत्प्रियाः। × × ×
वसिष्ठो भगवान्रामः कपिलो बादरायणिः।
दुर्वासा याज्ञवल्क्यश्च जातूकर्ण्यस्तथाऽऽरुणिः॥"

अपरञ्च देवर्षिवर्य्य श्रीनारदभगवान् स्वरचित 'भक्तिसूत्र' नामक ग्रन्थमें भक्तिके प्रवर्त्तक मुख्याचार्यों की गणना करते हुये श्रीमन्निम्बार्कभगवान् को आरुणि (अर्थात् अरुण मुनिका पुत्र) कहतेहैं। यथा—

"इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्य्याः"।

पुनः श्रीमद्भागवत १० स्कंध ६ अध्याय ७ मश्लोक—

"वसिष्ठ इन्द्रः प्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः।
कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः॥"

यहां पर सुदर्शन नाम इसलिये आया है कि आप (श्रीमन्निम्बार्काचार्य) श्रीसुदर्शन चक्रके अवतार हैं। यह प्रसङ्ग उस समय का है जब शरशय्यापर पड़े हुये श्रीभीष्मजीका दर्शन करने के लिये श्री० युधिष्ठिर महाराज श्रीकृष्णभगवान् के सहित कुरुक्षेत्रमें गये हुये थे तथा उनके साथ अन्यान्य ऋषिमुनिभी श्रीभीष्मजीका दर्शन करने को पधारे थे।) अस्तु उपर्य्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि श्रीनिम्बार्क भगवान् श्रीवेदव्यासजी तथा श्रीकृष्णभगवान् के समयमें वर्त्तमान थे तथा श्रीहरिप्रियाचार्य्य, आरुणि एवं सुदर्शन इत्यादि नामों से विख्यात थे।

अब संक्षेपमें श्रीनिम्बार्क भगवान् की आचार्य्य परम्परा का वर्णन किया जाता है। जिस भागवत धर्म्मको भगवदाज्ञासे इस मर्त्यलोकमें श्रीनिम्बार्क भगवान् ने विशेषरूपसे प्रवर्तित किया, उस मतके प्रथम प्रवर्त्तक श्रीविष्णुभगवान् ने हंसावतार धारण कर श्रीसनकादिक महर्षियों को स्वीय तत्त्वोपदेश प्रदान किया था। इसका प्रमाण देखिये-श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमें श्रीकृष्णभगवान् ने श्री० उद्धवजीसे श्रीसनकादिकों को स्वकीय शिष्य कहा है। यथा-"एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः" अर्थात् हमारे शिष्य सनकादिकोंने यह योग कथन किया है। एवं सनकादिकों नेही उपर्य्युक्त तत्त्वज्ञान श्रीनारदभगवान् को प्रदान किया था, यह बात "छान्दोग्योपनिषद्" के भूमविद्याप्रकरणमें वर्णित है। यथा-"सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु, तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः॥" अर्थात् श्रीमन्नारदभगवान् श्रीमत्सनत्कुमार भगवान्से सविनय प्रार्थना करतेहैं कि हे भगवन्! हम शोक से संतप्त हैं आप हमको शोकरूप समुद्रसे पार कीजिये। यह सुनकर श्री सनत्कुमारजीने निखिल पापों से रहित श्रीनारदजीको तत्त्वोपदेश किया, तथा वही तत्त्वज्ञान श्रीनारद भगवान् से श्रीनिम्बार्काचार्य्यजीने प्राप्त किया था। यथा वेदान्त-पारिजात-सौरभे भूमाधिकरणे-"परमाचार्य्यैः कुमारैरस्मद्गुरवे श्रीमन्नारदायोपदिष्टो "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः" इत्यत्र भूमा प्राणो न भवति, किन्तु पुरुषोत्तमः॥"

अर्थात् हमारे परमाचार्य्य श्रीसनकादि महर्षियों ने हमारे गुरु

श्रीमन्नारदभगवान् को भूमोपासनाका उपदेश किया था, वहां "भू-मा" शब्द "प्राण" का वाचक नहीं, किन्तु श्रीपुरुषोत्तम (परमात्मा) का वाचक है। श्रीविष्णुयामलमें भी उपर्य्युक्त परम्पराक्रम वर्णित है। यथा—

"नारायणमुखाम्भोजान्मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः।
आविर्भूतः कुमारैस्तु गृहीत्वा नारदाय च॥
उपदिष्टः स्वशिष्याय निम्बार्काय च तेन तु॥" इत्यादि।

अब उन विद्वानों के मतका निराकरण किया जाता है जो श्री-निम्बार्क भगवान का प्राकट्य श्रीशङ्कराचार्यके पश्चात् मानते हैं। श्रीशङ्कर के पूर्ववर्त्ती श्रीगौडपादाचार्य गौडपादीय कारिका के अद्वैताख्य तृतीय प्रकरणमें लिखते हैं—

"अद्वैतं परमार्थो, हि द्वैतं तद्भेद उच्यते। तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्ध्यते॥ "तेषामुभयथा द्वैतं" इस वाक्य से ज्ञात है कि द्वैताद्वैत सिद्धान्त गौडपाद से प्रथम का है, यदि द्वैताद्वैतसिद्धान्त प्राचीनतर न होता तो वे (गौडपादाचार्य) किस प्रकार उसका उल्लेख करते। अतः अन्यथानुपपत्ति प्रमाणके द्वारा द्वैताद्वैतप्रवर्त्तक श्रीमदाद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रका प्राचीनतमत्व सिद्ध होताहै।

कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि श्रीशङ्कराचार्यजीने जिस द्वैताद्वैत (भेदाभेद) सिद्धान्तका खण्डन किया है वह श्रीभास्करभट्ट का औपाधिक भेदाभेद सिद्धान्त है, श्रीनिम्बार्काचार्य्यजीका स्वाभाविक भेदाभेद नहीं। इसका उत्तर यह है कि श्रीशङ्कराचार्य के पहले श्रीभास्करभट्टका अस्तित्वही नहीं था क्योंकि भास्करभट्ट ने शङ्कराचार्य के मायावाद का (स्वरचित ब्रह्मसूत्र-भाष्यमें) खण्डन किया है। तथा प्रारम्भके द्वितीय श्लोक मेंही कहाहै—

सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये॥

सर्व प्रथम श्रीनिम्बार्क भगवान् नेही ब्रह्मसूत्रका संक्षिप्त भाष्य लिखा है क्योंकि अन्यान्य भाष्यकारों का जन्म श्रीनिम्बार्क भगवान् के पश्चात् ही हुवा है।

"श्रीनिम्बार्को भगवानेवमौदुम्बराभिधम्।
अनुगृह्य ऋषेरादौ जगाम बदरीश्रमम्॥

निवसन्तत्र व्यासेन साकञ्च कतिचित्समाः।
चकार ब्रह्मसूत्रस्य व्याख्यानं प्रथमं प्रभुः॥

बहुत क्या लिखूं। अंग्रेजीशिक्षासे मोहान्ध आधुनिक विद्वन्नामधारी लोग जो शङ्कराचार्यका अस्तित्व श्रीनिम्बार्क भगवान् से पूर्व मानते हैं, वे यातो अपने कथनको सप्रमाण सत्य सिद्ध करें अन्यथा उनका कथन उन्मत्त प्रलापही समझा जायगा।

ग्रन्थरचना॥

श्रीमन्निम्बार्काचार्य्यकृत जिन ग्रन्थोंका अब तक संधान लगा है उनका विवरण नीचे लिखा जाता है।

१-"वेदान्त पारिजात सौरभ" नामक ब्रह्मसूत्रवाक्यार्थ।

२-"वेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी" (जिसके ऊपर श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजीने वेदान्तरत्नमञ्जूषा नामक विस्तृत संस्कृतटीका लिखी है। एवं अन्यान्य टीकायें भी बनी हैं।)

३-"रहस्य-षोडशी" (श्रीगोपालमन्त्रकी सुन्दर व्याख्या)-जिसके ऊपर श्रीश्रीसुन्दरभट्टजीने मन्त्रार्थरहस्य नामक सुन्दरविस्तृत टीका लिखी है।

४-"सदाचार-प्रकाश" नामक कर्मयोग-ग्रन्थ।

५-"प्रपत्ति चिन्तामणि" नामक भगवत्प्रपत्तिविषयक ग्रन्थ।

६-"श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य।"

७-"प्रातः स्तवम्" (प्रातः उठकर पाठकरनेका स्तोत्र)।

उपरिलिखित ग्रन्थों में से प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय संख्यक ग्रन्थ संस्कृत भाष्यों सहित मुद्रित हो चुके हैं शेष ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध हैं केवल 'सदाचार प्रकाश' के कतिपय पत्रा बङ्गदेशस्थ अरुणघटा नामक स्थान में उपलब्ध हुये हैं।

श्रीमन्निम्बार्क विरचित वेदान्त पारिजातसौरभ (ब्र० सू० भाष्य) यद्यपि अत्यन्त संक्षिप्त है तोभी उसकी संस्कृत सरल, लम्बे समासोंसे रहित होने के कारण अत्यन्त प्राचीन शैलीकी है, एवं श्रीकौस्तुभभाष्य की संस्कृत भी अत्यन्त सरल तथा प्राचीन ढङ्ग की है। इन बातों से भी भाष्यद्वय की प्राचीनता सिद्ध होती है, एवं यह भाष्य सरल और विस्तृत खण्डनमण्डन से रहित होने के कारण मुमुक्षुवों को परमोपयोगी है।

श्रीमद्भगवन्निम्बार्कपादपद्माश्रित श्रीश्रीनिवासाचार्य्यजी ने ब्रह्मसूत्र का वेदान्त-कौस्तुभनामक भाष्य निर्म्माण किया है, इसका कारण यह ज्ञात होता है कि श्रीमद्वेदान्त-पारिजात-सौरभ अत्यन्त संक्षिप्त होने से गम्भीराशय है अतः अल्पमति कलियुगीजीवों के उपकारार्थ श्रीश्रीनिवासाचार्यजी ने (श्रीमन्निम्बार्क भगवान् की आज्ञा से) पा० सौरभ की अपेक्षा अत्यन्त सरल तथा अधिक विस्तृतव्याख्या करके उसका 'वेदान्त-कौस्तुभ' नाम रक्खा।

श्रीश्रीनिवासाचार्य्यजीने अपने वे० कौस्तुभनामक ब्रह्मसूत्रभाष्य में मायावाद सिद्धान्तका नामोल्लेखभी नहीं किया है जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि द्वैताद्वैत सिद्धान्त उपर्य्युक्त मायावाद से अत्यन्त प्राचीन है। यदि मायावादसिद्धान्त श्रीश्रीनिवासाचार्य्यजीके समय में प्रचलित होता तो श्रीआचार्य्यप्रवर अवश्य उसका निराकरण करते। इधर मायावाद आदि सिद्धान्तों के प्रवर्त्तकाचार्य्योंने अपने ग्रन्थोंमें द्वैताद्वैत सिद्धान्तके खण्डन का निष्फल प्रयत्न किया है इससे भी उसकी (द्वैताद्वैत की) प्राचीनता स्पष्ट सिद्ध होती है। यदि यहां पर इतर सम्प्रदायाचार्य्योंके ग्रन्थों से (द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद के खण्डन विषयक) उद्धरण लिखने लगें तो बहुत विस्तार हो जायगा, अतएव केवल एक उद्धरण देकर यह प्रसङ्ग समाप्त किया जाता है। बृहदारण्यके माध्वभाष्ये-

भेदाभेदसमुद्दिष्टो विनाशो यत्र दृश्यते।
एकस्मिन्विद्यमानोऽपि तयोरेकस्य कस्यचित्॥
अविनाभावनियमो यत्राभेदस्तु तत्र हि।
अभेदश्च स्वभिन्नेन भेदाभेदस्तु तत्र च॥
भेदाभेदौ न तु क्वापि विष्णोरस्ति कदाचन।
भेद एव तु जीवाद्यैः केवलाभेद आत्मनि॥ (अ० ३।५)

श्रीश्रीनिवासाचार्य्यजी श्रीनिम्बार्कभगवान् के पट्टशिष्यथे और श्रीनिम्बार्कभगवान् का (प्राकट्य) समय द्वापरान्तमें निर्द्धारित किया जाचुका है, अतः श्रीश्रीनिवासाचार्य्यजीके समयनिरूपणकी विशेष आवश्यकता नहीं है, केवल इतना ही लिखना पर्य्याप्त होगा कि युधि० सं० ८८४ में श्रीकौस्तुभभाष्यकार इस धराधाममें वर्त्तमानथे।

अस्तु यह ग्रन्थ (भाष्यद्वयोपेत-ब्रह्मसूत्र) जगद्विजयी श्रीकेशव-

काश्मीरिभट्टविरचित वे० कौस्तुभ-प्रभासहित देवकीनंदन प्रेस से प्रायः २७ वर्ष पहले "भाष्यत्रयोपेतं श्रीब्रह्मसूत्रम्" नामसे वर्त्तमानके महन्त श्रीमन्मधुसूदनशरणदेवजीके साहाय्यसे वंशीवट निवासी श्री० पं० किशोरदासजी द्वारा प्रकाशित हुवा था परन्तु सम्प्रति यह ग्रन्थ अप्राप्य है । अतः अस्मदाचार्य परमपूज्य महन्त पण्डित श्री १०८ श्री श्रीकल्याणदासजी महाराजने इसको (भाष्यत्रयोपेत ब्रह्मसूत्रको) पुनः प्रकाशित करानेकी इच्छा से इसकी एक कापी (प्रेसमें देनेके लिये) प्रस्तुत करनेकी (कार्तिक सं० १९८८ वि० में) मुझे आज्ञा दी । इस आज्ञाको सादर शिरोधार्य करके मैंने फाल्गुन में कापी लिख कर तैयार करदी ।

अब यह ग्रन्थ मुद्रित होकर पाठकों के समक्ष उपस्थित है । यद्यपि श्रीगुरुवर्य्यकी तथा मेरी यह हार्दिक अभिलाषा थी कि ग्रन्थ अत्यन्त शुद्धरूपमें प्रकाशित हो तोभी दृष्टिदोषसे कतिपय स्थलोंमें पाठ छूट जानेसे अशुद्धियां रह गई हैं, अतः पाठकों की सुविधा के लिये शुद्धाशुद्धपत्र भी पुस्तकान्त में प्रकाशित कर दिया गया है और पाठकों से निवेदन है कि वे प्रथम शुद्धाशुद्ध-पत्र की सहायता से ग्रन्थ को शुद्ध करके पश्चात् उसका अध्ययन करें तथा प्रकाशकका परिश्रम सफल करें । यदि इस ग्रन्थको पाठकोंने अपनाया तो वे० कौस्तुभ-प्रभाको भी प्रकाशित करने की चेष्टा की जायगी । किमधिकं विज्ञेष्वलमिति विस्तरेण ।

भाद्रशुक्ला
श्रीराधाष्टमी
सं० १९८९ वि०
श्रीवृन्दावन धाम
पानीघाट ॥

श्री १०८ पं० कल्याणदासपाद-
पद्माश्रितो राधिकादासः ।
[पानीघाट] वृन्दावन
वास्तव्यः ॥

ॐ श्रीमद्राधागोपालाभ्यां नमः ।

श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्राय नमः ।

श्रीब्रह्मसूत्रम् ।

भाष्यद्वयोपेतम् ।

श्रीश्री भगवन्निम्बार्कविरचित वेदान्तपारिजात सौर भाष्यब्रह्मसूत्रवाक्यार्थः ।

सू॰ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा १ । १ । १ ॥

अथाधीतषडङ्गवेदेन कर्मफलक्षयाक्षयत्वविषयकविवेकप्रकारकवाक्यार्थजन्यसंशयाविष्टेन तत एव जिज्ञासितधर्ममीमांसाशास्त्रेण तन्निश्चितकर्मतत्प्रकारतत्फलविषयकज्ञानवता कर्मब्रह्मज्ञानफल(यो:) सान्तत्वसातिशयत्वनिरतिशयत्वविषयकव्यवसायजातनिर्वेदेन भगवत्प्रसादेप्सुना तद्दर्शनेच्छालम्पटेनाचार्यैकदेवेन श्रीगुरुभक्त्येकहार्देन मुमुक्षुणाऽनन्ताचिन्त्यस्वाभाविकस्वरूपगुणशक्त्यादिभिर्बृहत्तमो यो रमाकान्तः पुरुषोत्तमो ब्रह्मशब्दाभिधेयस्तद्विषयिका जिज्ञासा सततं सम्पादनीयेत्युपक्रमवाक्यार्थः॥ १॥

श्रीश्रीनिवासाचार्यविरचित वेदान्तकौस्तुभाख्य-ब्रह्मसूत्रभाष्यम् ।

श्रीहंसं सनकादीन्देवर्षिं निम्बभास्करञ्च भजे ।
कृपयैषां श्रीकृष्णे परमात्मनि नो भवतु भक्तिः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णपादयुगलं शिरसा नमामि,
यत्रान्वितः श्रुतिगणो न विरोधमेति ।
यद्ध्यानयोगनिरताश्च यदाप्नुवन्ति
केशेन्द्रवन्द्यमनिशं मनसा गिरा च ॥ २ ॥

इह खलु सर्वेश्वरः सर्वात्मा सर्वजगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपो भगवान् पुरुषोत्तमः श्रीवासुदेवः पाराशर्य्यात्मना नानाकुतर्कविमोहितान् जीवान्वीक्ष्य तेषु स्वज्ञानभक्ती द्रढयितुं निःसंशयतया परब्रह्मप्रतिपत्तये शारीरकमीमांसाख्यं वेदान्तशास्त्रं सूत्रयामास । अथ श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकः परमकारुणिको मुमुक्ष्वनुग्रहाय भगवान् श्रीमन्निम्बार्कस्तद्व्याख्यानं शारीरकमीमांसावाक्यार्थरूपेण वेदान्तपारिजातसौरभाख्यमतिगूढं कृतवान् । अथ तु तदाज्ञया तदुक्तवर्त्मना तदनुग्रहक्रमेण तच्छिष्येण मया मृदुमितपदो वेदान्तकौस्तुभस्तद्भावार्थप्रकाशको विदुषामुपकाराय विरच्यते । ननु धर्मजिज्ञासयैवेष्टसिद्धौ किं ब्रह्मजिज्ञासयेत्यत्र धर्मस्यानित्यफलदत्वान्निरतिशयानन्तानन्दप्राप्तये तज्जिज्ञासा कर्त्तव्येत्युच्यते ।

अत्राथशब्दः आनन्तर्य्ये, नचार्थान्तरे, पूर्वनिर्वचनाभावात् । न च "ओङ्कारश्चाथशब्दश्च, द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ॥

कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ"-

वितिवचनादिह मङ्गलार्थ इति वाच्यम् । अस्य शास्त्रस्य शब्दतोऽर्थतश्च मङ्गलरूपत्वेन मङ्गलान्तरनिरपेक्षत्वात् । श्रुत्यैव मङ्गललाभाच्च । एवमन्येषामप्यथशब्दार्थानामधिकारादीनामिहानुपयोगाच्च । किञ्चार्थविशेषविवक्षया पठितः शब्दोऽर्थान्तरे प्रयोक्तुमशक्यः । आनन्तर्य्यमस्येह विवक्षितोऽर्थः । अत इत्यस्य पूर्ववृत्तपरामर्शित्वात् । तस्मादथशब्द आनन्तर्य्यार्थक एव । अत इतिशब्दो हेत्वर्थः ।

"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, शब्दब्रह्मपरं च यत्, शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छती"-त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यां शब्दब्रह्मनिष्ठगम्यं वक्ष्यमाणलक्षणं तत्त्वं

ब्रह्मशब्दवाच्यम् । जिज्ञासाशब्द इष्यमाणब्रह्मज्ञानेच्छावाचकः । यद्यप्यथानन्तरमतो हेतोर्ब्रह्मजिज्ञासा जायते इति क्रियापदाध्याहारोऽपि युज्यते, प्रेक्षावतां विशिष्टेऽर्थे स्वतो जिज्ञासासम्भवात् । तथापि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः स विजिज्ञासितव्य"इत्यादिविषयवाक्यसारूप्यात्कर्तव्येत्यध्याहृतेन विध्यर्थकपदेनाऽन्वयो बोध्यः । "मुमुक्षुर्भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येदिति" श्रुत्यनुसारि मुमुक्षुपदं तृतीयान्तमाक्षिप्यते इति पदयोजना । तत्राथानन्तरमिति धर्मजिज्ञासाविषयभूतधर्मस्वरूपतत्साधनतदनुष्ठानप्रकारतत्फलविषयकज्ञानानन्तरम् "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इति विधीयमानसंस्कारादिपूर्वकं साङ्गं वेदमधीत्य तत्र कर्मफलस्य क्षयाक्षयत्वविधायकानि "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति । अपाम सोमममृता अभूम । यत्र नोष्णं न च शीतं स्याच्च ग्लानिर्नाप्यरातय" इत्यादीनि, "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते । अन्तवदेवास्य तद्भवति । नह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवम् । नास्त्यकृतं कृतेन । प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा" इत्यादीनि परस्परविरुद्धप्रकारकाणि वाक्यानि सामान्यतो दृष्ट्वा जातसंशयो विशेषतो निर्णेतुमनीशस्तन्निवृत्तये धर्मजिज्ञासायां प्रवृत्तस्तया सम्यङ्निर्णीतकर्मस्वरूपतदनुष्ठानप्रकारतत्फलकस्तथाभूतज्ञानमापद्यते । तदनन्तरमित्यर्थः । अतो हेतोरिति कर्मफलस्य सान्तत्वसातिशयत्वनिश्चयात् "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोक" इति श्रुतेः, "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने"ति स्मृतेश्च । ब्रह्मज्ञानस्य च निरतिशयानन्तफलकत्वनिश्चयात्, "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था

विद्यतेऽयनाय । यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः, तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति । ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् । अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं मध्ये आत्मनि संस्थितम्, तं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये । बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः । ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छती"त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । "यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः । असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः, तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जना" इत्यादिश्रुतिभ्यः अनात्मज्ञस्य कृपणत्वात्मघ्नत्वादियोगनिन्दाश्रवणाच्च ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति यावत् । केनेत्यपेक्षायां एभ्यो हेतुभ्यः कर्मफलादौ जातनिर्वेदेन श्रीभगवद्दर्शनस्य मोक्षासाधारणकारणत्वं श्रुत्वा तज्जन्यव्यवसायजन्यदिदृक्षाग्रहगृहीतेन श्रीपुरुषोत्तमप्रसादैकेप्सुना आचार्यैकदेवेन गुरूपसन्नेन गुरुभक्त्येकहार्देन मुमुक्षुणेत्यन्वेति । "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायात् । यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः । पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति । भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् । तमक्रतुं पश्यति वीतशोकः । धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः । श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्, तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् । आचार्यदेवो भव । यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ, तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन" इत्यादिश्रुतिभ्यः । ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा, ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी "कर्तृकर्मणोः कृती"ति शास्त्रात् । ब्रह्मजिज्ञासेति कर्मषष्ठ्या समासः "कृद्योगा च षष्ठी समस्यते" इत्युक्तेः । ब्रह्म चाचिन्त्यानन्तनिरतिशयस्वाभाविकबृहत्तमस्वरूपगुणाद्याश्रयभूतः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वेश्वरः सर्वकारणरूपः समानातिशयशून्यः सर्वव्यापकः सर्ववेदैकवेद्यः श्रीकृष्ण एव "बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म" । "यः सर्वज्ञः सर्ववित्, परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । एष सर्वेश्वरः, तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, तं देवतानां परमञ्च दैवतं, न तस्य कार्यं करणं च विद्यते । न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः । एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत् । अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते । मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! । वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । तद्विषयकमेव ज्ञानं तथाभूतेष्यमाणज्ञानविषयिकेच्छेत्यर्थः । तथाच श्रूयते—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्यादि बृहदारण्यके । "भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य" इति छान्दोग्ये च । अरे मैत्रेयि ! आत्मा द्रष्टव्यः । अत्र तव्यप्रत्ययः अर्हार्थक एव, "अर्हे कृत्यतृचश्चे"ति सूत्रात् । ब्रह्मसाक्षात्कारस्य "भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे । निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति । अस्य महिमानमिति वीतशोकः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर"मित्यादिवाक्यैर्मोक्षा-

न्तरङ्गोपायतया सिद्धत्वेन विधेयत्वाभावात् । तथाच वाक्यान्तरप्राप्तं ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं मोक्षासाधारणोपायं दर्शनमुद्दिश्य, तदन्तरङ्गोपायभूतंनिदिध्यासनमत्र विधीयते । तदेव ध्यानज्ञानपराभक्तिध्रुवास्मृत्यपरपर्य्यायभूतं ज्ञानशब्देन सूत्रयामास भगवान्बादरायणः, सूत्रविषयवाक्ययोरेकार्थत्वनियमात् । तत्रापि विषयवाक्यस्य मूलरूपत्वेन स्वतः प्रामाण्याद्बलीयस्त्वं तदनुसारेणैव सूत्रार्थो नेयः, अन्यथा तयोर्विषयविषयिभावानुपपत्तेः । श्रवणमननयोर्निदिध्यासनोपायत्वेन विनियोगः, तयोरपि परम्परया मोक्षसाधनोपायत्वात् । तत्र वेदान्तवाक्यानां भगवत्स्वरूपगुणादिप्रतिपादनपरत्वं निश्चित्य, तत्प्रतिपाद्यं ध्येयस्वरूपादिकं साक्षात्पश्यत आचार्यस्य मुखात्तदनुभूतवाक्यार्थस्य ग्रहणं श्रवणम् । श्रुतस्य चोपदिष्टार्थस्य स्वानुभवविषयीकरणाय शास्त्रानुकूलयुक्तिभिर्विचारविशेषो मननम् । मननविषयस्यार्थस्य साक्षात्कारासाधारणसाधनमनवरतध्यानं निदिध्यासनम् । तथाचोक्तलक्षणश्रवणादिसाध्यनिदिध्यासनस्यात्यन्ताप्राप्तत्वादपूर्वविधिरेवायमिति बोध्यम् । भूमेत्यस्य व्याख्या तु भूमेति सूत्रव्याख्याने द्रष्टव्या । फलितार्थस्तु अनादिबद्धेन जीवेन दैवाज्जन्मसमये मधुसूदनावलोकितेनानुष्ठितसाधनकदम्बेनोपासितगुरुचरणेन वेदान्तवेद्यब्रह्मश्रवणमनननिदिध्यासनैर्लब्धतद्दर्शनेन मुमुक्षुणा मुक्तिः सम्पादनीयेति । मुक्तिः कार्यकारणप्रकृतिरूपबन्धनिवृत्तिपूर्विका भगवद्भावापत्तिः "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसम्पद्यत" इति श्रुतेः, "तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् । अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ती"त्यादिसूत्रेभ्यश्च. "निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणा । भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता । मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते । बहवो ज्ञानतपसा

पृता मद्भावमागता" इत्यादिस्मृतिभ्यः । भावपदं च स्वयमेव व्याख्यातं श्रीमुखेन—"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता" इति, एतत्फलाध्याये निपुणं वक्ष्यामः ।

अथ किमात्मको मुमुक्षुः किमात्मकं च तद्बन्धनमित्याकाङ्क्षायां मुमुक्षूणां सुखेन शास्त्रप्रवेशाय च शास्त्रतत्त्वं विचार्यते । तत्त्वं तावत्त्रिविधम्–चिदचिद्ब्रह्मभेदात् । सूत्रेणापि जिज्ञास्यं जिज्ञासुस्तदज्ञानमूलभूता त्रिगुणाऽर्था माया चेति तत्त्वत्रयस्योक्तत्वात् , अन्यथा जिज्ञासानुपपत्तेः । "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे तत् । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते, उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च । तत्राचिद्वर्गभिन्नो ज्ञानस्वरूपो ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिधर्मकोऽहमर्थरूपो भगवदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकोऽणुपरिमाणकः प्रतिशरीरं भिन्नो बन्धमोक्षार्हश्चित्पदार्थः । यथाहुः "ज्ञानस्वरूपञ्च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम् । अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः । अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात् । मुक्तञ्च भक्तं किल बद्धमुक्तं प्रभेदबाहुल्यमथापि बोध्य"मिति । "तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः । यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव । एवम्वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव । अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति । अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा । अथ योऽयं वेद जिघ्राणीति स आत्मा कतमः, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः, पुरुष एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः । नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वान्नहि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्नहि मन्तुर्मतेर्विपरि-

लोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । विज्ञातारमरे केन विजानीयात् । जानात्येवायं पुरुषः, न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नोत दुःखतां, स उत्तमः पुरुषो नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् । एवमेव परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति । यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ! । ज्ञोऽत एव कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् । अहं वै त्वमसि देवते सोऽहं ब्रह्मास्मीति मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । स एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते । स कारयेत्पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवानीशिताऽपि । जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः । अणुर्ह्येष आत्माऽयं वा एते सिनीतः पुण्यं पापम् । वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च, भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते । बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः । उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् । नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् । तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् । नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । अंशो नानाव्यपदेशात् । अस्ति खल्वन्यो परो भूतात्मा योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिना यस्य सम्मूढत्वादात्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारञ्चापश्यद्गुणैः सूप्यमानः कलुषीकृतश्चेति । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः । निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति । न स पुनरावर्त्तते । अनावृत्तिः शब्दा''दित्यादीनि श्रुतिसूत्राणि । अचित्पदार्थस्त्रिविधः–प्राकृताप्राकृतकालभेदात् । यथाहुः—"अप्रा-

कृतं प्राकृतरूपकञ्च कालस्वरूपं तदचेतनम्मतम्, मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र"ति । तत्र गुणत्रयाश्रयभूतं द्रव्यं प्राकृतं, तच्च नित्यं परिणामादिविकारि च, "गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोः । अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपा" इत्यादिश्रुतिभ्यः । "त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम् । अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया, त्रिगुणं कर्मणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च । "तदधीनत्वादर्थवत् । चमसवदविशेषात् । ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके" इत्यादिसूत्रेभ्यः । गुणाश्च सत्त्वरजस्तमांसि । तदेव हि स्वगुणैः क्षेत्रज्ञानां देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिरूपेण परिणतं सञ्जीवबन्धनहेतुर्मोक्षप्रतिबन्धकतया चोच्यते । महदादिब्रह्माण्डान्तस्य जगतः कारणीभूतं च तत्कार्यं चानित्यं बोध्यम् । अथाप्राकृतं नाम त्रिगुणप्रकृतिकालात्यन्तभिन्नमचेतनञ्च प्रकृतिमण्डलभिन्नदेशवृत्तिनित्यविभूतिविष्णुपदपरमव्योमपरमपदब्रह्मलोकादिपदाभिधेयम् "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् । योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् । तद्विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः । विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः, सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् । अकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि । न स पुनरावर्त्तते । अनावृत्तिः शब्दात्" इत्यादिश्रुतिसूत्रेभ्यः । "यमाहुः सर्वभूतानां प्रकृतेः प्रकृतिं ध्रुवाम् । अनादिनिधनं देवं प्रभुं नारायणं हरिम् । ब्रह्मणः सदनात्तस्य परं स्थानं प्रकाशते । देवाश्च यं न पश्यन्ति दिव्यं तेजोमयं पदम् । अत्यर्कानलसन्दीप्तं स्थानं विष्णोर्महात्मनः । स्वयैव प्रभया राजन्दुष्प्रेक्ष्यं देवदानवैः । यतयस्तत्र गच्छन्ति देवं नारायणं हरिम् ।

वरेण्यं तपसा युक्ता भाविताः कर्मभिः शुभैः । योगसिद्धा महात्मानस्तमोमोहविवर्जिताः । तत्र गत्वा पुनर्नेमं लोकमायान्ति भारत ! । स्थानमेतन्महाराज ! ध्रुवमक्षयमव्ययम् । ईश्वरस्य सदा ह्येतत्प्रमाणं च युधिष्ठिर ! । ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदम् । शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति यद्विदुः । ज्ञानविज्ञानिनः केचित्परं पारं तितीर्षवः । अतीव तत्पदं पुण्यं पुण्याभिजनसम्भृतम् । यत्र गत्वा न शोचन्ति न च्यवन्ति व्यथन्ति च ॥ ते तु तद्ब्रह्मणः स्थानं प्राप्नुवन्तीह सात्वताः ।" इत्यादिमहाभारतस्थश्लोकेभ्यश्च । तत्रैव गीतासु "मत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वत"मिति भगवद्वचनाच्च । तच्च भगवदीयानादिसङ्कल्पात्तस्य तदीयानां नित्यमुक्तानां च भोग्यादिरूपेणानेकरूपं परिणामादिविक्रियानर्हं च कालातीतत्वात् "कलामुहूर्त्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः । तवाष्टगुणमैश्वर्यं नाथ ! स्वाभाविकं पर"मित्यादिवचनात् । अथ प्राकृताप्राकृतोभयभिन्नाचेतनद्रव्यविशेषः कालो नित्यो विभुश्च "अथ नित्यानि ह वै पुरुषः प्रकृतिः काल" इत्यादिश्रुतेः । "सदेव सौम्येदमग्र आसादि"ति श्रुतौ सृष्टेः प्राक् अग्रशब्दवाच्यस्य कालस्य सत्यत्वश्रवणाच्च । "अनादिर्भगवान्कालो नान्तोऽस्य द्विज ! विद्यते । न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते" इत्यादिस्मरणाच्च । स च भूतभविष्यद्वर्त्तमानयुगपच्चिरक्षिप्रादिव्यवहारासाधारणहेतुः, सृष्ट्यादिसहकारी च, परमाण्वादिपरार्द्धावसानव्यवहारासाधारणकारणश्च । तस्य च पुराणेषु प्रसिद्धत्वान्नात्र विस्तरः । सर्वमपि प्राकृतं वस्तु कालतन्त्रम्, कालस्य सर्वनियामकत्वेऽपि परमेश्वरनियम्यत्वमेव, "ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः" इतिश्रुतेः । ब्रह्मपदार्थस्तु पूर्वं

न्युत्पादितः, वक्ष्यमाणजगत्कर्तृत्वादिगुणगणनिलयः परब्रह्मनारायणवासुदेवादिशब्दाभिधेयः श्रीकृष्णः । यथाहुः "स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् । व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥" इति । चिदचिद्रूपपदार्थानां तत्तत्प्रकरणपठितैस्तत्तद्गुणस्वरूपादिविशेषत्वबोधकैर्वाक्यैरितरेतरवैलक्षण्यमुपदिश्यते । "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । तत्त्वमसि । अयमात्मा ब्रह्म । सर्वं खल्विदं ब्रह्म । त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते । तदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मि" इत्यादिवाक्यैश्च चिदचितोर्ब्रह्मतादात्म्यमुपदिश्यते । एवं चोभयविधवाक्यानां स्वार्थे प्रामाण्यात् चिदचितोर्भिन्नस्वरूपयोरपीन्द्रियाणां भिन्नस्वरूपाणामपि "न वै वाचो न चक्षूंषि न मन इत्याचक्षते प्राण इत्येवाचक्षते" इति छान्दोग्ये प्राणेन्द्रियसम्वादे प्रसिद्धानां प्राणायत्तत्वादेव प्राणाभिन्नत्ववद्ब्रह्मायत्तस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वेन ब्रह्माभिन्नत्वाच्चिदचिद्भिन्नाभिन्नं जिज्ञास्यं ब्रह्म सूत्रकाराभिमतम् । अत एव तत्त्वद्वयजिज्ञासाकाङ्क्षा नास्ति, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा च सूपपन्ना । यथाहुः "सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः । ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपताऽपि श्रुतिसूत्रसाधिता ॥" इति । "अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके । उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् । प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वादि"त्यादीनि सूत्राण्यनुसन्धेयानि । विशेषविस्तरस्त्वग्रे द्रष्टव्यः । श्रुत्यर्थनिर्णायकस्यास्य सूत्रस्योपोद्घातरूपत्वात् शास्त्रे प्रेक्षावत्प्रवृत्तयेऽनुबन्धा अप्यनेनार्थादुक्ताः । ते चाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनाख्याः । तत्रोक्तलक्षणो मुमुक्षुरिहाधिकारी । विषयश्चास्य ब्रह्मादिशब्दा-

भिधेयः सर्वज्ञः स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तयावदात्मवृत्तिगुणश-क्त्याद्याश्रयो ब्रह्मरुद्रेन्द्रप्रकृतिपरमाणुकालकर्मस्वभावादिनियन्ता दोषास्पृष्टसीमा चिदचित्स्वाभाविकभेदाभेदाश्रयो भगवान्वासुदेवः श्रीपुरुषोत्तमः । विषयविषयिभावलक्षणः सम्बन्धः । श्रीभगवद्भावापत्तिलक्षणो मोक्षोऽत्र प्रयोजनम् ॥ १ ॥ (इति जिज्ञासाधिकरणम्) ॥ १ ॥

(वे०पा०सौ०) तल्लक्षणापेक्षायां सिद्धान्तमाह—

सू० जन्माद्यस्य यतः १ । १ । २ ॥

अस्याऽचिन्त्यविचित्रसंस्थानसम्पन्नस्यासंख्येयनामरूपादिविशेषाश्रयस्याचिन्त्यरूपस्य विश्वस्य सृष्टिस्थितिलया यस्मात्सर्वज्ञाद्यनन्तगुणाश्रयाद्ब्रह्मेशकालादिनियन्तुर्भगवतो भवन्ति, तदेव पूर्वोक्तनिर्वचनविषयं ब्रह्मेति लक्षणवाक्यार्थः ॥ २ ॥

(वे० कौ०) एवं निरुक्त्या बृहद्गुणशक्तिस्वरूपं श्रीकृष्णाख्यं ब्रह्म पूर्वाधिकरणे निर्णीतम्, इदानीं किं तल्लक्षणमित्याकाङ्क्षायां तदेव जगज्जन्मादिकर्तृत्वसार्वज्ञ्यसत्यत्वादिमत्त्वेन प्रतिपाद्यते ।

अत्रास्येतिशब्दो जगदाख्यकार्यपरः । यत इति च कारणवाचकः । पूर्वसूत्राद्ब्रह्मेति पदमनुवर्त्तते । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तच्छब्दाऽध्याहारः । जन्म आदिर्यस्य तदिदं जन्मादि सृष्टिस्थितिलयमोक्षम् । अत्र तद्गुणसंज्ञानो बहुव्रीहिः । यतो यस्मात्सर्वेश्वरात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः परमकारणात्सर्वनियन्तुर्भगवतः श्रीपुरुषोत्तमात् अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य विविधविभक्तभोक्तृसंयुक्तस्य नियतदेशकालफलोपभोगाश्रयस्य तर्कागोचररचनस्य सृष्टिस्थितिलयमोक्षाः प्रवर्त्तन्ते, तद्ब्रह्म त-

देव मुमुक्षुभिर्जिज्ञास्यमिति सूत्राक्षरयोजना । तथा च श्रुतयः "भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मे"त्युपक्रम्य, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्म । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"त्याद्याः । यतो यस्माच्छ्रीपुरुषोत्तमादिमानि महदादितृणान्तानि भूतानि जायन्ते इति सृष्टिरुक्ता, येन जातानि जीवन्तीति स्थितिरुक्ता, अभिसम्विशन्तीति लयो दर्शितः, यत्प्रयन्ति यं सर्वकर्मध्वंसानन्तरं प्राप्नुवन्तीति मोक्ष उक्तः । अत्र चेतनस्यानादिनिधनस्य देहादिसंयोगहेतुकविचित्रविज्ञानविकाशो जन्म, तत्संकोचपूर्वकः कारणप्रवेशः प्रलयः । एतच्च "चराचरव्यपाश्रय" इत्यादिसूत्रद्वयव्याख्याने स्फुटीभविष्यति । अचेतनांशस्य सृष्ट्यादौ रूपान्तरभावे मुख्यतेति विवेकः । द्वितीयवाक्यार्थस्तु सत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वधर्मवद्ब्रह्मेति । अत्र सत्यपदमसत्यस्य ज्ञानपदमचिद्वर्गस्यानन्तपदं जीववर्गस्य च व्यावर्त्तकम् । तथाच जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वे सति सत्यत्वादिमत्त्वं ब्रह्मलक्षणं सिद्धम् । परापरादिशब्दाभिधेयानां स्वस्वाभाविकीनां सूक्ष्मावस्थापन्नानां शक्तीनां तत्तद्गतसद्रूपकार्योणाञ्च स्थूलतया प्रकाशकत्वमुपादानत्वम् । स्वस्वानादिकर्मसंस्कारवशीभूतात्यन्तसङ्कुचितभोगस्मरणानर्हज्ञानधर्माणां चेतनानां कर्मफलभोगार्हज्ञानप्रकाशनेन तत्तत्कर्मफलतत्तद्भोगसाधनैः सह योजयितृत्वं निमित्तत्वम् । विषयवाक्यानुरूपा स्मृतिश्च "भृगुणाऽभिहितं शास्त्रं भारद्वाजाय पृच्छते" इत्युपक्रम्य, "स एष भगवान्विष्णुरनन्त इति विश्रुतः । सर्वभूतात्मभूतस्थो दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः । अहङ्कारस्य यः स्रष्टा सर्वभूतभवाय वै । यतः समभवद्विश्वं पृष्टोऽहं यदिहत्वये"ति मोक्षधर्मे । ननु श्वे-

ताश्वतरोपनिषदि "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्य"मिति बहूनि कारणान्युक्तानि, पुरुषोत्तमो वासुदेव एव जगतां कर्त्तेति निर्धारणे किं प्रमाणमिति चेच्छृणु "यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः । ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः । न यस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः । एको ह वै नारायण आसीत् । विष्णुस्तदासीद्धरिरेव निष्कलः । नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्रो जायते । एतस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत । एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः । एकोऽपि सन्बहुधा यो विभाति । क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् । आवां तवाङ्गसम्भूतौ तस्मात्केशवनामवान । अहं ब्रह्मा आद्य ईशः प्रजानां तस्माज्जातस्त्वं च मत्तः प्रसूतः । कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः । कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम् । वेदे रामायणे चैव भारते पञ्चरात्रके । आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते । अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! । अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तत" इत्यादिश्रुतिस्मृतिपूगो जगत्कारणनिर्धारणे मानम् । जगदुत्पत्त्यादिविषयेषु वाक्येषु कचिच्छ्रूयमाणाः हिरण्यगर्भादिशब्दा उक्तलक्षणब्रह्मपरा ज्ञेयाः । तस्मात्सर्वात्मा सर्वेश्वरः सर्ववेदैकवेद्यः श्रीकृष्णो जगतः कारणमिति सिद्धम् ॥ २ ॥ (इति जन्माद्यधिकरणम् ॥ २ ॥)

(वे०पा०सौ०) किंप्रमाणकमित्याकाङ्क्षायां सिद्धान्तमाह—

सू० शास्त्रयोनित्वात् । १ । १ । ३ ॥

शास्त्रमेव योनिस्तज्ज्ञप्तिकारणं यस्मिंस्तदेवोक्तलक्षणलक्षितं वस्तु

ब्रह्मशब्दाभिधेयमिति ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) एवं जिज्ञासासूत्रेण ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तं, लक्षणसूत्रेण च जगज्जन्मादिकारणत्वं सत्यत्वादिमत्त्वं ब्रह्मलक्षणमुक्तम्, इदानीं तत्र किम्प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां प्रमाणमुच्यते ।

उक्तलक्षणं ब्रह्मानुमानादिगम्यमुत वेदप्रमाणकमिति संशये, अनुमानादिगम्यं "यतो वाचो निवर्त्तन्त" इति ब्रह्मणो वागगोचरत्वश्रवणादिति पूर्वपक्षे, ब्रह्म नानुमानादिगम्यं किन्तु वेदप्रमाणकम् । कुतः ? शास्त्रयोनित्वात् । शास्त्रं वेदः योनिः कारणं ज्ञापकं प्रमाणं यस्मिंस्तच्छास्त्रयोनि तस्य भावस्तत्त्वं तस्माच्छास्त्रयोनित्वाच्छास्त्रप्रमाणकत्वात् । वेदैकप्रमाणकमेव ब्रह्मेति सिद्धान्तः। ननु लाघवाच्छास्त्रयोनीत्येव सुवचम् , तथाच शास्त्रयोनि वेदप्रमाणकम् ब्रह्मेतीष्टसिद्धिरिति चेन्न । नानुमानादिगम्यं ब्रह्म शास्त्रयोनित्वादितीतरप्रमाणविघातकहेतुनिर्देशात् । ननु नानुमानादिगम्यमिति कुतो लभ्यते इति चेत्, पूर्वोक्तकार्यत्वलिङ्गेन जगतः कर्तृजन्यत्वसाधकेनानुमानगम्यं ब्रह्मेति शङ्का जाता(१) तन्निवारणायार्थिकस्तत्पदलाभः "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति सर्वे वेदा यत्रैकीभवन्ति तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामः । नावेदविन्मनुते तं बृहन्त"मित्यादिश्रुतिभ्यः । "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । वेदे रामायणे चैव भारते पञ्चरात्रके । आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते । नमाम सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती"त्यादिस्मृतिभ्यश्च। ननु पृथिव्यादीनि सावयवानि भूतानि सकर्तृकाणि कार्यत्वात् घटादिवदित्यनुमानेनेतरस्य कारणत्वासम्भवाज्जगत्कारणात्मकब्रह्मसिद्धौ किं वेदे-

(१) जगत्कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत् इत्यनुमानं पूर्वसूत्रेण सूचितम्, तेनानुमानगम्यं जगत्कारणं किञ्चिदस्तीति शङ्का जाता ॥

नेति चेन्न । आकाशादिभूतोत्पत्तेर्वेदमन्तरेण केनापि ज्ञातुमशक्यत्वात्तन्निष्ठकार्यत्वस्यासिद्धत्वेन हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्। न च वेदद्वारा भूतोत्पत्तिर्ज्ञातव्या तया च तन्निष्ठकार्यत्वसिद्ध्या न स्वरूपासिद्धो हेतुरिति वाच्यम्। तथैव वेदादेव जगत्कारणे ब्रह्मणि विज्ञाते सति अनुमानवैयर्थ्यापत्तेः, अस्मत्पक्षप्रवेशाच्च। एवं क्षित्यङ्कुरादीनां प्रसिद्धानां कार्याणामपि कार्यत्वेन लिङ्गेन न ब्रह्मानुमातुं शक्यम्, भूबीजजलजीवादीनां तत्कारणत्वकल्पनासम्भवाददृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च।

अत्रेदं बोध्यम्। यत्र यत्र कार्यत्वं दृश्यते तत्तदनुरूपः क्षेत्रज्ञः कर्त्ताऽप्यनुमानेन साधयितुं शक्यः। कृत्स्नस्य तु विश्वस्य वेदं विना कार्यत्वमप्रसिद्धमतो जगत्कर्त्ताऽपि वेदादेव ज्ञातुं शक्यो नत्वनुमानसहस्रेण। न च प्रत्यक्षप्रमाणगम्यं ब्रह्म, तद्ग्रहणे हि साधारणानामिन्द्रियाणामसामर्थ्यात्। नेन्द्रियाणि नानुमानं, "नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठे"ति श्रुतेः। हे प्रेष्ठ! एषा ब्रह्मविषया मतिस्तर्केण न निरस्या। यद्वा न प्राप्तुं योग्या। अन्येन वेदविदा सर्वज्ञेनाचार्येण प्रोक्ता सुज्ञानाय भवतीत्यर्थः। "तर्काप्रतिष्ठाना"दित्यादिसूत्रात्। "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदि"ति मनुस्मृतेः। "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्। नाप्रतिष्ठिततर्केण गम्भीरार्थस्य निश्चय" इति महाभारताच्च। किञ्च सर्वज्ञैर्मन्त्रैः ऋषिभिश्च साकल्येन सर्वथाऽगम्यं दुर्बोधमचिन्त्यानन्तगुणशक्त्यादिमज्जगत्कारणं ब्रह्मानुमानादिवेद्यमिति कोऽनुन्मत्तो ब्रूयात्। न च "यतो वाचो निवर्त्तन्त" इत्यादिश्रुतीनां का गतिरिति शङ्क्यम्। तासामियत्तानवच्छिन्नं ब्रह्मेत्यर्थपरत्वात्। वक्ष्यति च "प्रकृतैतावत्त्वं ही"ति सूत्रे। शास्त्रस्य योनिः शास्त्रयोनीति विग्रहे-

ऽप्ययमेवार्थः, सर्वज्ञब्रह्मनिःश्वसितैरन्तरङ्गैर्वेदैरेव ब्रह्म वेद्यं, न बहिर्भूतैरन्यकल्पितानुमानादिभिरिति फलितोऽर्थः। अत्रास्य सूत्रस्य "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद" इतिवाक्यं विषयः। न चास्मिन्नर्थे वेदानां नित्यत्वहानिः, नित्यसिद्धानां निर्गमनमात्रस्वीकारात्, "वाचा विरूपनित्यया। अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः" इति श्रुतिस्मृतिभ्याञ्च। अनेन ब्रह्मणोऽप्राकृतो नित्यो विग्रहः सूचितः। प्राकृतसृष्टेः पूर्ववर्तिनो वेदस्य तन्निःश्वसितत्वात्। एतदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः। तत्सिद्धं वेदैकप्रमाणकं ब्रह्मेति ॥३॥ इति शास्त्रयोन्यधिकरणम् ॥३॥

(वे०पा०सौ०) ननु समस्तस्यापि वेदस्य क्रियापरत्वेन तद्भिन्नविषयकाणां वेदान्तवाक्यानामप्यर्थवादवाक्यानां तत्प्राशस्त्यप्रतिपादनद्वारा परम्परया विधिवाक्यैकवाक्यतावत् कत्वङ्गकर्तृप्राशस्त्यप्रतिपादनेन विध्येकपरत्वात् कथमिव शास्त्रैकप्रमाणकं ब्रह्मेति प्राप्ते राद्धान्तः—

सू० तत्तु समन्वयात्। १। १। ४॥

तज्जिज्ञास्यं विश्वकारणं शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्मैव न कर्मादि, तस्यैव प्रतिपादकतया कृत्स्नस्यापि वेदस्य समन्वयात्। मुख्यवृत्त्याऽन्वयः समन्वयस्तस्मात्। यद्वा वेदेषु तस्यैव प्रतिपादकतया समन्वयादिति संक्षेपः। न च कर्मणि तत्समन्वयो वक्तुं शक्यः, तस्य तु विविदिषोत्पादनेनैव नैराकाङ्क्ष्यात्। क्रत्वङ्गं ब्रह्मेति तु बालभाषितम्। तस्य सर्वकर्मकर्त्रादिकारकनियन्तृत्वेन स्वातन्त्र्याच्चफलदातृत्वाच्च, प्रत्युत कर्मैव विविदिषोत्पादनेन परम्परया तत्प्राप्तिसाधनीभूतज्ञानोत्पत्त्युपकारकत्वेन समन्वय इति निर्णीयते, विविदिषाश्रुतेः। ननु प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयकत्ववच्छब्दप्रमाणाविषयत्वस्यापि श्रुतिसिद्धत्वान्न शास्त्रैकप्रमेयं ब्रह्मेति प्राप्ते ब्रूमः। जिज्ञास्यं ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकमेव नान्यप्रमाणकम्,

समस्तश्रुतीनां साक्षात्परम्परया वा तत्रैव समन्वयात् । तत्र लक्षणप्रमाणादिवाक्यानां स्वत एव तद्विषयकत्वेन शाण्डिल्यपञ्चाग्निमधुविद्यादिवाक्यानां प्रतीकादिप्रकारकाणाञ्च परम्परया समन्वयः । यद्वा सर्वेषामपि वाक्यानां भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वेऽपि साक्षादेव ब्रह्मणि समन्वयः । तत्तद्वाक्यविषयाणां सर्वेषामपि ब्रह्मात्मकत्वाविशेषेण मुख्यवाच्यत्वात् । न चैवं विषयनिषेधपराणां बाधः शङ्कनीयस्तेषां ब्रह्मस्वरूपगुणादिविषयकेयत्तानिषेधपरत्वेन समविषयत्वात् । किञ्चात्र प्रष्टव्यो भवान्—शब्दाऽविषयं ब्रह्मेति वाक्यस्य वाच्यं ब्रह्माभिप्रेतं नवेति ! आद्ये वाच्यत्वसिद्धेरवाच्यत्वप्रतिज्ञाभङ्गः । द्वितीये सुतरां वाच्यतेति । तस्मात्सर्वज्ञः सर्वोनिन्त्यशक्तिविश्वजन्मादिहेतुर्वेदैकप्रमाणगम्यः सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासाविषयस्तत्रैव सर्वं शास्त्रं समन्वेतीत्यौपनिषदानां सिद्धान्तः ॥ ४ ॥

(वे०कौ०) एवं श्रीकृष्णस्य बृहद्गुणशक्त्याश्रयस्य जगदभिन्ननिमित्तकारणस्य वेदैकप्रमाणकत्वमुक्तम् । इदानीं तदेव द्रढयितुं सर्ववेदसमन्वयं तस्मिन्ब्रह्मणि सर्वेश्वरे दर्शयन् "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थाना"मिति वदता जैमिनिना सर्वोऽपि वेदः क्रियायां योजितोऽक्रियार्थानामानर्थक्यविधानाद्वेदान्तानामपि कर्त्रङ्गकर्तृशास्त्यप्रकाशनद्वारा क्रियायां समन्वयात्कथं वेदैकप्रमाणकं ब्रह्मेत्याक्षेपं निराकरोति ।

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । तत् जिज्ञास्यं जगत्कारणं ब्रह्मैव वेदैकप्रमाणकम्, कुतः? समन्वयात् । वेदेषु तस्यैव समन्वयात् । सम्यग्वाच्यतयाऽन्वयः समन्वयस्तस्मात् । सर्वस्य वेदस्य वा तस्मिन्मुमुक्षुजिज्ञास्ये जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणे शास्त्रयोनौ प्रधानक्षेत्रज्ञकालकर्मादिनियन्तरि ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिकिरीटेडितपादपीठे निखिलदोषगन्धाऽस्पृष्टमाहात्म्ये सार्वज्ञ्याद्यनन्तगुणनिलये

मुक्तोपसृप्ये ब्रह्मणि श्रीकृष्णे सम्यग्वाचकतयाऽन्वयस्तस्मात् । समन्वितश्च "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च । सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय । नारायणाज्जायते प्राणः नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्रो जायते । एको ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानः । ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत् । ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदाहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत्सर्वमभवत् । आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीत् । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति । सर्वे वेदा यत्रैकीभवन्ति । अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम् । यं सर्वे देवा नमन्ति । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । सर्वं खल्विदं ब्रह्म । य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः । यः सर्वज्ञः सर्ववित् । ब्रह्मविदाप्नोति परम् । ब्रह्मैवेदं सर्व"मित्यादिवाक्यकदम्बस्तत्रैव । ननु पञ्चप्रकारवाक्यसमुदायस्तावत्समस्तो वेदः, वाक्यानि च विधिनिषेधार्थवादमन्त्रनामधेयाख्यानि । तत्र "ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम" इत्यादि विधिवाक्यम् । "ब्राह्मणो न हन्तव्य"इत्यादि निषेधवाक्यम् । "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते"त्यादयोऽर्थवादाः । "इषे त्वा, अग्निर्मूर्द्धा दिव" इत्यादयो मन्त्राः । ज्योतिष्टोमाऽश्वमेधादीनि नामधेयानीति तेषां विवेकः । तथा चोपक्रमे "अथातो धर्मजिज्ञासे"ति सूत्रे वेदस्याध्ययनविधिकरणकभावनाविधिभाव्यफलवदर्थपरत्वमुक्तम् । "चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म" इति द्वितीये लक्षणसूत्रे धर्मे चोदना प्रमाणमिति (यत्र) कार्यपरत्वव्याप्यं वेदप्रामाण्यं तत्र कार्यपरत्वमिति व्याप्त्या निर्णीतम् । तत्र "वायुर्वै क्षेपि-

ष्टा देवते''त्यर्थवादानां धर्मे प्रामाण्यमस्ति नवेति संशये, पूर्वपक्षमाह—''आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थाना''मिति । वेदस्य क्रिया एवार्थो विषयः प्रतिपाद्यो यस्य स क्रियार्थस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्माद्धेतोरर्थवादानां प्रामाण्यं नास्ति । किं तर्हीत्याशङ्क्याह अतदर्थानामानर्थक्यमिति, न सा क्रिया अर्थो येषां ते अतदर्था अर्थवादादयस्तेषामानर्थक्यमर्थशून्यत्वमेवास्तु, तथैव वेदान्तानामपि, नहि ''स्वाध्यायोऽध्येतव्य'' इत्यध्ययनविध्युपात्तानां निष्फलब्रह्मपरत्वे प्रामाण्यं युक्तमिति प्राप्ते, सिद्धान्तमाह—''विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु''रिति। अर्थवादानां विधिवाक्यैरेकवाक्यत्वात्तद्विधेयार्थानां स्तुत्यर्थेन स्तुत्यर्थरूपेण द्वारेणार्थवादाः प्रमाणं स्युरिति । एवञ्च विधिनिषेधविधुराणां वेदान्तानां सिद्धार्थवस्तुबोधकानामपि मन्त्रार्थवादादिष्वेवान्तर्भावेणाध्ययनविध्युपात्तत्वात्सर्वथाऽऽनर्थक्यनिरासाय परम्परया साध्ये कर्मण्येवान्वयो युक्तः । स्वातन्त्र्याभ्युपगमे निष्फलत्वापत्तेस्तेषां क्रत्वङ्गकर्तृत्वप्रतिपादनेन नैराकाङ्क्ष्यम्बोध्यम् । तत्र तत्त्वंपदार्थपराणां वाक्यानां कर्मकर्तृदेवतास्तावकत्वं, तज्ज्ञानस्य च परविद्याख्यस्य फलस्तावकत्वं, वेदान्तवाक्यानि न ब्रह्मपराणि क्रत्वङ्गकर्तृप्राशस्त्यप्रकाशनपरत्वादर्थवादवाक्यवदिति चेन्न । स्वोत्प्रेक्षितकल्पनामात्रत्वात्, कर्मणो मोक्षोपायभूतविद्योत्पादकत्वेन परम्परया ब्रह्मण्येव समन्वयाच्च । ''तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेने'' त्यादिश्रुतेः । अत्र यज्ञेन विविदिषन्तीति अश्वेन जिगमिषतीतिवत् यदि यज्ञाख्यस्य करणस्य धात्वर्थेनान्वयस्तदा कर्मणो विद्यार्थत्वं तद्द्वारा ब्रह्मपरत्वञ्च ज्ञेयम् । यदि तु सन्प्रत्ययस्य प्राधान्यात्प्रत्ययार्थान्वयवशादिच्छार्थत्वं तदेच्छाद्वारा विद्याङ्गत्वं तद्द्वारा ब्रह्मपरत्वम्बो-

ध्यम् । विद्याङ्गत्वं कर्मणो वक्ष्यति च "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदि"ति । न च वेदान्तवेद्यं वस्तु क्रत्वङ्गमिति वक्तुं शक्यम् । तस्य सर्वकर्मकर्त्रादिकारकनियन्तृत्वेन स्वातन्त्र्यात् । न च वेदान्तानां विध्यङ्गत्वमर्थवादादिवद्वक्तुं शक्यम् । भिन्नप्रकरणपठितत्वाद्विधिसान्निध्याभावाच्च । नापि प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावरूपभूतार्थबोधकतया वेदान्तानां निष्फलत्वं वक्तुं शक्यम् । वेदान्तवेद्यब्रह्मज्ञानस्य मोक्षरूपपरमश्रेयःफलवत्त्वात् । नन्व"क्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिन" इत्यादिना कर्मणोऽपि तद्वत् फलश्रवणात्तत्र समन्वयो न दोषावह इति चेन्न । "यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोक" इत्यस्याः केवलकर्मजितो लोकोऽनित्यः कर्मकप्राप्यत्वात्कृष्यादिवदित्यनुमानानुगृहीतायाः "प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपा" इति श्रुत्यन्तरदृढीकृतार्थायाः श्रुतेः प्राबल्यात् , "अक्षय्यं ह वै चे"त्यादिश्रुतेर्दौर्बल्याद्दुर्बलवाक्यार्थे कर्मणि तत्समन्वयस्यानौचित्याच्च । "एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ब्रह्मविदाप्नोति पर"मित्यादिश्रुत्युक्तोऽर्थस्तु न केनापि वेदवचनेन विरुद्ध्यते । नच शक्यश्चालयितुमनुमानशतैः । न च अक्षय्यमिति श्रुत्यर्थबाधः, तस्या आपेक्षिकार्थपरत्वात् , "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन! । मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते" इति वेदपर्य्यायभूतायाः श्रीभगवत्स्मृतेरुभयत्र प्रामाण्याच्च । ननु स्यादेतदुपनिषद्भागस्य कथञ्चिद्ब्रह्मपरत्वं तत्र तथात्वदर्शनात्पूर्वभागस्य तु "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति । ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम"इत्यादिना नित्यकाम्यादिकर्मविधायकत्वेन निराकाङ्क्षत्वश्रवणात्कथं ब्रह्मपरत्वमिति चेन्न । कृत्स्नस्यापि वेदस्य ब्रह्मपरत्वमेव, कर्मादौ तस्य केनचिदंशेन कथञ्चिदन्वयदर्शनेऽपि समन्वयस्तु ब्रह्मण्येव । तत्रोपनिषद्भागस्य हि

णाञ्चात्स्वरूपगुणादिप्रतिपादनपरत्वात्साक्षादन्वयः । तत्रापि चिदचिद्ब्रह्मस्वरूपपरत्वेन भेदवाक्यानां सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनपरत्वेनाभेदवाक्यानां सृष्ट्यादिपराणां वाक्यानां जगत्कर्तृत्वादिगुणप्रतिपादनपरत्वेन निर्गुणवाक्यानां मायिकगुणनिषेधपरत्वेन सगुणवचनानां स्वाभाविकगुणप्रतिपादनपरत्वेन "यद्वाचाऽनभ्युदित"मित्यादीनामियत्तानवच्छिन्नत्वप्रतिपादनपरत्वेन चान्वयः । नित्यनैमित्तिककर्मपराणां चाधिकारिसत्त्वशुद्धिसम्पादनद्वारा ब्रह्मविषयकज्ञानादिसहकारित्वेन काम्यपराणां च "तस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती"ति विषयानन्दस्यापि ब्रह्मानन्दलेशत्वात्तद्द्वारा ब्रह्मण्येवान्वयः । किञ्च काम्यानां मोक्षाधिकारिशुद्धदेवादिदेहोत्पादनद्वारा ब्रह्मविद्यापरत्वेन समन्वयः । किञ्च संयोगपृथक्त्वन्यायेन "दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया"दिति वाक्यान्तरेण "दध्ना जुहोती"त्यनेन नित्यस्यापि दध्न इन्द्रियार्थत्वमिव स्वर्गाद्यर्थस्यापि कर्मणो विद्यार्थत्वं बोध्यम् । "आप्रणखात्सुवर्णा"दिवाक्यानां च श्रीविग्रहपरत्वेन समन्वयः । यद्वा सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मात्मकत्वात्तद्वाचकशब्दजातस्य साक्षात्तत्रान्वयः । तस्मात्कृत्स्नस्य वेदस्य सर्वज्ञे स्वाभाविकानन्ताचिन्त्यशक्तौ जगत्कारणे ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे चिदचिद्भिन्नाभिन्ने श्रीकृष्णे समन्वय इति सिद्धम् "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" इति श्रीमुखवचनात् । शास्त्रमूलभूता चतुःसूत्री व्याख्याताऽस्या व्याख्यानभूतं शास्त्रमिदम् ॥४॥ इति समन्वयाधिकरणम् ॥४॥

इति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकश्रीभगवन्निम्बादित्यपाद-
पङ्कजान्तेवासिपाञ्चजन्यावतारश्रीश्रीनिवासाचार्यविर-
चिते वेदान्तकौस्तुभभाष्ये प्रथमाध्यायस्य
प्रथमपादे चतुःसूत्रीव्याख्या ॥

सू० ईक्षतेर्नाशब्दम् १ । १ । ५ ॥

(वे०पा०सौ०) साङ्ख्याभिमतमचेतनं प्रधानं तु अशब्दम् श्रुतिप्रमाणवर्जितम् अतो नैव जगत्कारणम्, जगत्कर्तुश्चेतनधर्मस्येक्षणस्य श्रवणात् ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) एवं तावद्बृहद्गुणशक्तिस्वरूपं सर्वज्ञं सर्ववेदैकवेद्यं ब्रह्मैव जगज्जन्मादिकारणमित्युक्तम् । इदानीं न ब्रह्म जगत्कारणमननुरूपत्वात्, त्रिगुणमचेतनम्प्रधानं कार्यानुरूपत्वाज्जगत्कारणमस्ति हीति वदन्तः साङ्ख्याः "सदेव सौम्येदमग्र आसी"दित्यादीनि वेदान्तवाक्यान्यपि तत्रैव योजयन्ति, तन्मतं निराकरोति भगवान्सूत्रकारः ॥

आनुमानिकम्प्रधानं जगज्जन्मादिकारणं भवितुं नार्हति, कस्मात्? अशब्दं हि तत्, नास्ति शब्दः श्रुतिः प्रमाणं यत्र तदशब्दम्। हेतुगर्भं विशेषणमिदम् । ननु "सदेव सौम्येदमग्र आसी"दिति छान्दोग्ये सच्छब्देन प्रधानमभिप्रेतं भवति, कथमुच्यतेऽशब्दमित्यत्राह ईक्षतेरिति । "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय"मित्युपक्रम्य, "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये"ति जगत्कर्तुरीक्षणश्रवणात् । ऐतरीयेऽपि तथा श्रूयते—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्स ईक्षत लोकानसृजा इति, स इमांल्लोकानसृजत" इति । अत्र धातुवाचक ईक्षतिशब्दः धात्वर्थभूतेक्षणपरो लक्षणया बोध्यः । ईक्षणं पर्यालोचनमध्यवसायः । तच्चाचेतनस्य प्रधानस्य नोपपद्यते, चेतनधर्मत्वात् । अत ईक्षणहीनं प्रधानं श्रुत्या नोच्यतेऽतो युक्तमुक्तं भगवताऽशब्दमिति, तस्मान्न तज्जगत्कारणं वेदवेद्यं चेत्यर्थः । न च सत्त्वगुणमाश्रित्य प्रधानस्य ज्ञानशक्तिमत्त्वमत ईक्षणमुपपद्यत इति वाच्यम् । जडस्य जडगुणस्य च ज्ञानस्वासम्भवात्,

ज्ञानवत्त्वासम्भवाच्च। न च पुरुषसंसर्गात्तथोपपत्तिरिति वाच्यम्। लाघवतया नित्यसिद्धज्ञाने पूर्वोक्ते ब्रह्मणि वेदान्तवेद्ये जगज्जन्मादिकारणे सति परसङ्गमापतितज्ञानाश्रयणस्य गौरवात्, तुच्छत्वाच्च। किञ्च साम्यावस्थायां तस्य गुणवत्त्वाभावाच्चेत्यलं विस्तरेण। अतो जगज्जन्मादिकार्यानुरूपं कारणं सच्छब्दवाच्यमीक्षणक्षमं ब्रह्मैव स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वात्, "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे"त्यादिश्रुतेः ॥ ५ ॥

सू० गौणश्चेन्नात्मशब्दात्। १। १। ६॥

(वे०पा०सौ०) गौणापीक्षतिरयुक्ता, कुतः? आत्मशब्दात् ॥६॥

(वे०कौ०) ननु प्रपतनासन्नं कूलमालक्ष्य कूलं पिपतिषतीति, शुष्कपङ्कां कृषिमालक्ष्य कृषिर्वृष्टिं प्रतीक्षत इति चाचेतनयोः कूलकृष्योश्चेतनधर्मोपचारदर्शनात्, "तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्ते"त्यचेतनयोरप्तेजसोरीक्षणश्रवणाच्च, तद्वत्प्रधानेऽप्यचेतने गौणमीक्षणमस्त्वित्याशङ्क्य समाधत्ते।

प्रधान ईक्षणधर्मो गौण इति चेन्न। कस्मादात्मशब्दात्। आत्मशब्दस्य प्रधाननिष्ठेक्षितृत्वाभावसम्पादकस्य श्रवणात्, तथाहि यदि सच्छब्देनाचेतनं प्रधानं गृहीत्वा तस्मिन् गौणमीक्षणं चाङ्गीक्रियते, तदा "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा"-इत्यात्मशब्देन "सदेव सौम्येति, तदैक्षतेति" च पूर्वपठितसदीक्षितृपदार्थस्याचेतनस्य परामर्शः स्यात्। तत्र स एव सत् ईक्षिता प्रधानलक्षण आत्मेति सदादिपदानामचेतनवचनानां भिन्नार्थानां परमेश्वरवाचकस्यात्मपदस्य भिन्नार्थस्य च सामानाधिकरण्यं विरुद्धमापद्येत। आत्मशब्दस्य परमेश्वरवाचकस्य प्रधानपरत्वासम्भवादित्यर्थः। तस्माद्गौणमपीक्षणमयुक्तमेव। अ-

तेजसोरपि देवताप्रवेशान्न गौणमीक्षणमिति दिक् ॥ ६ ॥

सू॰ तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् । १ । १ । ७ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) सदीक्षित्रात्मादिपदार्थभूतकारणनिष्ठस्य विदुषस्तद्भावापत्तिलक्षणमोक्षोपदेशान्न प्रधानं सदात्मशब्दवाच्यम् ॥ ७ ॥

(वे॰कौ॰) ननु तर्हि चेतनाचेतनयोः साधारणोऽस्त्वात्मशब्दः, क्रतुज्वलनयोर्ज्योतिःशब्द इव नात्र काचिदनुपपत्तिरित्यत्राह भगवान्बादरायणः ।

नाचेतनं प्रधानमात्मशब्दवाच्यम् । कुतः ? तस्मिन् सदादिशब्दाभिधेये ईक्षितरि तेजोऽबन्नादिकर्त्तरि निष्ठानिदिध्यासनापरपर्यायलक्षणा यस्य विदुषः स तन्निष्ठस्तस्य मोक्षोपदेशात् । तथाहि—तत्त्वमसीति मुमुक्षोः कारणात्मकत्वानुसन्धानमुपदिश्य, "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति ब्रह्मभावापत्तिलक्षणमोक्ष उपदिश्यते । मुमुक्षुर्यावच्छरीरान्न विमोक्ष्यते प्रारब्धकर्मफलभोगप्रतिबन्धात्तावदेवास्य मुमुक्षोश्चिरं भवति, भुक्ते तु कर्मफले प्रतिबन्धाभावाद्यं ब्रह्मभावं सम्पत्स्यते । विमोक्ष्ये सम्पत्स्ये इत्युभयत्रोत्तमपुरुषप्रयोगः प्रथमपुरुषे छान्दसत्वाज्ज्ञेयः । यदि 'स आत्मा' इत्यात्मशब्दः प्रधानपरस्तदा 'तत्त्वमसी'ति वाक्यस्थेन तच्छब्देन तदेव परामृश्येत, ततस्तत्त्वमसि प्रधानात्मकोऽसीति महाननर्थापातः स्यात्। अचेतनात्मकोऽस्मीति ध्यानेन मोक्षाद्धि च्याव्यन्येत । प्रकृते तूक्तलक्षणं ब्रह्म तत्पदवाच्यम् । तस्य शक्त्यपरपर्यायांशभूत उक्तलक्षणो जीवस्त्वम्पदार्थः । तत्र चांशांशिनोः सर्वलोकवेदप्रसिद्धगुणगुणिवद्भेदाभेदः सम्बन्धः । तत्र स्वरूपेण जीवस्य ब्रह्माभिन्नत्वेऽपि पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यभावाद्ब्रह्माभिन्नत्वम् । तस्यानादिमायावृतत्वात्ताद्यशाभेदज्ञानं नास्ति। तत्रोच्यते—'तत्त्वम-

मी'ति । तत्पदार्थादभिन्नोऽसीत्यर्थः । मोक्षावस्थायामपि भिन्न स्वरूप एव ब्रह्माभावापन्नस्तदतिरिक्तस्थितिप्रवृत्त्यभावाच्चदभिन्नो ज्ञेयः, 'परमं साम्यमुपैती'ति गम्यगन्तृभावावगमात्, "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिते"ति सहश्रुतेश्च । अतः सदात्मादिशब्दैर्ब्रह्मैवाभिधीयते ॥ ७ ॥

सू० हेयत्वावचनाच्च । १ । १ । ८ ॥

(वे०पा०सौ०) सर्वेशेन हितैषिणा सदादिशब्दैरुपदिष्टस्याचेतनस्य मोक्षे हेयस्य हेयत्वमवश्यं वक्तव्यमुपदेशे प्रयोजनञ्च वक्तव्यम् । तदुभयवचनाभावाच्च सदादिपदवाच्यम्प्रधानम् ॥ ८ ॥

(वे०कौ०) यद्यचेतनं प्रधानमेव सदीक्षितृप्रभृतिशब्दवाच्यत्वेनोपदिष्टं स्यात्तर्हि तन्निष्ठावारणाय ब्रह्मोपदिदेशयिषु हितैषि सर्वज्ञं शास्त्रं तस्य हेयत्वं ब्रूयात् । यथाऽयुक्तं किञ्चिदादातुमुद्यतं पुत्रं माता ब्रूते 'नेदं पुत्र ! युक्तमि'ति । न चेह तद्धेयत्ववचनमस्ति, प्रत्युत "स आत्मा तत्त्वमसी"ति तादात्म्यमुपदिश्यते । तदुपदेशप्रयोजनवचनाभावसमुच्चयार्थश्चशब्दः ॥ ८ ॥

सू० प्रतिज्ञाविरोधात् । १ । १ । ९ ॥

(वे०पा०सौ०) किञ्चैकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधादपि नाचेतनकारणवादः साधुः ॥ ९ ॥

(वे०कौ०) प्रधानं न जगत्कारणम्, कस्मात् ? एकविज्ञानात् सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधात् । तथाहि—"उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतमविज्ञातं विज्ञात"मिति । "कथं नु भगवः स आदेशो भवती"त्येकविज्ञानात्सर्वविज्ञानोपक्रमः श्रूयते, सहि विरुद्ध्येत । प्रधानविज्ञानात्तद्विकारज्ञानेऽपि चिदचिन्मिश्रकृत्स्नकार्यविज्ञानप्रतिज्ञा न सिद्ध्येत, चेतनस्य प्रधानकार्यत्वाभावेन तज्ज्ञानासंभवात् ॥ ९ ॥

सू० स्वाप्ययात् । १ । १ । १० ॥

(वे०पा०सौ०) सच्छब्दार्थं जगत्कारणं प्रकृत्य "स्वप्नान्तमेव सौम्य ! विजानीहीति, यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य ! तदा सम्पन्नो भवतीत्या"दिनोक्तस्यार्थस्य चेतनकारणावगतेरसम्भवात् ब्रह्मैव जगत्कारणं युक्तम् ॥ १० ॥

(वे०कौ०) स्वस्मिन्स्वकीये कारणे "सदेव सौम्ये"त्यादिना प्रस्तुते ब्रह्मणि अप्ययाल्लयात् सदादिपदैर्ब्रह्मैवोच्यते न प्रधानम्, तस्य कारणत्वेन लयश्रुतिर्विरुद्ध्येत । तथाच श्रुतिः– "यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य ! तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवती"ति । "तद्यथा प्रियया स्त्रिया परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर"मिति श्रुत्यन्तरञ्च ॥ १० ॥

सू० गतिसामान्यात् १ । १ । ११ ॥

(वे०पा०सौ०) सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतेस्तुल्यत्वात् अचेतनकारणवादो नहि युक्तः ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) इतोऽपि न प्रधानं सच्छब्दवाच्यं सर्वासूपनिषत्सु चेतनैकजगत्कारणत्वस्य गतेरवगतेः समानत्वाच्चेतनं ब्रह्मैव जगज्जन्मादिकारणं न पुनर्वेदान्तेषु किञ्चिदपि विरुद्धमुपलभ्यते कश्चिच्चेतनं कारणं कश्चिदचेतनमिति । अत्र सच्छब्देनाचेतनग्रहणे चेतनकारणाभिधायिवाक्यकदम्बविरोधः स्यादिति भावः ॥ ११ ॥

सू० श्रुतत्वाच्च १ । १ । १२ ॥

(वे०पा०सौ०) तस्मात्सदादिशब्दाभिधेयस्य सर्वज्ञस्य सर्वनिय-

न्तुः सर्वेश्वरस्य चेतनत्वेन कारणत्वस्य श्रुतत्वान्न प्रधानमहः ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) अस्यामुपनिषदि "आत्मन एवेदं सर्व"मित्यादौ आत्मत्वेन सच्छब्दवाच्यस्य सर्वकारणतायाः श्रुतत्वात् , चशब्दादुपनिषदन्तरेऽपि तथात्वश्रवणाच्च । तत्र श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि श्रूयते "ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः, स कारणं कारणाधिपाधिपः । न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप" इति । कौषीतकिनः समामनन्ति "एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते । प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका" इति । एवमन्यत्राऽपि, ग्रन्थवृद्धिभयादुपरम्यते । तस्मादचेतनं प्रधानमानुमानिकं न जगत्कारणं, चेतनमधिष्ठातारं विना सष्टृत्वकर्तृत्वायोगात् । प्रधानस्याधिष्ठातृशक्तित्वस्वीकारेऽस्मत्पक्षप्रवेशाच्च । किन्तु सर्ववेदैकवेद्यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणभूतः सच्छब्दवाच्यो ब्रह्मादिशब्दाभिधेयः श्रीकृष्ण एवेति सिद्धम् ॥ १२ ॥ इतीक्षत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू० आनन्दमयोऽभ्यासात् । १ । १ । १३ ॥

(वे०पा०सौ०) आनन्दमयः परमात्मैव नतु जीवः, कुतः ? परमात्मविषयकानन्दपदाभ्यासात् ॥ १३ ॥

(वे०कौ०) एवं खलु प्रधानकारणवादनिरासव्याजेनाचिद्वर्गात्स्वरूपतो भिन्ने ब्रह्मणि, "सदेव सौम्येद"मित्यादिश्रुतीनां समन्वयो दर्शितः । इदानीञ्चेतनवर्गादपि निरतिशयानन्दत्वेन स्वरूपतो विभिन्ने ब्रह्मणि आनन्दमयादीनां श्रुतीनां समन्वयं दर्शयति ।

तैत्तिरीयके अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयकोशचतुष्टयमनुक्रम्याम्नायते "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्माऽऽनन्दमयस्तेनैष पूर्ण" इति । तत्र संशयः किमत्रानन्दमयपदेन

प्रत्यगात्मोच्यते, उत परमात्मेति । किं तत्र युक्तम् ? "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्ये"ति शारीत्वश्रवणात्, अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुद्धयन्ता"मिति श्रुत्यन्तरे आनन्दमयस्य शोध्यत्वश्रवणाच्च, नित्यशुद्धस्य परमात्मनः शोध्यत्वासम्भवाच्च आनन्दमयः प्रत्यगात्मेति प्राप्ते ब्रूमः । आनन्दमयः निरतिशयानन्दवान् परमात्मैव । कस्मात् ? अभ्यासात् । परमात्मनि पुरुषोत्तम एवानन्दशब्दस्य बहुकृत्वोऽभ्यस्यमानत्वात् "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति । आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादि"त्यादिना । अपि च "सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवती"त्यारभ्य, "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चने"त्यन्तस्य वाक्यस्य ब्रह्मानन्दे एव निरतिशयापरिमितत्वप्रतिपादनेन समाप्तिदर्शनात् । नन्वानन्दपदस्यैव तत्राभ्यासोऽस्ति नत्वानन्दमयस्येति चेन्न । "वसन्ते ज्योतिषा यजेते"त्यत्र ज्योतिःशब्दस्य ज्योतिष्टोमपरत्ववदानन्दपदस्याप्यानन्दमयपरत्वात् । यत्तूक्तं शारीरत्वश्रवणान्न परमात्माऽऽनन्दमय इति, तत्र सर्वेष्वन्नमयादिषु तन्नियन्तृत्वेन वर्तमानत्वात्परमात्मनः शारीरत्वव्यपदेशः सङ्गच्छते । आनन्दमये तु "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्ये"ति निर्देशस्तस्यानन्यात्मत्वं दर्शयति । शुद्धयन्तामित्यस्य च प्रसाध्यन्तामित्यर्थः ॥ १३ ॥

सू० विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् । १ । १ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) विकारार्थे मयट्श्रवणान्नानन्दमयः परमात्मेति चेन्न । कस्मात् ? प्राचुर्यार्थकस्यापि मयटः स्मरणात् ॥ १४ ॥

नन्वानन्दमयः परमात्मा भवितुं नार्हति । कुतो ? विकारशब्दात् । विकारार्थकमयट्प्रत्ययस्य श्रवणात् । "मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयो"रिति प्रकृत्य, "नित्यं वृद्धशरादि-

भ्य" इति विकारार्थे मयट् स्मर्यते, 'मृन्मयो घट' इत्यादौ लोके 'पर्णमयी शाला जुहूरि'त्यादौ वेदे विकारे मयट्प्रत्ययदर्शनाच्चेति चेन्न । कुतः ? प्राचुर्यात् । प्रचुरतायामपि "तत्प्रकृतवचने मयडि"ति मयट् स्मर्यते । 'अन्नमयो यज्ञ' इत्यादौ प्राचुर्ये मयट्प्रत्ययदर्शनाच्च । न च ब्रह्मण आनन्दमयत्वाङ्गीकारात् किञ्चिदनानन्दत्वमपि स्यादिति वाच्यम् । इह प्राचुर्यस्य प्रभूतत्वापरपर्यायत्वात् । तथाहि महदादिशरीरपर्यन्तेषु मध्ये शरीरमन्नविकारत्वादन्नमयः पुरुष इत्युच्यते, तदन्यस्तद्धिधारकः प्राणमयः, तदन्यस्तदुभयविधारको मनोमयः तदन्यस्तत्त्रिकनियन्ता विज्ञानगुणो जीवात्मा विज्ञानमयः पुरुष इत्युच्यते । त्रयाणां पुरुषाणामचेतनानां ज्ञानस्वरूपो विज्ञानगुणो नियन्ता भवति। तस्य विज्ञानगुणस्य गुणिनो ज्ञानस्वरूपत्वं द्वितीयाध्याये स्फुटीभविष्यति । कथं तर्हि "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इति केवलधर्मनिर्देशः ? शृणु; ज्ञातुः स्वरूपमपि स्वप्रकाशमस्ति, तत्रापि विज्ञानपदप्रयोगः कर्त्तरि प्रत्ययो वा बोध्यः । नपुंसकत्वं वस्तुत्वाभिप्रायेण, अत एव काण्वपाठे "यो विज्ञाने तिष्ठन्नि"ति, माध्यन्दिनपाठे च "य आत्मनि तिष्ठन्नि"ति शब्दभेदेऽपि जीवरूपोऽर्थस्त्वेक एव । अत एव च "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि चे"ति सङ्गच्छते, केवलस्य गुणभूतस्य विज्ञानस्य कर्त्तृत्वासम्भवात् । स च विज्ञानमयशब्दार्थो ज्ञाता जीवः "स एको मानुष आनन्द" इति, "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवती"ति च श्रुत्यन्तरादानन्दवान् ज्ञातव्यः । तदल्पानन्दापेक्षया प्रभूतानन्दनिधिः परमपुरुषः सर्वेषां नियन्ता "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्माऽऽनन्दमय" इति निर्दिष्टः । किंच परमपुरुषस्य सर्वेषु वेदान्तेषु स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषस्यैकस्यैव

प्रतिपादितत्वान्नास्ति तत्राल्पतराऽनानन्दगन्धवातस्पर्शोऽपीति संक्षेपः ॥ १४ ॥

सू० तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १ । १ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) जीवानन्दहेतुत्वादपि परमात्मैवानन्दमयः ॥१५॥

(वे०कौ०) तस्य पूर्वपक्षे आनन्दमयत्वेन शङ्काविषयो यो जीवस्तदानन्दस्य हेतुरयमेवेति व्यपदिशति श्रुतिः "एष ह्येवानन्दयाती"ति । आनन्दयतीत्यर्थः । योऽन्येभ्यो धनं विद्याश्च प्रयच्छति स प्रचुरधनः प्रचुरविद्यो यथैवं पुरुषोत्तमोऽपि जीवानानन्दयतीति प्रचुरानन्द इत्यर्थः । अत्र यथा सकलतमोनिरसनस्वभावे भगवति भास्करे तेजोमय इति प्रयोग एवमेव सर्वकारणे समानातिशयशून्ये सर्वनिरानन्दलेशस्पर्शवर्जिते भगवति प्रकृतेऽप्यानन्दमयप्रयोगः सूपपन्नः ॥ १५ ॥

सू० मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते १ । १ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति मन्त्रोक्तं मान्त्रवर्णिकं तदेवानन्दशब्देन गीयते ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) "ब्रह्मविदाप्नोति पर"मित्युपक्रम्य, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहाया"मितिमन्त्रवर्णेन यत्प्रोक्तं तन्मान्त्रवर्णिकं जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्मैव "तस्माद्वा एतस्मादन्योऽन्तरात्माऽऽनन्दमय" इति ब्राह्मणेनापि गीयते, मन्त्रब्राह्मणयोर्व्याख्येयव्याख्यानयोरेकविषयत्वात् । अत आनन्दमयः परमात्मैव ॥ १६ ॥

सू० नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १ । १ । १७ ॥

(वे०पा०सौ०) आनन्दमयपदार्थमुद्दिश्य श्रूयमाणानां तदसाधारणधर्माणां तदितरस्मिन्ननुपपत्तेरितरो जीवो नानन्दमयपदार्थः ॥ १७ ॥

(वे०कौ०) इतरो जीवो नानन्दमयपदेनात्र ग्राह्यः। कुतः? अनुपपत्तेः। आनन्दमयं प्रकृत्य, "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय। स इदं सर्वमसृजत" इत्यादि श्रूयमाणं सर्वजगत्कर्तृत्वादि जीवे नोपपद्यते। तस्मादानन्दमयं ब्रह्मैव। यद्वा ब्रह्मेतरो जीवो न मान्त्रवर्णिकः, विद्वत्प्राप्यत्वादिगुणानां मान्त्रवर्णिकासाधारणानां तदितरत्रानुपपत्तेरिति योजना बोध्या॥ १७॥

सू० भेदव्यपदेशाच्च॥ १। १। १८॥

(वे०पा०सौ०) "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवती"ति वाक्येन लब्धृलब्धव्ययोर्भेदव्यपदेशाज्जीवो नानन्दमयः॥ १८॥

(वे०कौ०) इतश्चानन्दमयो मान्त्रवर्णिको वा न प्रत्यगात्मा। कस्मात्? जीवपरयोर्भेदेन व्यपदिश्यमानत्वात्। तथाहि "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवती"त्यानन्दमयस्य मान्त्रवर्णिकस्य परमात्मनो लब्धव्यत्वेन जीवस्य लब्धृत्वेन भेदव्यपदेशः, नहि लब्धैव लब्धव्यो भवति। जीवब्रह्मणोः स्वरूपतो हि भेदोऽन्यथा गुणसाङ्कर्यापत्तिः स्यादित्युभयमत्रतात्पर्यार्थः॥ १८॥

सू० कामाच्च नानुमानापेक्षा॥ १। १। १९॥

(वे०पा०सौ०) प्रत्यगात्मनः कारणत्वस्वीकारेऽनुमानस्य प्रधानस्य कारणादिरूपस्यापेक्षा भवेत्कुलालादेर्घटादिजनने मृदाद्यपेक्षावत्, अप्राकृतस्यानन्दमयस्य सर्वशक्तेः पुरुषोत्तमस्य तु न, कुतः! कामात्सङ्कल्पादेव "सोऽकामयत बहु स्या"मित्यादिश्रुतेः। अतस्तद्भिन्न आनन्दमयः॥ १९॥

(वे०कौ०) ननु चानन्दमयशब्देन प्रधानमुच्यतां, तत्र सत्त्वगुणस्यानन्दकारणीभूतस्य विद्यमानत्वात्कार्यानुरूपत्वाच्चेत्यत्रोच्यते।

अनुमीयते इत्यनुमानं प्रधानं तस्यापेक्षाऽस्मिन्नानन्दमये पदे नास्ति । कस्मात् ? कामात् । आनन्दमयं प्रकृत्य "सोऽकामयत बहु स्या"मिति कामयितृत्वश्रवणात् । काम इच्छा साऽचेतने प्रधाने न सम्भवति, सम्भवति च सर्वेश्वरे सर्वज्ञे इत्यर्थः । "ईक्षतेर्नाशब्द"मित्यनेन निराकृतमपि प्रधानं गतिसामान्यसमर्थनाय पुनरपि निराकृतमिति न पुनरुक्तिदोषः । यद्वा जीवस्य प्रकृतानन्दपदवाच्यत्वे जगत्कारणत्वमपि भवेत्तदा घटादिजनने कुलालादेर्मृदाद्यपेक्षावत् जीवस्यानुमानापरपर्य्यायप्रधानापेक्षा स्याद्ब्रह्मणः सर्वशक्तेर्जगत्कारणत्वे तु नायं दोष इत्यर्थः ॥ १९ ॥

सू० अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १ । १ । २० ॥

(वे०पा०सौ०) तद्योगमानन्दयोगं शास्ति श्रुतिः "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इति, जीवस्य यल्लाभादानन्दयोगः स तस्मादन्य इति सिद्धम् ॥ २० ॥

(वे०कौ०) इतोऽपि नानन्दमयो जीवः प्रधानं च, किन्तु ब्रह्मैव, यतो हि अस्मिन्नानन्दमये मान्त्रवर्णिके परमात्मनि पुरुषोत्तमे अस्य जीवस्य तद्विमुखस्य तद्योगं तेन परमात्मना योगं सम्बन्धं तद्भावापत्तिलक्षणं मोक्षं शास्ति शास्त्रं तस्मात् । तच्च शास्त्रम् "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवतीति ।" अस्यार्थः । यदेति । "जायमानं तु पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः । सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः ॥ मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्यय"मित्यादिशास्त्रोक्तभगवन्निर्हेतुककृपाकटाक्षसमये जन्मनि वा । एष इति "अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नि-

न्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति । ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादिशास्त्रोक्तलक्षणः ऐहिकामुष्मिकभोगवासनाशून्यो विद्वान् भगवच्चरणानन्यशरणः, एतस्मिन्भगवति अभयं यथा स्यात्तथा प्रतिष्ठामव्यभिचारिणीं निष्ठां तत्कपर्यैव विन्दते लभते, अथानन्तरमेवाभयं गतो भवति, भयकारणान्यनिष्ठाभावात् । कथंभूते ? अदृश्ये अदृश्यो जडवर्गस्तद्विलक्षणे, पुनः कीदृशेऽनात्म्ये आत्मनां चेतनानां समूहः आत्म्यं तद्भिन्ने परमचेतने । उक्तं हि परमचेतनत्वमस्य कठवल्ल्यां "चेतनश्चेतनाना"मिति । अनिरुक्ते इयत्तावत्त्वेनानिष्पन्ने वेदान्तैकवेद्यगुणस्वरूपे, अनिलये अनाधारेऽनन्ताचिन्त्यशक्तिमतीत्यर्थः । यदा चाज्ञानकाले एषोऽविद्वान् उदरमीषदपि साधनसम्बन्धप्रयोजनैकतममन्तरमन्यनिष्ठां कुरुते, अथ तस्य भयं भवतीति । तस्मात्सर्वचेतनाचेतनविलक्षणमानन्दमयं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ २० ॥

इत्यानन्दमयाधिकरणम् ॥ ६ ॥

सू० अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १ । १ । २१ ॥

(वे०पा०सौ०) आदित्याऽक्ष्णोरन्तःस्थो मुमुक्षुध्येयो हि परमात्मैव, नतु जीवविशेषः, कुतः ? तस्यैवापहतपाप्मत्वसर्वात्मत्वादीनां धर्माणामुपदेशात् ॥ २१ ॥

(वे०कौ०) एवमधिकरण(१)द्वयेन सामान्यतः प्रधानाज्जीवाच्च विलक्षणे जगज्जन्मादिकारणे ब्रह्मणि पूर्वोक्तवाक्यसमन्वय उक्तः, इदानीं नित्यसिद्धाप्राकृतविग्रहवत्त्वादि भगवदसा-

(१) विषयोऽविषयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः । प्रयोजनञ्च पञ्चैते प्राञ्चोऽधिकरणं विदुः ॥

धारणधर्मकथनपूर्वकं तत्तद्वाक्यसमन्वयं दर्शयन् पुण्यातिशयवशात् प्राप्तोत्कर्षात् क्षेत्रज्ञविशेषात् कालाद्यचेतनविशेषाच्च ब्रह्मणो वैलक्षण्यमुच्यते आपादपरिसमाप्तेः ।

छान्दोग्ये श्रूयते "अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यास(१)म्पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद तस्य ऋक् च साम च गेष्णा(२)वित्यधिदैवतमथाध्यात्ममथ य एषोन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यादि । तत्र संशयः किमयमादित्येऽक्षिणि चान्तःस्थत्वेन श्रूयमाणः पुरुषो जीवविशेषः किं वा परमेश्वर इति । किं तावद्युक्तम् ? प्राप्तोत्कर्षो जीव इति । कुतः ? "हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश" इत्यादित्यान्तःपुरुषस्य "तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूप"मित्यक्ष्यन्तःपुरुषस्य च रूपवत्त्वश्रवणात्, "ये चाऽमुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेति, स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च"ति चोभयोः क्रमादैश्वर्यमर्यादाश्रवणाच्च, अन्तरादित्येऽन्तरक्षिणि चेत्युभयोः पराश्रितत्वश्रवणाच्च । परमात्मन "स्त्वशब्दमस्पर्शमरूपं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि एष भूताधिपति"रित्यादिना तद्विपरीतत्वश्रवणाच्चेति प्राप्ते, ब्रूमः । आदित्याक्ष्णोरन्तः श्रूयमाणः पुरुषः परमात्मैव । कुतः ? "तद्धर्म्मोपदेशात्" । तस्य परमात्मन एव खलु सर्वथाऽपहतपाप्मत्वस्योपासकसर्वपापमोचयितृत्वादीनां "सैव ऋक् तत्साम

(१) कं जलं पिबतीति कपि, कपिना आसते प्रकाशते इति कप्यासं नाल एवम्भूतं पुण्डरीकं कमलम् ।

(२) स्थाने ।

तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्मे"ति सर्वात्मकत्वादिधर्माणामस्मिन्वाक्ये उपदेशात्। "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। समस्ताः शक्तयश्चैता नृप! यत्र प्रतिष्ठिताः। तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महे"दित्यादिशास्त्रात् सत्यसङ्कल्पत्वादिस्वाभाविकधर्मवत् रूपवत्त्वस्याप्यविरुद्धत्वात्, "अशब्दमस्पर्शमरूप"मित्यादिवाक्यस्य च प्राकृतशब्दादिनिषेधपरत्वाच्च। न च ब्रह्मणः परिच्छिन्नैश्वर्यवत्त्वमत्र परिच्छेदवाक्यस्याधिदैवादिव्यवस्थापरत्वात्। नापि पराश्रितत्वं ब्रह्मणो वाच्यम्, "अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वभूतान्तरात्मा यः पृथिव्यां तिष्ठन्। सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगदि"त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वाश्रयत्वात्। अत्र "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु"रित्यादिना सर्वज्ञवेदवाक्येन सर्वप्रमाणनिरपेक्षेण स्वार्थे स्वेनैव प्रमाणभूतेन प्रकृतस्य ब्रह्मणस्तदनुरूपं शरीरमपि साक्षाद्दृष्ट्वैवोक्तम् "दृश्यते" इति वचनात्। एतेन परमात्मा विग्रहवत्त्वेन मुमुक्षुभिर्ध्येय इति गम्यते। वक्ष्यमाणं संराधनमपि परमात्मनो विग्रहवत्त्वादेवोपपद्यते। भगवद्विग्रहविषयकश्रुतिस्मृतिकदम्बो विस्तरभयान्नोक्तः॥ २१॥ इत्यन्तरधिकरणम्॥ ७॥

सू० भेदव्यपदेशाच्चान्यः॥ १। १। २२॥

(वे०पा०सौ०) आदित्यादिजीववर्गादन्योऽस्ति परमात्मा। कुतः? "आदित्ये तिष्ठ"न्नित्यादिना भेदव्यपदेशात्॥ २२॥

(वे०कौ०) इतश्चादित्यादिशरीराभिमानिक्षेत्रज्ञाच्चदन्तःस्थोन्यः स्वरूपतो भिन्नः परमात्मा। कस्मात्? "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृत"इत्यादिश्रुत्या

जीवब्रह्मणोर्भेदव्यपदेशात् । एवमादित्यादिजीवात्तदन्तर्गतस्य ब्रह्मणो भिन्नत्वं सिद्धम् ॥ २२ ॥

सू० आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ १ । १ । २३ ॥

(वे०पा०सौ०) "अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाचे"त्यत्राकाशशब्दवाच्यः परमात्मा । कुतः ? "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेवोत्पद्यन्ते" इति सर्वस्रष्टृत्वादितल्लिङ्गात् ॥ २३ ॥

(वे०कौ०) एवं प्रकृतब्रह्मासाधारणधर्मेणाऽ"थ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय" इत्यादिश्रुतिः प्रकृते ब्रह्मणि नियोजिता । इदानीमस्य लोकस्य का गतिरित्यादिश्रुतिर्ब्रह्मलिङ्गेन तस्मिन्नीयते ॥

छान्दोग्ये शालावत्यजैवलिसंवादे हीदं श्रूयते "अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति, आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायण"मिति । अत्र संशयः किं भूताकाशोऽत्राकाशशब्दार्थः, उत परमात्मेति । किं तावद्युक्तम् ? लोकप्रसिद्धत्वादाकाशाद्वायुरिति, तस्यापि वाय्वादिभूतकारणत्वश्रवणाच्च भूताकाश इति प्राप्ते, ब्रूमः । अत्र वाक्ये आकाशः आकाशशब्दार्थः परमात्मैव । कुतः ? तल्लिङ्गात् । तस्य परमात्मनः लिङ्गं तल्लिङ्गम् सर्वभूतोत्पादकत्वज्यायस्त्वपरायणत्वादि तस्मात् परमात्मासाधारणधर्मात् । न च "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षा"दिति न्यायेन लिङ्गात् श्रुतिर्बलीयसीति वाच्यम् । "आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबल"मिति न्यायात् "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इति लिङ्गेनाकाश इति भूतश्रुतिर्बाध्यते । आकाशशब्दस्य भूताकाशपरत्वे

आनर्थक्यं स्यात् । नह्येतल्लिङ्गं भूताकाशे सम्भवति प्रत्युत भूताकाशस्य परमात्मजन्यत्वं श्रूयते "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इति । आसमन्तात्काशत इत्याकाश इति योगवृत्त्या "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते"त्यादौ रूढिवृत्त्या चाकाशपदेन परमात्मैवाभिधीयत इति सिद्धम् ॥ २३ ॥ इत्याकाशाधिकरणम् ॥ ८ ॥

सू० अत एव प्राणः । १ । १ । २४ ॥

(वे०पा०सौ०) "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेव संविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" इत्यत्रापि संवेशनोद्गमनरूपाद्ब्रह्मलिङ्गात्परमात्मैव प्राणः ॥ २४ ॥

(वे०कौ०) एवमाकाशश्रुतिर्ब्रह्मवादिनी न भूताकाशवादिनीत्युक्तमिदानी"मुद्गीथे प्रस्तोत"रित्यादिश्रुतिरपि ब्रह्मण्येवान्वेतीति वदन्नाकाशन्यायमतिदिशति ॥

छान्दोग्ये चाक्रायणप्रस्तोतृसम्वादे श्रूयते "उद्गीथे प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति, कतमा सा देवतेति, प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ते" त्यादि । तत्र संशयः सर्वस्य जगतः प्राणाधीनस्थितिदर्शनाल्लोकप्रसिद्धेश्च प्राणशब्देन वायुविकारोऽपि वक्तुं शक्यः, "प्राणबन्धनं हि सौम्य ! मनः प्राणस्य प्राण"मित्यादौ ब्रह्मणि प्राणशब्दप्रयोगाच्च ब्रह्म वक्तुं शक्यमिति । किन्तावद्युक्तम् ? सर्वस्य प्राणधीनत्वदर्शनात् लोके प्राणशब्देन वायुविकारप्रसिद्धेश्च "यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं मनः प्राणं श्रोत्रं यदा प्रतिबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते" इति वायुविकारसंवेशनादिश्रवणाच्च वा-

युविकारः पञ्चवृत्तिः प्राण एव मुख्योऽत्र प्राणशब्देन गृह्यते इति प्राप्ते, ब्रूमः। अत एव सर्वमहाभूतसंवेशनोद्गमनभूतात् पारमेश्वरात् लिङ्गादेव प्राणशब्दवाच्यः परमेश्वरः पुरुषोत्तम एव युक्तः। सर्वाणि भूतानि विशन्ति लीनानि भवन्ति अभ्युज्जिहते तमभिलक्ष्योद्गच्छन्तीति सर्वमहाभूतसंवेशनोद्गमनं पारमेश्वरं लिङ्गं वायुविकारे न सम्भवति। "यदा वै पुरुषः स्वपिती"त्यत्रापि न पुनर्महाभूतसम्वेशनादि श्रूयतेऽपि त्विन्द्रियसम्वेशनादिकमेवातः परमात्मलिङ्गात्प्रकर्षेणाऽणिति स्थितिं लभते सर्वं जगद्यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या च परमात्मैव प्राणशब्देनाभिधीयत इति सिद्धम् ॥ २४ ॥ इति प्राणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

सू॰ ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ १ । १ । २५ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) "दिवा ज्योतिरिति" ज्योतिर्ब्रह्मैव, "पादोऽस्य सर्वाभूतानी"ति चरणाभिधानात् ॥ २५ ॥

(वे॰कौ॰) एवमाकाशशब्दः प्राणशब्दश्च सर्वव्यापके सर्वदोषास्पृष्टे सर्वजीवनहेतौ ब्रह्मणि वर्तत इत्युक्तमिदानीं ज्योतिःशब्दवृत्तिं ब्रह्मणि दर्शयति ॥

छान्दोग्ये हीदमाम्नायते "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योति"रिति। तत्र संशयः किमयं ज्योतिःशब्दः प्रसिद्धादित्यादिज्योतिर्वाचकः, किं वा परमात्मवाचकः। किं तावदिहयुक्तमिति ? अत्र पूर्वपक्षः, आदित्यादिज्योतिर्वाचकः, कस्मात् ? तस्य तमोनिवारकत्वप्रसिद्धेः, "दिवः परो ज्योतिर्दीप्यते" इति मर्यादाश्रवणाच्च। सर्वव्यापिनो ब्रह्मणो हि मर्यादाऽयोगात्, "चक्षुष्यः श्रुतो भवति, एवं वेदे"ति अल्पफलश्रवणाच्च। "इदं वाव तद्यदिदमन्तःपुरुषे ज्योति"रिति

कौक्षेयज्योतिषैक्यावगमाच्चेति प्राप्ते । ब्रूमः । अत्र ज्योतिःशब्द-वाच्यं निरतिशयदीप्तिमत्परं ब्रह्मैव । कस्मात् ? चरणाभिधानात् । तथाहि ज्योतिर्वाक्यात्पूर्ववाक्ये "तावानस्य महिमा अतो ज्या-यांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवी"ति चतुष्पाद्ब्रह्माभिधीयते । तत्रास्य सर्वभूतान्येकः पादः इति स-र्वभूतैकपात्त्वं परब्रह्मण एवोपपद्यते, नान्यस्य । न च द्युमर्यादा-श्रवणविरोधः, 'यदतःपर' इतिपरशब्दस्योत्कृष्टत्ववाचकत्वेना-व्यापकतायाः अविवक्षितत्त्वात् । "तदेवा ज्योतिषां ज्योतिरायु-र्होपासत" इत्यादौ ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मपरत्वावगमाच्च । ना-प्यल्पफलश्रवणविरोधः, ब्रह्मणो यथाधिकारिफलदातृत्वात् । श्रूयते च वाजसनेयिनामग्निरहस्ये "तं यथायथोपासते तदेव भवतीति" । "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह"मिति श्रीभगवद्वचनाच्च । कौक्षेयज्योतिषा तादात्म्योपासनप्रयोजनश्च "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणापानसमा-युक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विध"मित्याद्यवगन्तव्यम् ॥ २५ ॥ इति ज्योतिरधिकरणम् ॥ १० ॥

सू० छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदा-
त्तथाहि दर्शनम् ॥ १ । १ । २६ ॥

(वे०पा०सौ०) पूर्ववाक्ये गायत्र्याख्यछन्दोऽभिधानात् तत्परा चरणश्रुतिरस्तु न ब्रह्मपरेति चेन्न । गुणयोगाद्गायत्रीशब्दाभिधेये भगवति चेतोऽर्पणाभिधानात् , दृष्टश्च विराट्शब्दः प्रकृतपरः ॥ २६ ॥

(वे०कौ०) ननु पूर्वत्र "गायत्री वा इदं सर्व"मिति गा-यत्रीछन्दसः प्रकृतत्वात्तस्य छन्दस एव "पादोऽस्य सर्वाभूता-नी"ति भूतपादव्यपदेशोऽस्तु, नास्मिन्वाक्ये ब्रह्मनिरूपणं युक्त-मिति चेन्न । कस्मात् ? तथा चेतोऽर्पणनिगदात् । तथा "गाय-

त्री वा इदम् सर्व''मिति सर्वात्मकत्वविधानेन गायत्रीशब्दवाच्ये ब्रह्मणि चेतोऽर्पणानिगदात् चित्तसमाधानस्याभिधानात् । अत्र गायत्रीशब्दश्छन्दोऽनुगतब्रह्मवाचकः वर्णसन्निवेशमात्रस्य छन्दसः सर्वात्मकत्वासम्भवात् । तथाहि दर्शनम् तथैव दृष्टान्तः-ऐतरीयोपनिषदि श्रूयते "एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगा" इति । यजुर्वेदिनः सामवेदिनः ऋग्वेदिनः क्रमात् प्रधानशस्त्राग्निमहाव्रतेषु तत्तदनुगतं परमात्मानं मीमांसन्ते तद्वच्छन्दोऽनुगतं ब्रह्मेत्यर्थः ।

अथवा यथा गायत्री षडक्षरैः पादैश्चतुष्पदाच्छन्दोजाति(१)रस्ति तथा ब्रह्माऽपि "पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवी''ति चतुष्पाद इति चतुष्पात्त्वगुणयोगाद्गौण्या वृत्त्या गायत्रीशब्दाभिहिते ब्रह्मणि चित्तसमाधाननिगदान्नात्र गायत्री अभिज्ञायते, किन्तु ब्रह्मैव । तथाहि दर्शनम् तथैव शक्यार्थगुणयोगादर्थान्तरेऽपि छन्दोऽभिधायिशब्दस्य प्रयोगो दृष्टः "ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृत''मित्युपक्रम्याह "सैषा विराडन्नादी''ति संवर्गविद्यायां वाय्वादिदशद्रव्यसमुदाये कृते दशाक्षरच्छन्दोजातिविराट्प्रयोगः ॥२६॥

सू० भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ १ । १ । २७ ॥

(वे०पा०सी०) न केवलं तथा चेतोऽर्पणनिगदाद्गायत्री ब्रह्मेत्युच्यते भूतपृथिवीशरीरहृदयानां ब्रह्मणि भगवत्युपपत्तेश्चैवम् ॥ २७ ॥

(वे०कौ०) इतश्चैवं "गायत्री वा इदं सर्व''मितिवाक्ये गायत्रीशब्दवाच्यं ब्रह्मेति । इतः कुतः ? भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः । भूतपृथिवीशरीरहृदयाख्यैः पादैश्चतुष्पदा गायत्रीति व्य-

(१) इन्द्रः शचीपतिर्बलेन पीडितः । दुश्च्यवनो वृषा समत्सु-सा सहेरिति ॥

पदेशस्य ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्च । अक्षरसन्निवेशभूतायास्तस्या भूतादिपादव्यपदेशानुपपत्तेश्च ॥ २७ ॥

सू०उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ १।१।२८॥

(वे०पा०सौ०) पूर्वमधिकरणत्वेन पुनरवधित्वेन द्यौर्निर्दिश्यते इत्युपदेशभेदान्न ब्रह्म प्रत्यभिज्ञायते इति न, कुतः ? उभयत्रापि ब्रह्मण एकत्वस्याविरोधात् ॥ २८ ॥

(वे०कौ०) ननु पूर्वत्र "त्रिपादस्यामृतं दिवी"ति सप्तमीविभक्त्याऽऽधारत्वेना"ऽथ यदतः परो दिवो ज्योतिरि"त्यत्र पञ्चम्या विभक्त्याऽवधित्वेन च द्यौर्निर्दिश्यते । एवं खलु विभक्तिभेदेनोपदेशभेदाज्ज्योतिर्वाक्येन ब्रह्म प्रत्यभिज्ञायत इति चेत् । नाऽयं दोषः । कुतः ? उभयस्मिन्सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते च गुणभूतेन विभक्त्यर्थेन प्रधानस्य प्रकृत्यर्थस्यैकत्वं न विरुध्यते, यथा वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षात्परतः श्येन इति । तस्माज्ज्योतिःशब्दाभिधेयं निरतिशयदीप्तिमत्परं ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥२८॥ इति ज्यो०धि०

सू० प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥ १ । १ । २९ ॥

(वे०पा०सौ०) "प्राणोऽस्मि" इत्यादिवाक्ये प्राणादिशब्दवाच्यः परमात्मा हिततमत्वाऽनन्तत्वादिधर्माणां परमात्मपरिग्रहेऽवगमात् ॥ २९ ॥

(वे०कौ०) इदानीं कौषीतकिश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वयम्प्रदर्शयन्प्राणेन्द्रादिशब्दानां जीवपरत्वन्निराकरोति चतुर्भिः सूत्रैः ।

अस्ति खलु कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि प्रतर्दनविद्या "प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन पौरुषेण चे"त्युपक्रम्याम्नाता । तस्यां श्रूयते "वरं ते ददामी"तीन्द्रेणोक्तः प्रतर्दन इदमाह "त्वमेव मे वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इति । तं वरं त्वमेवालोच्य मे मह्यम् वृणीष्व देहीत्यर्थः । एवं प्रतर्दनेनोक्त इन्द्र इदमाह "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा

तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वे"ति । उत्तरत्रापि "अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयती"ति, "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्या"दिति च । उपसंहारे च "स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरोऽमृत" इति श्रूयते । अत्रेन्द्रप्राणशब्दाभ्यां कश्चिज्जीवोऽभिधीयते, उत परमात्मेति । किं तावद्युक्तम् इति संशये जीवोऽभिधीयते, इन्द्रशब्दस्य प्राक्ताधिकारे जीवे एव प्रसिद्धत्वात्प्राणोऽस्मीतीन्द्रशब्दवाच्यवचनात् प्राणशब्दोऽपीन्द्रवाचक"स्तम्मामायुरमृतमित्युपास्स्वे"ति तस्यैवोपास्यत्वमिह गम्यते इति पूर्वपक्षे, सिद्धान्तः प्राणः प्राणशब्दार्थस्तत्सहचरैरिन्द्रादिशब्दैश्चाभिधेयः परमात्मैव । कुतः ? तथाऽनुगमात् । हिततमत्वप्रज्ञात्मत्वानन्दत्वाजरत्वादीनां हि तथा परमात्मपरिग्रहे सत्येवानुगमादनुगन्तुं शक्यत्वात् । तथाहि उपक्रमे "तावर्दवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम, यत्रेन्द्रो ब्रह्माधीनस्थितिमद्विमिस्वमात्मनोऽनुसन्धाये"न्द्रोऽहमस्मी"ति नानुमन्यतेस्म, किन्तु ब्रह्मानन्दनिमग्नतयाचिदचिद्वस्तुनो ब्रह्मात्मकत्वानुसन्धानवशाद्ब्रह्मैवेदं सर्वं ब्रह्मास्मीति मन्यते, कृतापराधं जनमप्यात्मवत्पश्यति । प्राप्यं चात्मनः आत्मतुल्यानाञ्च ब्रह्मैवोपायश्च तच्चरणोपासनमेव । तत्रैवंप्रिये देशे प्राप्तम्प्रतर्दनमिन्द्रः प्रोवाच "वरं वृणीष्वे"ति, प्रोक्तः परमपुरुषार्थकामः प्रतर्दनोऽपि विनीततरं निरस्ताहङ्कारं परमपुरुषार्थोपायाविवक्षुः प्रत्युवाच "त्वमेव मे वरं वृणीष्वे"त्यादि । तत्र प्रतर्दनस्योपास्यत्वेन प्राण उपदिश्यते प्राणोऽस्मीत्यादिना । एवं परमपुरुषार्थतयोपदिश्यमानः प्राणः कथं जीवः स्यात्, मामुपास्स्वेति परब्रह्मोपासनां विना वाक्यं कथं घटेत । जीवस्यावस्थात्रयसाक्षिणो हि एकदेशित्वेन जीवान्तरप्राप्यत्वानर्हत्वेन च विद्वदनुभवप्राप्तत्वात् । हिततमञ्च ब्रह्मप्राप्ति-

रन्यत्रोपपद्यते एव । "हितं मामायुरमृतमुपास्स्वेति, स एष प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृत" इति च प्रज्ञात्मत्वं आनन्दत्वम् अजरत्वम् अमृतत्वञ्च ब्रह्मपरिग्रहे युज्यते, नान्यथा । तस्मादिन्द्रप्राणादिशब्दाः प्रसिद्धेनेन्द्रेण ब्रह्मविवक्षयोपन्यस्ता नात्मपरत्वेन ॥२९॥

सू॰ न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ १ । १ । ३० ॥

(वे॰पा॰सौ॰) प्राणादिशब्दवाच्यं ब्रह्म न भवति, कुतः ? "मामेव विजानीही"ति वक्तृस्वरूपाभिन्नोपदेशादिति चेत् । अस्मिन्प्रकरणे परमात्मसम्बन्धस्य बाहुल्यमस्त्यतः प्राणेन्द्रादिपदार्थः परमात्मैव ॥३०॥

(वे॰कौ॰) प्राणस्तथाऽनुगमादित्यनेनोक्तम् प्राणेन्द्रादिशब्दवाच्यं ब्रह्मेति । तन्न । कस्मात् ? वक्तुरात्मोपदेशात् । "मामेव विजानीही"त्युपक्रम्य, "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मे"ति वक्तुरिन्द्रस्य त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम् "अरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छ"मित्येवमादिभिः प्रज्ञातजीवभावस्यैव स्वात्मन उपास्यत्वोपदेशादित्यर्थः । एवमुपक्रमवाक्यमिह जीवविषयम् । तत्रैवं स "त्यानन्दोऽजरोऽमृत"इत्युपसंहारवाक्यमपि योजनीयमिति चेत् । अत्रोच्यते "अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्" । अस्मिन्नध्याये हि निश्चयेन अध्यात्मसम्बन्धभूमा विद्यते । आत्मनि अधि वर्त्तमानः सम्बन्धोऽध्यात्मसम्बन्धः परमात्मसम्बन्ध इत्यर्थः । तस्यात्र भूमा बाहुल्यमस्ति अस्मिन्नध्याये परमात्मासाधारणधर्माः बहवः सन्ति । तस्मान्नेन्द्ररूपजीवपरिग्रह इति फलितोऽर्थः । तथाहि "यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इत्युपक्रमे हिततमोपासनं परमात्मोपासनमेव तस्यैव हिततमत्वात्, "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये"त्यादि श्रुत्यन्तरात् । तथा "एष एव साधु कर्म कारय-

ति तं येभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष एवासाधु कर्म कारयति तं येभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते।" इति साध्वसाधुकर्मकारयितृत्वं परमात्मन एव धर्मः। तथा "प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयती"त्युपक्रम्य, तद्यथा "रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राशब्दोदितचेतनाचेतनात्मककृत्स्नवस्त्वाधारत्वम्। "स एव प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरोऽमृत" इत्यानन्दादयश्च परमात्मान एव धर्माः। "स म आत्मेति विद्यादि"त्युपसंहारे आत्मत्वं वेद्यत्वञ्च परमात्मधर्मः। तस्मात्परमात्मधर्मभूयस्त्वात्परमात्मैवेन्द्रप्राणादिशब्दवाच्यः॥ ३० ॥

सू० शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्॥ १ । १ । ३१ ॥

(वे०पा०सौ०) इन्द्रो हि सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वमवधार्य "मामेव विजानीहि"ति शास्त्रदृष्ट्या युक्तमुक्तवान्। "तत्र कः शोकः को मोह एकत्वमनुपश्यत" इत्यादिशास्त्रं "यथाऽहं मनुरभवं सूर्य्यश्चे"ति वामदेव उक्तवान् तद्वत्॥ ३१ ॥

(वे०कौ०) कथं तर्हीन्द्रो"ऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथैव मामुपास्स्वे"त्युपदिष्टवानित्यत्रोच्यते।

नायं दोषः, लोके यथा कश्चिद्राज्ञाऽत्याद‍ृतो राजभृत्यः प्रजासु राजवद्वदत्यहं वः पालकः पूज्य इत्यादि तद्वत्। शास्त्रदृष्ट्या तु "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति, अभयं वै जनक! प्राप्तोऽसि, यदात्मानं वेदाहं ब्रह्मास्मी"ति, "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्, सर्वात्मा एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृत," इत्यादिशास्त्रदृष्ट्या परब्रह्मणः सर्वान्तर्यामित्वं सर्वात्मत्वमवगम्य, "मामेव विजानीहि मामुपास्स्वेती"न्द्रस्य जीवस्यैव स्वात्मत्वेन परमात्मोपदेशोऽयम्।

यथा वामदेवः शास्त्रदृष्ट्या सर्वान्तर्यामिणम्परमात्मानं पश्यन् "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे, अहं मनुरभवं सूर्य्यश्च कक्षिवानृषिरस्मि विप्र" इति तमेवावोचत्, अतो "मामेव विजानीही"त्युपदेशो युक्त एव ॥ ३१ ॥

सू॰ जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ १ । १ । ३२ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारम् विद्यात्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहानि"त्यादि जीवलिङ्गात् "प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयती"ति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च नात्र ब्रह्मपरिग्रह इति चेत् । नोपासकतारतम्येन ब्रह्मोपासनायास्त्रैविध्याज्जीववर्गान्तर्यामित्वेन प्राणाद्यचेनान्तर्यामित्वेन तदुभयविलक्षणेन चान्यत्राश्रितत्वादिहापि तद्योगात् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वे॰ पा॰ सौ॰ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

(वे॰कौ) ननु नात्र ब्रह्म प्राणादिशब्दैर्वक्तुं शक्यम् । कुतः? जीवमुख्यप्राणलिङ्गात् । जीवलिङ्गं तावत् "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहन् मरुन्मुखानयतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छ"मित्यादि । मुख्यप्राणलिङ्गं तु "अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयती"ति । तस्मान्नात्र ब्रह्मप्रतिपत्तिराश्रयितुं शक्येति चेन्न । कुतः? "उपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ।" उपासनायास्त्रिविधत्वमुपदेष्टुं ब्रह्मण एव तत्तच्छब्देनाऽभिधानं यथाऽन्यत्र त्रिविधोपासनं ब्रह्मण आश्रीयते । तत्र "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, आनन्दो ब्रह्मे"ति स्वरूपेण उपास्यत्वम् "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनञ्चानिलयनञ्च विज्ञानञ्चाविज्ञानं चे"त्यादिषु चिदचिदन्तरात्मतया सर्वात्मत-

या च तस्योपास्यत्वमेवमिह प्रतर्दनविद्यायामपि तद्योगात्तस्य त्रैविध्यस्य योगासम्भवात् न वाक्यभेदः, एकब्रह्मपरत्वाद्वाक्यजातस्य । अत्रेदं बोध्यम् । उपक्रमादिना वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वेन निश्चिते तत्रान्यलिङ्गञ्च यदि भवेत्तदपि तदन्तरात्मनि तच्छक्तिमत्त्वेनोपास्ये ब्रह्मणि योज्यमिति । तस्मादिहेन्द्रप्राणादिशब्दनिर्दिष्टः परमात्मेति सिद्धम् ॥ ३२ ॥ इतीन्द्रप्राणाधिकरणम् ।

हरिः ओं तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्य्य
श्री मन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचा-
र्य्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये वेदान्तकौ-
स्तुभे प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

सू० सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ । २ । १ ॥

(वे०पा०सौ०) सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" इत्युपक्रम्य, श्रूयते "मनोमयः प्राणशरीर" इति । अत्र मनोमयत्वेनोपास्यः सर्वकारणभूतः परमात्मा गृह्यते, न प्रत्यगात्मा । कुतः ? सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धस्य परमात्मन एव पूर्वत्र सर्वङ्खल्विदम्ब्रह्मेत्याद्युपदेशात् ।१।

(वे०कौ०) एवं खलु प्रथमे पादे जिज्ञास्ये बृहत्तमे जगज्जन्मादिहेतौ शास्त्रैकप्रमाणके सर्वज्ञे समानातिशयशून्येऽनन्तकल्याणगुणगणैकराशौ भगवति श्रीवासुदेवे श्रुतीनां समन्वयो दर्शितः । इदानीं पादद्वयेन यानि कानिचिदस्पष्टजीवादिलिङ्गकानि कानिचित्स्पष्टजीवादिलिङ्गकानि च वाक्यानि तेषां तत्रैव समन्वयमाह भगवान्वेदाचार्य्यः ।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीताथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूप"

इत्यादि छन्दोगैः समाम्नायतेऽत्र मनोमयत्वादिधर्मकः किं क्षेत्रज्ञ उपास्यत्वेन गृह्यते, उत परमात्मेति संशयः । किमत्र युक्तम् ! क्षेत्रज्ञ इति । कस्मात् ? क्षेत्रज्ञस्य मनःप्राणोपकरणकत्वप्रसिद्धेः, भगवतो ब्रह्मणः परस्या''ऽप्राणो ह्यमनाः शुभ्र" इति मनःप्राणसम्बन्धाभावश्रुतेः । किञ्च "एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वे"ति हृदयायतनत्वाणीयस्त्वयोः परिच्छिन्ने जीवे एव सम्भवाच्च । ननु श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याख्यानि षट् प्रमाणान्युत्तरोत्तरदुर्बलानि । तत्र निरपेक्षरवः श्रुतिः । शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम् । अत्र हि मनोमयत्वादेर्जीवलिङ्गात्सर्वं खल्विदम्ब्रह्मेति पूर्वत्र श्रवणाच्छ्रुतिर्बलीयसीति पूर्वोक्तं ब्रह्मैवात्रोपास्यतया सम्बध्यतामिति चेन्न । तद्वाक्यस्य शान्त उपासीतेति शान्तिसिद्ध्युपायभूतब्रह्मात्मकत्वोपदेशायोपक्षीणत्वाद्ब्रह्मोपासनविधिपरत्वाभावादिति प्राप्ते ब्रूमः । मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैवात्रोपास्यः । कुतः ? सर्वत्र सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धस्य जगज्जन्मादिकारणस्येह सर्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानिति इत्येवं सर्वात्मत्वेन सर्वकारणत्वेनोपदेशात् । यद्वा सर्ववेदान्तेषु "मनोमयः प्राणशरीरनेता स एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमय" इत्यादिषु परब्रह्मणि प्रसिद्धानां मनोमयत्वादीनामुपदेशात् । तत्र मनोमयत्वं विशुद्धमनोग्राह्यत्वं, प्राणशरीरत्वं प्राणस्याप्याधारत्वं नियन्तृत्वञ्च, अप्राणः प्राणानधीनस्थितिः, अमनाः मनोऽनधीनज्ञान इत्यर्थः ।

यद्वा "सर्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीते"-ति सर्वात्मकं ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीतेत्युपासनं विधीयते । "स क्रतुं कुर्वीते"ति पूर्वस्यैव मनोमयत्वादिगुणोपपादनायानुवादः । सर्वात्मकं ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुपासीतेति वाक्यार्थः ।

तत्र सर्वात्मत्वेन निर्दिष्टं ब्रह्म किं क्षेत्रज्ञ उत परमात्मेति संशये, किं तावद्युक्तम् ? क्षेत्रज्ञ इति । कुतः ? तस्यैवानाद्यविद्यामूलककर्मनिमित्तकब्रह्मादिसर्वभावोपपत्तेः । परब्रह्मणस्तु सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वापहतपाप्मत्वस्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषत्वादियोगान्न हेयाकारसर्वतादात्म्यमुपपद्यते । ब्रह्मशब्दोऽपि बृहद्गुणयोगेन तत्रैव वर्त्तते । जगज्जन्मादेश्च कर्मनिमित्तत्वात्तद्धेतुनिर्देशोऽपि तत्रोपपद्यते इति प्राप्ते, आह "सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।" सर्वात्मत्वेन जगज्जन्मादिहेतुत्वेन च निर्दिष्टो ब्रह्मशब्दार्थः परमात्मैव, तस्मादेव सर्वत्र वेदान्तेषु जगज्जन्मादिप्रसिद्धतयोपदेशात् , जगज्जन्मादेर्जीवकर्तृकत्वासम्भवाच्च । "सोऽकामयत बहुस्याम्प्रजायेये"ति, "इदं सर्वमसृजते"त्यादिषु परमेश्वरस्यैव जगद्धेतुत्वप्रसिद्धेः । उक्तञ्च मोक्षधर्मे "कुतः सृष्टमिदं विश्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् । प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह ! ॥ ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः । सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयङ्केन निर्म्मितः ॥"इत्युपक्रम्य, "भृगुणाऽभिहितं शास्त्रं भारद्वाजाय पृच्छते"इत्युक्त्वा, "नारायणाभिधानस्य कूटस्थस्याक्षरात्मनः । अव्यक्तस्याप्रमेयस्य प्रकृतेः परतस्य चे"त्यादिना सर्वभूतोत्पत्तिमुक्त्वा, "ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा । तस्मात्पद्मात्समभवद्ब्रह्मा वेदमयो विधि"रित्युक्त्वा "दुर्विज्ञेयो ह्यचिन्त्यात्मा सिद्धैरपि न संशयः । स एष भगवान्विष्णुरनन्त इति विश्रुतः ॥ सर्वभूतात्मभूतस्थो दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः । अहङ्कारस्य यः स्रष्टा सर्वभूतभवाय वै ॥ यतः सममवद्विश्वं पृष्टोऽहं यदिह त्वये"ति सकलचेतनाचेतनकारणत्वं नारायणस्य ब्रह्मणः श्रीकृष्णस्योक्तम् । तस्मात् परमात्मैवात्र ब्रह्मशब्दवाच्यो न जीवः ॥ १ ॥

सू॰ विवक्षितगुणोपपत्तेश्च । १ । २ । २ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) "मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प" इत्यादीनां विवक्षितानां मनोमयत्वसत्यसङ्कल्पत्वादीनां गुणानां ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

(वे॰कौ॰) "मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर" इत्यादिना ब्रह्मासाधारणधर्मत्वेन वक्तुमिष्टा विवक्षितास्तेषां सत्यसङ्कल्प इत्यादीनां गुणानां ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्च पूर्ववाक्ये ब्रह्मपरिग्रह एव । सर्वमिदं रसपर्यन्तश्चेतनाचेतनात्मकमङ्गीकृतवानित्यभ्यात्तो गाम्भीर्यातिशयात्तूष्णीमासीनः अवाकी अनादर आदरनिरपेक्षः ॥ २ ॥

सू॰ अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ १ । २ । ३ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) मनोमयत्वादिगुणकः पर एव, न जीवस्तस्मिन्मनोमयत्वसत्यसङ्कल्पत्वाद्यनुपपत्तेः ॥ ३ ॥

(वे॰कौ॰) मनोमयत्वेन ब्रह्मैव श्रूयते उपासनार्थं, नतु शारीरः शरीराभिमानी जीवः । कुतः? सत्यसङ्कल्पादीनां जीवेऽनुपपत्तेः । किञ्च जीवे मनोमयत्वादेरप्यनुपपत्तिरस्ति, तथाहि "स क्रतुं कुर्वीत" । कथम्भूतः मनोमयः पुनः प्राणशरीर इति विशेषणं जीवेऽत्र नोपपद्यते, आकाङ्क्षाविरहात्प्रयोजनाभावाच्च । परमात्मनि तु सर्वमुपपद्यते, तथाहि "शान्तः सन्नुपासको मुमुक्षुर्वा फलविशेषकामो वा क्रतुं ध्यानं कर्म वा कुर्वीते"त्युक्तेः। किमाश्रयं ध्यानं कर्म वा कुर्यादित्याकाङ्क्षायां, "सर्वं खल्विदम्ब्रह्मे"ति पूर्वनिर्दिष्टः सर्वात्मा पुरुषोत्तमः क्रतुविषयत्वेनान्वेति, तद्विषयकश्चेदं वाक्यं "मनोमयः प्राणशरीर"इत्यादि । तस्मान्मनोमयत्वादि जीवे न सङ्गच्छते ॥ ३ ॥

सू० कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ १ । २ । ४ ॥

(वे०पा०सौ) इतोप्यत्र मनोमयादिवाच्यो न शारीरः "एतमितः प्रेत्य सम्भवितास्मी"ति कर्मकर्तृव्यपदेशात् ॥ ४ ॥

(वे०कौ०) मनोमयः प्राणशरीरश्चेतोपि शारीरो न ग्राह्यः, कुतः ? "एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मी"ति शारीरस्य कर्तृत्वेनोपासकत्वेन व्यपदेशात् । परमात्मनः कर्मत्वेनोपास्यत्वेन प्राप्यत्वेन च व्यपदेशात् । एतं प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणकमुपास्यं ब्रह्माहं मुमुक्षुरितः शरीरपातादूर्ध्वं प्रारब्धकर्मप्रध्वंसानन्तरं भवितास्मि प्राप्तास्मि । एवं व्यवसायवानुपासको ब्रह्म प्राप्नोतीति श्रुत्यर्थः ॥ ४ ॥

सू० शब्दविशेषात् ॥ १ । २ । ५ ॥

(वे०पा०सौ०) मनोमयत्वादिगुणकः शारीरादन्यः परमात्मा, "एष मे आत्माऽन्तर्हृदये" इति जीवपरमात्मनोः षष्ठीप्रथमान्तशब्दविशेषात् ।५।

(वे०कौ०) इतोऽपि मनोमयत्वादिगुणकः शारीरादन्यः परमात्मा । कस्मात् ? "शब्दविशेषात्"। समानप्रकरणे वाजिनां श्रुतिः–"यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा एवमयमन्तरात्मन् हिरण्मयः पुरुष" इत्यन्तरात्मन्निति सप्तम्यन्तात् शारीरवचनात् हिरण्मयः पुरुष इति प्रथमान्तात् परमात्मवाचकात् शब्दाविशेषात् ॥ ५ ॥

सू० स्मृतेश्च ॥ १ । २ । ६ ॥

(वे०पा०सौ०) "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठती"ति स्मृतेश्च जीवपरमात्मनोर्भेदोऽस्ति ॥ ६ ॥

(वे०कौ०) "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति । सर्वभूतस्थितं यो

मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते। मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय!। मयि सर्वमिदम्प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः। नित्यो नित्यानाञ्चेतनश्चेतनाना"मित्याद्याः श्रुतयोऽप्यत्र चकाराद्ग्राह्याः। एवं स्मृतिभ्यः श्रुतिभ्यश्च जीवब्रह्मणोर्भेदो ज्ञेयः। एवमस्मिन्पादे चतुर्भिः सूत्रैर्भगवता सूत्रकारेण जीवपरमात्मनोर्भेदो दर्शितः। युक्ततमश्चायं श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात्। परमात्मा नित्यमुक्तः सर्वज्ञः स्वाधीनः सर्वव्यापकः समानातिशयशून्यः सर्वात्मा सर्वनियन्ता च। जीवस्तु नित्यज्ञानरूपोऽपि अनादिमायावृतज्ञानधर्मो बन्धमोक्षार्होऽल्पज्ञो हि ब्रह्मांशभूतो भगवत्पराङ्मुखत्वात्स्वकृतैः कर्मभिर्नानायोनिषु बम्भ्रम्यमाणः प्रसिद्ध एव। "स आत्मा, तत्त्वमसि, सर्वं खल्विदम्ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्मे"त्यादिशास्त्रसिद्धोऽभेदोऽपि युक्ततमः। एवं भेदाभेदप्रकारम्भगवान्सूत्रकारः स्वाभिमत"मंशो नानाव्यपदेशादि"त्यादौ वक्ष्यति। तत्रैव निपुणं वक्ष्यामः॥ ६॥

सू० अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च॥ १। २। ७॥

(वे०पा०सौ०) "एष मे आत्मा हृदये" इत्यल्पायतनत्वात् "अणीयान्व्रीहेर्वे"त्यल्पत्वव्यपदेशाच्चात्र न ब्रह्मेति चेन्नैव तथात्वेन ब्रह्मण इहोपास्यत्वात्, बृहतोऽप्यल्पत्वन्तु गवाक्षव्योमवत्सङ्गच्छते॥ ७॥

(वे० कौ०) ननु नेहोपास्यत्वेन ब्रह्म परिगृह्यते, कस्मात्?

"अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च ।" अर्भकम् स्वल्पमोकः स्थानं यस्याराग्रमात्रस्य जीवस्य सोऽयमर्भकौकास्तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्माज्जीवलिङ्गादिति फलितोऽर्थः । "एष मे आत्मान्तर्हृदये" इति हृदयाख्यपरिच्छिन्नस्थानस्थत्वं जीवधर्म एव, न ब्रह्मधर्म इति यावत्। किञ्च "एष अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वे"ति स्वशब्देनैवाणीयस्त्वस्य व्यपदेशाज्जीव एवात्र परिगृह्यते, न ब्रह्मेति चेन्न । कुतः? "निचाय्यत्वादेवम्" एवम् स्वल्पपरिमाणहृदयस्थत्वेन निचाय्यत्वादुपास्यत्वात्परमात्मनस्तथात्वं व्यपदिश्यते । न चैतेन सर्वव्यापकत्वहानिः । अणीयस्त्वञ्च सूक्ष्मत्वेनोपासनाविशेषविवक्षया व्यपदिश्यते । न चैतावताऽल्पपरिमाणापत्तिः "ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा"दित्यादिना भगवतो महत्त्वाभिधानात् । तत्र दृष्टान्तः, यथा खलु सर्वगतमपि व्योमाल्पपरिमाणौकोऽप्यणीयोऽपि सूचीपाशापेक्षया व्यपदिश्यते तद्वत्प्रकृतम्ब्रह्मापीत्यर्थः ॥ ७ ॥

सू० सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ १ । २ । ८ ॥

(वे० पा०सौ०) सर्वहृदयसम्बन्धात्सुखदुःखसम्भोगप्राप्तिर्ब्रह्मणोऽपि जीवस्येवेति चेत् । नायं दोषः, स्वकृतकर्मफलभोक्तृत्वेनापहतपाप्मत्वेन च जीवब्रह्मणोरत्यन्तविशेषात् ॥ ८ ॥

(वे० कौ०) ननु जीवात्मन एकहृदयसम्बन्धान्नानासुखदुःखसम्भोगप्राप्तिः, सर्वगतस्य परमात्मनो युगपत्सर्वहृदयसम्बन्धादवश्यं सर्वत्र सुखदुःखसम्भोगप्राप्तिरेवं सति सुखदुःखभोक्तृत्वेन परस्य जीववत्सर्वे दोषाः प्राप्नुवन्ति, परोऽप्यतः कर्मवश्यवद्भवितुमर्हतीति चेन्न । वैशेष्यात्, विशेष एव वैशेष्यं स्वार्थे ष्यञ् विशेषातिशयद्योतनार्थो वा । जीवस्य स्वकृतकर्मफलभोक्तृत्वम्परमात्मनस्तद्वैलक्षण्यञ्च शास्त्रसिद्धमस्ति, "तत्र यः परमा-

त्माऽसौ सनित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा । कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धः स युज्यते" इति स्मृतेः, "न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहे"ति श्रीमुखवचनाच्च । एवं तयोरत्यन्तं विशेषाज्जीवस्यैव सम्भोगप्राप्तिर्न परमात्मनस्तस्मान्मनोमयः प्राणशरीरः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥८॥
इति सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ १ । २ । ९ ॥

(वे०पा०सौ०) "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम् । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स" इत्यत्राऽत्ता श्रीपुरुषोत्तमः । कुतः ? मृत्यूपसेचनौदनस्य ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितचराचरात्मकस्य विश्वस्य ग्रहणात् ॥ ९ ॥

(वे० कौ०) पूर्वाधिकरणे "सर्वं खल्विदम्ब्रह्म" इत्यादिश्रुतिसमन्वयं ब्रह्मणि प्रदर्श्यान्ते ब्रह्मणः कर्मजन्यसुखदुःखभोक्तृत्वाभावोऽप्युक्तः । इदानीं "यस्य ब्रह्मे"त्यादिश्रुतिसमन्वयं तत्र दर्शयन् तस्य पूर्ववच्चराचरात्तृत्वाभावोऽप्यास्त्विति शङ्कां निराकरोति ।

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्, मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स" इति कठवल्लीषु पठ्यते । अत्रौदनग्रहणेन भोज्यं गृह्यते, यस्येति सम्बन्धनिर्देशेनात्ता गृह्यते, स किमग्निः ? उत क्षेत्रज्ञः ? आहोस्वित्परमात्मा ? इति सन्दिह्यते । त्रयाणामप्यत्र प्रकृतत्वात् । किन्तावद्युक्तमग्निस्तावदत्ताऽस्तु तस्य ब्रह्मक्षत्रादिदहनसामर्थ्यप्रसिद्धेः, "अग्निरन्नाद" इतिश्रुतेश्च । क्षेत्रज्ञो वाऽत्ता स्यात्तस्य भोक्तृत्वप्रसिद्धेः, "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति"श्रुतेश्च, पूर्वाधिकरणे तस्यैव भोक्तृत्वेन निरूपणाच्च । परमात्मनस्त्वनश्नन्निति निषेधश्रुतेः, पूर्वाधिकरणे

सम्भोगप्राप्तिनिषेधाच्च नात्राऽत्तृत्वेन परिग्रह इति प्राप्ते, ब्रूमः । अत्राऽत्ता खलु परमात्मा भवितुमर्हति । कुतो ज्ञायते ? चराचरग्रहणात्, चराचरयोरिहाद्यत्वेन ग्रहणात् । ननु नात्र चराचरशब्दोऽस्तीति चेन्माऽस्तु चराचरशब्दः ब्रह्मक्षत्रग्रहणेनोपलक्षणार्थेन चराचरग्रहणात्, मृत्योश्चराचरान्वयित्वेनोपसेचनविषयस्यौदनस्य चराचरात्मकस्य ग्रहणाच्च, तस्मादत्ता विश्वसंहर्ता परमात्मेति फलितोऽर्थः । नह्यग्नेर्जीवस्य वा कृत्स्नजगदत्तृत्वमुपपद्यते । अनश्नन्निति कर्मफलभोगप्रतिषेधः ॥ ९ ॥

सू० प्रकरणाच्च ॥ १ । २ । १० ॥

(वे० पा० सौ०) अत्ता भगवान्पुरुषोत्तमः, "महान्तं विभु"-मिति तस्यैव प्रकृतत्वाच्च ॥ १० ॥

(वे० कौ०) महान्तं विभुमात्मानं मत्वा "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इत्यादिना परमात्मनः प्रकृतत्वात्, "क इत्था वेद यत्र स" इति परमात्मासाधारणदुर्विज्ञेयत्वालिङ्गाच्चाऽत्ता परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ १० ॥ इत्यत्रधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ १। २। ११॥

(वे० पा० सौ०) "ऋतम्पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टा"वित्यत्र गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ हि चेतनौ हि जीवपरमात्मानौ बोध्यौ । कुतः ? तद्दर्शनात्तयोरेवास्मिन्प्रकरणे गुहाप्रवेशव्यपदेशदर्शनात् "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितमिति" परमात्मनः, "या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायते"ति जीवस्य॥११

(वे०कौ०) पूर्वत्र प्रकृतस्य ध्येयस्य परमात्मनश्चराचरात्तृत्वं क इत्था वेदेति दुर्विज्ञेयत्वं चोक्तमिदानीं तद्भावापत्तिकामं तज्जिज्ञासुं चराचरात्मकसंसारकूपपतितम्मुमुक्षुं प्रति सहचरत्वेन सुलभसुज्ञेयत्वादीन्भगवद्गुणानुपदिशन् ऋतमित्यादिश्रुतिसम-

न्यथम्भगवति दर्शयति।

पूर्वोक्तवाक्यानन्तरं कठवल्लीषु पठ्यते "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः" इति। तत्र संशयः किमिह बुद्धिजीवौ गुहां प्रविष्टाविति निर्दिष्टावुत जीवपरमात्मानाविति। किमत्र युक्तम्? बुद्धिजीवौ भवतः, "गुहां प्रविष्टावि"ति वचनात्। सर्वगतस्य परमात्मनः गुहाप्रवेशासम्भवात्, ऋतं पिबन्ताविति कर्मफलभोक्तृत्वमाप्तकामस्य परस्यासम्भवाच्च। सुकृतस्य लोके स्वनुष्ठितस्य कर्मणः फलभोगायतने लोक्यन्ते भुज्यन्ते कर्मफलान्यस्मिन्निति लोके शरीरे कर्मजन्ये सम्बन्धासम्भवाच्च। किञ्च जीवात्मनो बुद्धिभिन्नत्वेन ज्ञानार्थं "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके, एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽह"मिति प्रश्नदर्शनाच्च। तावत्रास्मिन्मन्त्रे प्रतिपाद्येते इति प्राप्ते। उच्यते। गुहां हृदयलक्षणां प्रविष्टौ आत्मानौ हि चेतनौ एव। ननु जीवात्मनोऽणुत्वेन प्रवेशो युक्तः, परमात्मनो विभुपरिमाणस्य तु गुहाप्रवेशो न सङ्गच्छते इति पूर्वोक्तदोषस्तदवस्थ इति चेन्न। तद्दर्शनात्। व्यापकस्यापि तस्य परमात्मनः स्वानन्यजनेच्छयाऽस्यामेवोपनिषदि "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति, ईशानो भूतभव्यस्ये"ति स्वानन्यजनगुहायां दर्शनविधानात्। "गुहाहितं गह्वरेष्ठं यो वेद निहितं गुहाया"मिति तद्दर्शनाच्च। "या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती सा भूतेभिर्व्यजायते"ति जीवस्य गुहाप्रवेशव्यपदेशाच्च। किञ्च "ऋतं पिबन्ता"वित्यत्र कर्मफलभोक्तृत्वेनैकस्मिन् चेतने निश्चिते सति द्वितीयेनापि चेतनेनैव भाव्यम्। सङ्ख्याश्रवणे सति संख्यावतोर्हि समानजातीयत्वस्य

लोके दर्शनादित्यर्थः । तद्यथा "अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य" इत्युक्ते गौरेवान्विष्यते नाश्वो न गर्दभ" इति महाभाष्ये स्थितम् । यदुक्तं जीवात्मनो बुद्धिभिन्नत्वेन ज्ञानार्थं प्रश्नदर्शनादिति, तस्य प्रश्नस्य तु अन्यदेवोत्तरं नत्विदं वाक्यम् । न-चर्चपानानुपपत्तिरिति वाच्यम् । छत्रिणो यान्तीतिवदृतम्पिबन्ताविति निर्देशस्य सम्भवात्, जीवः पिबति तमपरः पाययतीति प्रयोजककर्तृत्वसम्भवाच्च । यो हि कश्चिद-नन्यशरणस्तत्कृतकर्मफलस्य तदर्पितस्याग्रभुगयञ्जगत्कारणभूतः परमात्मेति सर्वत्र प्रसिद्धेश्च । कर्मजन्यशरीरवर्त्तित्वमपि परस्यैतेन व्याख्यातम् । छाया यथाऽऽतपेनापसारयितुं शक्या, नतु छाययाऽऽतप इत्येवं छायातपौ स्वाधीनपराधीनौ ब्रह्मजीवात्मानावित्यर्थः ॥ ११ ॥

सू० विशेषणाच्च ॥ १ । २ । १२ ॥

(वे०पा०सौ०) जीवपरयोरेवात्र गुहाप्रविष्टत्वेन परिग्रहः, यतोऽस्मिन्प्रकरणे "ब्रह्मयज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति यः सेतुरीजानाना"मित्यादिषु तयोरेवोपास्योपासकभावेन वेद्यत्ववेतृत्वादिना च विशेषितत्वाच्च ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) जीवपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ बोद्धव्यौ, तयोरेव विशेषणाच्च । "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च । सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमम्पदम् । तन्दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाती"त्यादिनाऽस्मिन्ग्रन्थे जीवपरमात्मनोरेव गन्तृगन्तव्यभावेन मन्तृमन्तव्यभावेन च विशेषितत्वादित्यर्थः । तस्माद्गुहाप्रविष्टत्वेनात्र जीवपरमात्मानौ परिगृह्येते, न बुद्धिजीवाविति सिद्धम् ॥ १२ ॥ इति गुहाधिकरणम् ॥ ३ ॥

सू० अन्तर उपपत्तेः ॥ १ । २ । १३ ॥

(वे०पा०सी०) "य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यक्षिण्यन्तरः पुरुषः पुरुषोत्तम एव नान्यः । कुतः ? "एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति एतत्संयद्वाम इत्याचक्षते" इत्यात्मत्वाऽभयत्वादीनां संयद्वामत्वादीनाञ्च पुरुषोत्तमे एवोपपत्तेः ॥ १३ ॥

(वे०कौ०) इदानीं "य एषोन्तरक्षिणी"त्यादिश्रुतिसमन्वयं ब्रह्मणि दर्शयन्पूर्वत्र द्विवचनदर्शनाज्जीवपरमात्मनोर्ग्रहणमिह त्वेकवचनात्कस्य ग्रहणमिति शङ्कां निराकरोति।

छान्दोग्ये उपकोशलविद्यायां श्रूयते "य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति, तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकम् वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छती"त्यादि । तत्र सन्देहः अक्षिमध्यगत उपदिश्यमानः पुरुषः छायात्मकः, उत जीवः, इन्द्रियाधिष्ठातृदेवता वा, आहोस्वित्परमात्मेति। अत्र पूर्वपक्षः दृश्यते इतिवचनात् छायात्मकः पुरुषोऽस्तु छायात्मकस्य दृश्यत्वप्रसिद्धेः, जीवादेरदृश्यत्वात् । यदि दर्शनमत्र शास्त्रीयमित्युच्यते, तदा जीवस्य चक्षुषि रूपद्रष्टृतया सन्निहितत्वादस्तु जीवोऽक्षिण्यन्तरः । चक्षुरधिष्ठातृदेवता वा तादृशपुरुषशब्दाभिधेया "रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठित" इति श्रुतेः सर्वगतस्याक्षिस्थानत्वासम्भवादिति । अत्र ब्रूमः अन्तरः अक्षिमध्यस्थः परमात्मैव, कस्मात् ? उपपत्तेः । आत्मत्वामृतत्वाभयत्वादीनां परमात्मन्येवोपपत्तेः,यद्यप्यात्मत्वादि जीवस्वरूपे नो विरुध्यते तथाऽपि ब्रह्मशब्दस्य सति मुख्यार्थलाभेऽर्थान्तरपरत्वं नोपपद्यते । किञ्चाभयत्वमपि प्रकृताद्ब्रह्मणोऽन्यत्र न सङ्गच्छते "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम" इतिमन्त्रवर्णाच्च । किञ्च "एतं संयद्वाम इत्याचक्षते एतं

हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति, एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति, एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाती''ति-वाक्योक्तानां संयद्वामत्वादीनां परमात्मन्येवोपपत्तेश्च । संयद्वामः संयन्ति वामानि कर्मफलानि यस्मादिति संयद्वामः सर्वकर्मफलोदयहेतुः, एतदेवाह हि यतः एतमक्षिगतं पुरुषं हेतुमाश्रित्य वामान्यभिसंयन्ति उत्पद्यन्ते । एष उ एव वामानि कल्याणानि श्रेयांसि नयति जनं प्रापयतीति वामनीः, एतदेवाह एष हि सर्वाणि वामानि नयतीति । एष उ एव भामनीः भामानि नयतीति भामनीः सर्वप्रकाशकः, एतदेवाह एष हि सर्वेषु लोकेषु भातीति इति श्रुत्यर्थः ॥ १३ ॥

सू० स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १ । २ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) परमात्मनो ''यश्चक्षुषि तिष्ठन्नि''त्यादिश्रुत्या स्थानादिव्यपदेशाच्चाक्षिपुरुषः स एव ॥ १४ ॥

(वे०कौ०) ननु सर्वगतस्य कथमल्पस्थानव्यपदेश इत्यत्राह भगवान्सूत्रकारः ।

अक्षिण्यन्तरः पुरुषः परमात्मैव भवितुमर्हति, कुतः ? ''स्थानादिव्यपदेशात् ।'' ''यश्चक्षुषि तिष्ठन्नि''त्यादिना सर्वकारणकारणस्य सर्वान्तरात्मनः श्रीपुरुषोत्तमस्य सर्वोपास्यस्यैव स्थानव्यपदेशात् , एकदेशवर्त्तिनोऽन्यत्र वासायोगात् । ननु सर्वगतस्य कथमल्पदेशस्थत्वमिति नात्र काचिदनुपपत्तिर्यथा सर्वगोऽप्यग्निः स्वमहिम्ना विद्युदादिरूपेण मेघादौ दृश्यो भवति, तथा सर्वगोऽपि भगवान्स्वासाधारणशक्तियोगादुपासककामपूरणाय चक्षुरादौ दृश्यो भवति । आदिशब्दा''दथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः, स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते, अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योति-

रित्वाधूमकः" इत्यादिषु प्रसिद्धस्य परमात्मानुरूपस्य स्थानवासयोग्यस्य परमात्मविग्रहस्य व्यपदेशात् । पुरुषो दृश्यते इत्यनेन रूपव्यपदेशादित्यर्थः । चशब्देनाक्षिहृदयादिषु यथेष्टरूपेणाविर्भवनसामर्थ्यं दर्शितम् ॥ १४ ॥

सू० सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १ । २ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) अक्षिगतः पर एव "कं ब्रह्म खं ब्रह्मे"ति सुखविशिष्टाभिधानाच्च ॥ १५ ॥

(वे०कौ०) अक्षिपुरुषो जगत्कारणभूतः पुरुषोत्तम एव नान्यः । कुतः ? सुखविशिष्टाभिधानाच्च । "प्राणो ब्रह्म खं ब्रह्म कं ब्रह्मे"त्युपक्रमवाक्ये कं ब्रह्म सुखविशिष्टं ब्रह्मेत्यभिधीयते तदेवात्रान्वेति ॥ १५ ॥

सू० अत एव च तद्ब्रह्म ॥ १ । २ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) तत्कं ब्रह्मेति सुखविशिष्टं ब्रह्मैव, कुतः ? "यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव क"मिति परस्परवैशिष्ट्यप्रतिपादकवाक्यादेव च ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) ननु कमितिशब्दो वैषयिकसुखे रूढः, कथं सुखविशिष्टं ब्रह्मेत्युच्यते, इत्यत्राह भगवान् वेदाचार्य्यः ।

तद्ब्रह्म तस्मिन्नुपक्रमवाक्ये सुखविशिष्टं ब्रह्मैवाभिधीयते, नतु वैषयिकसुखम्, कुतः ? अत एव च । "यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव क"मितिपरस्परवैशिष्ट्यबोधकात् वाक्यादेव च । नहि वैषयिकसुखस्य खशब्दबोधिते व्यापके वस्तुनि अभिन्नत्वेनान्वयः सङ्गच्छते ॥ १६ ॥

सू० श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १ । २ । १७ ॥

(वे०पा०सौ०) श्रुतोपनिषत्त्वेन तस्य श्रुतोपनिषत्कस्य या गति-

देवयानाख्या "अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते, एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्ते" इतिश्रुत्यन्तरे प्रसिद्धा । "तस्या एवेह तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्ती"त्यादिना गतेरभिधानाच्चाक्ष्यन्तरः पुरुषः पुरुषोत्तम एव ॥ १७ ॥

(वे०कौ०) इतश्चाक्ष्यन्तरः पुरुषः परमात्मेत्याह भगवान्सूत्रकारः ।

उपनिषीदति विशीर्यते बन्धनं यस्याः सकाशात्सा उपनिषत्परमात्मविद्या । यद्वा उपनिषीदति परमात्मानं प्रापयति या परमात्मविद्या सा उपनिषत् । तत्सम्बन्धाद्ग्रन्थोऽप्युपनिषत् । आचार्य्यमुखाच्छ्रुता उपनिषद्येन स हि श्रुतोपनिषत्कः सरहस्यब्रह्मवित्, तस्य श्रुत्यन्तरे स्मृतिषु च प्रसिद्धा या गतिः औपनिषद्ब्रह्मप्राप्तिमार्गः, सा हि गतिः अक्ष्यन्तरपुरुषविदः खलु इहापि श्रूयते । तस्माच्चापि श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानादक्षिपुरुषः परमात्मेत्यर्थः । तथाहि "अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्ते, एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्त" इति श्रुत्यन्तरेण, "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना" इति स्मृत्या च या गतिर्विदुषो ब्रह्मप्राप्तये दर्शिता सैवाक्षिपुरुषविदः श्रूयते "अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदु च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्ति । अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयतीत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमम्मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इति । तस्माद्-

थिपुरुषः परमात्मैव । श्रुत्यर्थस्तु अथ देहपातानन्तरमुत्तरेणार्चिरादिमार्गेणादित्यमभिजयन्ते प्राप्नुवन्ति । ततश्चन्द्रादिद्वारा वक्ष्यमाणक्रमेण ब्रह्मभावापत्तिं प्राप्नुवन्ति । किं कृत्वा ? तपसा त्रिविधेन भगवदुक्तेन, यद्वा तपसा वानप्रस्थसंन्यासिधर्मेण, उभयोस्तपःप्रधानत्वात् । श्रद्धयाऽऽचार्य्यचरणार्चनपरया मनोवृत्त्या विद्यया वेदान्तश्रवणमननाभ्यां समुद्भूतया "निदिध्यासितव्य" इतिश्रुत्युक्तध्यानाख्ययाऽऽत्मानमन्विष्यानुसन्धायेत्यन्वयः । वेदान्तश्रवणमननाद्यनुगुणमाश्रमविशेषं दर्शयति, ब्रह्मचर्येणेति । ब्रह्मचर्यादिना त्वत्र केवलाश्रमधर्मो न ग्राह्यः । ब्रह्मनिष्ठावर्जितानां केवलाश्रमिणां वर्णाश्रमधर्मनिष्ठानां पुनरावृत्तिलोकप्राप्तिर्भगवता श्रीपराशरेण "प्राजापत्यं ब्राह्मणाना"मित्यादिना, "ब्राह्मं संन्यासिनां स्मृत"मित्यन्तेनोक्ता । तत्र ये परब्रह्मनिष्ठास्तेषां तु तत्पदप्राप्तिः "एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये । तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरय" इत्यनेनोक्ता, अतः परब्रह्मनिष्ठा वानप्रस्थादयो बोध्याः । ब्रह्मचर्यं च नैष्ठिकानां निरस्तैहिकामुष्मिकभोगैषणानामूर्द्ध्वरेतसामभीष्टो धर्मोऽत्राभिप्रेतः, तेन ब्रह्मचर्येणाव्यभिचारिधर्मेण ब्रह्मान्वेषणं सङ्गच्छत इत्यर्थः । उक्तोऽयं ब्रह्मचर्याख्यो धर्मः सर्वैर्ज्ञैर्मोक्षधर्मे वार्ष्णेयाध्यात्मे "यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमखण्डितम् । परं तत्सर्वधर्मेभ्यस्तेन यान्ति परां गति"मिति । आनुशासनिके "ब्रह्मचर्यस्य तु गुणाञ्शृणु तात युधिष्ठिर ! । आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी दृढव्रतः ॥ न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ! । बहुघः कोट्यस्त्वृषीणाञ्च ब्रह्मलोके वसन्त्युत ॥ सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्द्ध्वरेतसाम् । ब्रह्मचर्यं परो धर्मः सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥ ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन्सर्वपापान्युपासि-

त''मित्यादि । ''यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमी''ति श्रुतेः ''यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये'' इति श्रीमुखवचनादपि मुख्यं परमपदसाधनं ब्रह्मचर्यमेव । ''आवृत्तिरसकृदुपदेशा''दिति वक्ष्यमाणा साधनावृत्तिरपि नैष्ठिकेनैव कर्तुं शक्या । अर्चिरादिमार्गेण प्राप्यं जिज्ञास्यं ब्रह्म निरूपयति श्रुतिः ''एतद्वै'' इत्यादिना । अथेति । अस्मिन्मृते सति शव्यं शवोचितं कर्म कुर्वन्ति, यदि वा न कुर्वन्ति, उभयथाप्यप्रतिहतगतयो विद्वांसो भगवद्भावापत्तिकामाः अर्चिराद्यभिमानिनीं देवतां प्राप्नुवन्ति । तद्द्वारा दिनं ततः क्रमात्पक्षोत्तरायणसम्वत्सराभिमानिभिर्देवैर्वायुं देवलोकरूपं ततः सूर्यं सोमं वैद्युतं जलेशमिन्द्रलोकं ततः प्रजापतिलोकं प्राप्नुवन्ति । ततः प्राकृतमण्डलं भित्त्वा परमधामसीमानं सरिद्वरां विरजां प्राप्नुवन्ति । तदनन्तरं तां नदीं तीर्त्वा परमव्योम परमधाम ब्रह्मलोकादिसंज्ञं पूर्वोक्तलक्षणं भगवत्पराङ्मुखैर्दुर्गमं विष्णुलोकं प्रविश्य ब्रह्मभावापन्ना विहरन्तीति फलितोऽर्थः । एतद्धि चतुर्थाध्याये निपुणं वक्ष्यामः । इत्येष देवपथः देवैरातिवाहिकैरुपलक्षितत्वाद्देवपथः ब्रह्मणो जिज्ञास्यस्य प्राप्यस्य मार्गः ब्रह्मपथः । एतेन मार्गेण ब्रह्म प्रतिपद्यमाना इमं मानवं मनुसर्गोपलक्षितं प्राकृतं लोकमावर्तं पुनरावृत्तियुक्तं नावर्तन्ते कर्मवशान्न प्रविशन्ति, '' आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ! । मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते'' इतिश्रीमुखोक्तेः । लोकस्य प्रकृतिमण्डलभिन्नत्वमुक्तं मोक्षधर्मे जैगीषव्यासितसम्वादे ''किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किम्पराक्रमः । प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परम्प्रकृतेर्ध्रुव''मित्युपक्रम्य, ''प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुव''मित्युपसंहारेण ॥ १७ ॥

सू० अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १ । २ । १८ ॥

(वे०पा०सौ) अक्ष्यन्तरः परमात्मेतरो न भवति, कुतः ? तदितरस्य तत्र नियमेननावस्थितेरमृतत्वादेस्तत्रासम्भवाच्च ॥ १८ ॥

(वे० कौ०) इतरः प्रतिबिम्बात्मा वा, शरीराभिमानी जीवो वा, चक्षुरधिष्ठात्री देवता वा, परमात्मेतरो न कोऽप्यक्ष्यन्तरः पुरुषः । कस्मात् ? अनवस्थितेः । परमात्मेतरस्य चक्षुषि नियमेनावस्थानाभावात्, प्रतिबिम्बस्य पुरुषान्तरसंनिधानाधीनत्वात्, जीवस्य कृत्स्नेन्द्रियसम्बन्धवत्त्वात्, देवतायाश्च रश्मिद्वारेणावस्थितिवचनात्, तदन्यतमेऽमृतत्वाभयत्वसंयद्वामत्वादीनां चासम्भवात् परमात्मैवाक्ष्यन्तरपुरुषत्वेनोपास्य इति सिद्धम् ॥ १८ ॥ इत्यन्तरधिकरणम् ॥ ४ ॥

सू० अन्तर्याम्यधिदेवादिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १ । २ । १९ ॥

(वे०पा०सौ०) "यः पृथिव्यां तिष्ठन्नित्युपक्रम्य "एष ते आत्मान्तर्यामी"ति पृथिव्याद्यधिदेवादिसर्वपर्यायेषु श्रूयमाणोऽन्तर्यामी परमात्मैव, कुतः ? तद्धर्मस्य सर्वनियन्तृत्वादेरिह व्यपदेशात् ॥ १९ ॥

(वे०कौ०) इदानीं खल्वक्ष्यन्तरपुरुषश्रुतिसमन्वयवदन्तर्यामिश्रुतिरपि ब्रह्मपरा नान्यपरेत्याह ।

बृहदारण्यकेऽन्तर्यामिब्राह्मणे "य इमञ्च लोकम्परञ्च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयती"त्युपक्रम्य, "यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यम्पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवी मन्तरो यमयत्येष ते आत्मान्तर्याम्यमृत" इत्यादिना पृथिव्यग्न्यन्तरिक्षाकाशादिष्वधिदेवादिसर्वपर्यायेषूच्यमानस्तदनन्तरं च "यः सर्वेषु लोके"ष्वित्यादिना "य आत्मनी"-

त्यन्तेनाधिलोकाधिवेदाधियज्ञाधिभूताध्यात्मविधायकेन ग्रन्थेनोपदिश्यमानः कश्चिदन्तरवस्थितो यमयिताऽन्तर्यामी किं देवतात्मा, किंवा जीव, आहोस्वित्सर्ववेदैकवेद्यः परमात्मेति । किं तावद्युक्तम् ? अभिमानिनी देवता स्याज्जीवो वा स्यात्सर्वत्र तयोः सत्त्वात् इति । अत्रोच्यते । पृथिव्यग्न्यन्तरिक्षाकाशवाय्वादित्यादिष्वधिदेवादिसर्वपर्यायेषूच्यमानोऽन्तर्यामी परमात्मैव भवितुमर्हति, कस्मात् ? तद्धर्मव्यपदेशात् । तस्य धर्मास्तद्धर्मास्तेषां व्यपदेशात् । अत्र हि सर्वलोकवेदयज्ञभूतप्राणात्मादिनियमयितृत्वादीनां सर्वान्तर्यामित्वामृतत्वादीनाञ्च परमात्मनोऽसाधारणधर्माणां व्यपदेशात् , अतो न देवतापरिग्रहः । देवताऽपि जीव एव, तत्रोक्तधर्मायोगात् "यं पृथिवी न वेदे"ति पृथ्वीदेवतयाऽविज्ञेयत्वोक्त्यनुपपत्तेश्च । नापि जीवोऽन्तर्यामी, तत्राप्युक्तधर्मायोगात् "एष ते आत्मान्तर्यामी"त्यत्र भेदनिबन्धनया षष्ठ्याऽन्तर्यामिभिन्नत्वेन तन्निर्देशात् ॥ १९ ॥

सू० नच स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १ । २ । २० ॥

(वे०पा०सौ०) नच प्रधानमन्तर्यामिशब्दवाच्यं, चेतनधर्माणां सर्वनियन्तृत्वसर्वद्रष्टृत्वादीनां चाभिलापात् ॥ २० ॥

(वे०कौ०) यद्यपि प्रधान"मीक्षतेर्नाशब्दमि"त्यत्र निरस्तमेव तथाप्यदृष्टत्वादिधर्मसम्भवमाशङ्क्य पुनर्निरस्यते । स्मार्तं साङ्ख्यस्मृतिप्रतिपन्नं प्रधानं न चान्तर्यामिशब्दवाच्यम् । कुतः ? अतद्धर्माभिलापात् । तस्य धर्मस्तद्धर्मः न तद्धर्मोऽतद्धर्मः चेतनधर्म इत्यर्थः, तस्य "अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाते"तिवाक्यशेषेऽभिलापादभिधानात् । सर्वात्मत्वसर्वनियमयितृत्वादनाञ्च चेतनधर्माणां कथनान्न प्रधानसम्भवः ॥ २० ॥

सू० शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते। १। २। २१॥

(वे०पा०सौ०) नच जीवोऽन्तर्यामी. यतश्चैनमन्तर्यामिणो भेदेन "यो विज्ञाने तिष्ठन्नि"ति काण्वाः, "य आत्मनी"ति माध्यन्दिनाश्चोभयेऽप्यधीयते॥ २१॥

(वे०कौ०) ननु माऽस्त्वचेतनमन्तर्यामिशब्दवाच्यं चेतनो जीवोऽस्तु, तस्य द्रष्टृत्वादिधर्मोपपत्तेरित्यत्रोच्यते।

अत्र नकारः पूर्वसूत्रादनुवर्त्तते। नच शारीरः शरीरे स्वकृतफलभोगायतने प्रविष्टो जीवोऽन्तर्यामिशब्दवाच्यः, सर्वात्मत्वसर्वनियन्तृत्वसर्वद्रष्टृत्वादीनामतद्धर्मत्वात्। हि यतः काण्वा माध्यन्दिनाश्चोभयेऽपि एनं शारीरमन्तर्यामिणो नियमयितुर्भेदेन पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते "यो विज्ञाने तिष्ठन्नि"ति काण्वाः, "यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स ते आत्माऽन्तर्याम्यमृत" इति माध्यन्दिनाः। "नान्योतोऽस्ति द्रष्टे"ति द्रष्ट्रन्तरनिषेधात्सर्वद्रष्टा श्रीपुरुषोत्तम एव, अतोऽन्यः सर्वद्रष्टा नेत्यर्थः। "पुरुष एव द्रष्टा श्रोते"त्यादिश्रुतिवेद्यो ब्रह्मापेक्षयाऽल्पद्रष्टा जीव इति विवेकः। अत्रापि श्रुतिसूत्राभ्यां जीवब्रह्मणोर्भेदः स्वरूपेण प्रतिपादितः। स च भेदस्तार्किकमते यथा जीवेश्वरयोस्तथेह न प्रतिपत्तव्यः, किन्त्वे"कमेवाद्वितीयम्ब्रह्मे"तिश्रुत्युक्तस्यैकस्यैव समाभ्यधिकशून्यस्य नियन्तुरनन्तशक्तेः कल्याणगुणैकसिन्धोर्ब्रह्मणोऽशभूतः। उपोद्घातप्रकरणे उदाहृतलक्षणो जीवात्मा वेदोक्तेन स्वासाधारणधर्मेण नियम्यत्वादिना भिन्नोऽपि स्वनियन्तुः सकाशात् गुणो यथा गुणिभिन्नस्तथा(पि) स्वाधीनास्थितिप्रवृत्त्यनर्हत्वादेकत्वाद्वितीयत्वादिस्वांशिधर्माविरोधित्वाच्चाभिन्नः। तत्र बन्धमोक्षार्हत्वाल्पज्ञत्वादयो धर्मा अंशगताः, नित्यमुक्तत्वसर्वज्ञत्वानावृतत्वमुक्तग-

म्यत्वादयो धर्मा ब्रह्मासाधारणाः, नात्र गुणसाङ्कर्यदोषः । एवमचेतनशक्तेर्जडत्वपरिणामित्वादयोऽसाधारणधर्माः, सर्वशक्तिमत्त्वसर्वज्ञत्वादयः शक्तिमतो ब्रह्मणोऽसाधारणाः, शक्तित्वेन प्रकृतेर्ब्रह्मभिन्नत्वेऽपि शक्तेः पृथक्प्रवृत्त्याद्यभावाद्ब्रह्माभिन्नत्वम् । एवमौपनिषदानां भेदाभेदस्तत्त्वसम्बन्धः ॥२१॥ इत्यन्तर्याम्यधिकरणम् ५

सू० अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः । १ । २ । २२ ॥

(वे०पा०सौ०) आथर्वणिकैरुदाहृतः "अदृश्यमि"त्यादिनाऽदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव, कुतः ? "यः सर्वज्ञ"इत्यादिना तद्धर्मोक्तेः।२२।

(वे०कौ०) पूर्वाधिकरणे द्रष्टृत्वादिचेतनधर्मबलान्निरस्तं प्रधानमिदानीं तदभावादस्त्वत्र प्रधानपरिग्रह इत्याक्षेप"मथ परा यया तदक्षर"मित्यादिश्रुतिसमन्वयम्ब्रह्मणि दर्शयन्निराकरोति ।

अथर्वणे "द्वे विद्ये वेदितव्ये" इत्युक्तम् । तत्र ऋग्वेदादिलक्षणा कर्मविद्याऽपरा, तदपेक्षया परां ब्रह्मविद्यामुपदेष्टु"मथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते, यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः, अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः पर" इत्याद्याम्नायते । तत्र संशयः किमत्रादृश्यत्वादिगुणकं भूतयोन्यक्षरं प्रधानमुत जीवः, किंवा परमात्मेति । अत्र पूर्वपक्षः प्रधाने जीवे चादृश्यत्वादीनां सम्भवात् प्रधानस्य भूतयोनित्वसिद्धेः, जीवेऽपि स्वकृतैः कर्मभिर्देहादिकारणीभूते तथात्वसम्भवाच्चोभयान्यतरस्तथाऽस्त्विति । अत्राभिधीयते । अदृश्यत्वादिगुणकः भूतयोनिः अक्षरः परमात्मैव, कुतः ? धर्मोक्तेः "यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपस्तस्मादेत ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायत" इति परमात्माव्यभिचारिधर्मस्य सर्वज्ञत्वादेर्भूतयोन्यक्षरगुणविधानाय निर्देशात् । ननु नेदं युक्तं यत"स्तदक्षरमधिग-

म्यत" इत्यक्षरमुदाहृत्य, पुनश्च "क्षरात्परतः पर" इत्यक्षरमवधिं कृत्वा, परशब्दार्थः "यः सर्वज्ञ" इत्यादिना परमात्माऽभिधीयते, यद्यत्रपूर्वेणाक्षरशब्देन परमात्मा श्रूयते तर्हि अक्षरात्परतः पर इति कथं घटेत, नहि स्वस्य स्वस्मात्परत्वं सङ्गच्छते, प्रकृताजगत्कारणादक्षराद्ब्रह्मणः परतत्त्वाभावाच्च "मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय !" इति भगवद्वचनात्, "पुरुषान्न परं किञ्चि"दिति श्रुतेश्च, तस्मात्पूर्वाक्षरशब्दार्थः प्रधानं जीवो वाऽस्तु, तस्मादक्षरात्परतः परः परमात्मा सर्वज्ञो भवत्विति चेन्न । द्वितीयाक्षरशब्दस्य परमात्मपरत्वाभावात् । तथाहि "अपरा यया तदक्षरमधिगम्यते" इति पराख्यया विद्ययाऽक्षरं परं ब्रह्मैवेति गम्यते, नह्यन्या विद्या परा भवितुमर्हति, तथाच "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् । यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ति सरूपास्तथाक्षराद्विविधाः सौम्यभावाः"इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धमक्षरशब्दवाच्यं परमात्मान"मथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" इत्यादिनाऽदृश्यत्वादिगुणकमक्षरमुपक्रम्य, पुनस्तद्गुणस्वरूपप्रतिपादनायाऽक्षरात्स्वांशभूताज्जीवात्परतः स्वशक्तेः प्रधानाच्च परस्तयोर्नियन्तेत्यभिधीयते । यद्वाऽश्नुते व्याप्नोति स्वविकारजातमित्यक्षरं तस्मादक्षरात्परतः स्वविकारापेक्षयोत्कृष्टात् प्रधानात्परः परमात्मेत्यर्थः । यद्वाऽक्षरात्प्रधानात्परः समष्टिपुरुषः तस्मात्परतः पुरुषात्परः परमपुरुष इत्यर्थः ॥२२॥

सू० विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ १ । २ । २३ ॥

(वे०पा०सौ०) प्रधानजीवौ न भूतयोन्यक्षरपदवाच्यौ, विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम् । सर्वगतमिति विशेषणव्यपदेशः, "अक्षरात्परतः पर" इति भेदव्यपदेशश्च ॥ २३ ॥

(वे०कौ०) इतरौ प्रधानपुरुषौ न भूतयोन्यक्षरनिर्दिष्टौ, किन्तु परमात्मैव, कस्मात्? विशेषणाद्भेदनिर्देशाच्च। विषयवाक्ये सर्वगतमिति विशेषणं प्रधानजीवाभ्यां भूतयोन्यक्षरं व्यावर्त्तयति तस्मात्, "अक्षरात्परतः पर" इत्यादिना भूतयोन्यक्षरस्य ताभ्यां भेदश्च व्यपदिश्यते तस्माच्च॥ २३॥

सू० रूपोपन्यासाच्च॥ १। २। २४॥

(वे०पा०सौ०) "अग्निर्मूर्द्धे"त्यादिना परमात्मनो रूपोपन्यासाच्च नेतरौ॥ २४॥

(वे०कौ०) सोऽयं भूतयोन्यक्षरः सर्वकारणकारणः चिदचिच्छक्तिमान्स एव चिदचिच्छक्तिभ्यामन्तर्यामिरूपेण च स्थितः कार्यावस्थः स्पर्द्धासूयादिदोषवर्जितैर्मुमुक्षुभिर्ध्येय इति दर्शयितुं विश्वं भगवद्रूपमित्याह।

भूतयोन्यक्षरः परमात्मैव, नेतरौ। कुतः? रूपोपन्यासात् "अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा, वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मे"ति परमात्मन एवान्तर्यामिणः सर्वचेतनाचेतनात्मकः प्रपञ्चो रूपत्वेनोपन्यस्यते। प्रधानजीवपरिग्रहे तु नैतादृशो रूपोपन्यासो घटते। तस्माच्च भूतयोन्यक्षरः श्रीपुरुषोत्तम इति सिद्धम्॥ २४॥ इत्यदृश्यत्वाधिकरणम्॥ ६॥

सू० वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्॥ १। २। २५॥

(वे०पा०सौ०) वैश्वानरः परमात्मैव, यतोऽग्निब्रह्मसाधारणस्यापि वैश्वानरशब्दस्य ब्रह्मपरिग्रहे द्युमूर्द्धत्वाद्यवयवविधानेन विशेषावगमात्॥ २५॥

(वे०कौ०) एवञ्चराचरात्मकत्वेन भगवानुपास्य इत्युक्तमिदानीं वैश्वानरत्वेनापि तथैव भगवानेवोपास्य इति वदन् "को न आत्मा किम्ब्रह्मे"त्यादिश्रुतिसमन्वयं भगवत्याह।

छान्दोग्ये श्रूयते "को न आत्मा किम्ब्रह्मे"ति "आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि(१), तमेव नो ब्रूही"ति चोपक्रम्य, "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमान(२)मात्मानं वैश्वानरमुपास्ते, स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति, तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य (३)मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिः लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय" इत्यादि । तत्र संशय्यते । किमत्र वैश्वानरो जाठराग्निरुत भूताग्निरुताग्न्यभिमानिदेवताऽऽहोस्वित्परमात्मेति । अत्र पूर्वः पक्षः साधारणो हि वैश्वानरशब्द इति । कुतः ? जाठरेऽग्नौ "अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते, यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति, यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोती"ति प्रयोगात् । भौतिकेऽग्नौ च "विश्वस्मा(४) अग्निं भुवनाय देवाः वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्नि"ति प्रयोगात् । तद्देवतायाञ्चापि "वैश्वानरस्य(५) सुमतौ स्याम राजाहिकं भुवनानामभिश्री"रिति प्रयोगात् । परमात्मनि च "तदात्मन्येव हृदयगे वैश्वानरे प्रायः स्यात्स एष वैश्वा-

(१) सर्वदा ध्यायसि ।

(२) आभिमुख्येन सर्वं मिमीते जानातीति तम् ।

(३) वैश्वानरस्य मूर्द्धा सुतेजा द्यौः, चक्षुर्विश्वरूपसूर्य्यः । प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा वायुः । सन्देहो देहमध्यं, बहुलः आकाशः । बस्तिर्मूत्रस्थानं, रयिर्धनं जलमित्यर्थः । पादौ पृथिवी । वैश्वानरस्य होमाधारत्वसम्पादनार्थमुर इत्यादि ॥

(४) देवाः विश्वस्मै भुवनाय वैश्वानरं अह्नां केतुं चिह्नं सूर्यं अकृण्वन् कृतवन्तः ॥

(५) वैश्वानरस्याग्न्याधिष्ठातृदेवस्य सुमतौ स्याम वयं भवेम यतः भुवनानां राजा कं सुखहेतुः अभिमुखा श्रीरस्य स तथा ॥

नरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयन" इति प्रयोगाच्चेति । अत्र ब्रूमः । वैश्वानरः श्रीपुरुषोत्तम एव, कस्मात् ? साधारणशब्दविशेषात् । औदर्यभूताग्निदेवतापरमात्मसु साधारणस्यापि शब्दस्य वैश्वानरस्य परमात्मपरत्वे विशेषात् । येन विशेषेण पुरुषोत्तमो वैश्वानरशब्दस्येह मुख्यार्थः स्यात्सविशेषोऽत्र विद्यते "एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजा" इत्यादिविशेषावगमादित्यर्थः । तस्मात्सर्वसाधारणोऽपि वैश्वानरशब्दोऽत्र विशेषतस्तु परमात्मपरः । जाठरादेर्द्युप्रभृतयः पृथिवीपर्य्यन्ता अवयवा नोपपद्यन्ते, तस्य सर्वात्मत्वाभावात् । साधारणशब्दस्याप्यस्मिन्प्रकरणे परमात्मासाधारणैः "को न आत्मा किम्ब्रह्मे"त्युपक्रमादिस्थैः सर्वात्मत्वादिविशेषणैर्विशिष्यमाणत्वाच्च ॥ २५ ॥

सू० स्मर्यमाणमनुमानं स्यात इति ॥ १ । २ । २६ ॥

(वे०पा०सौ) परमात्मनो हि वैश्वानरत्वे "यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धे"त्यादिस्मृत्युक्तमपि रूपं निश्चायकं स्यात् ॥ २६ ॥

(वे०कौ०) इतिशब्दो हेतुपरः । इतश्च वैश्वानरः परमात्मैव, यतो हि वैश्वानरशब्दस्य परमात्मपरत्वे स्मर्यमाणमनुमानं स्यात् । "मूर्द्धैव सुतेजा" इत्याद्याः श्रुतेरर्थभूतं द्युमूर्द्धत्वादिविशिष्टं रूपं श्रुत्यनुवर्त्तिन्या स्मृत्याऽप्युक्तं स्मर्यमाणमित्युच्यते, तदेवानुमानमनुमापकं निश्चायकं स्यादित्यर्थः । स्मृतिस्तु "यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः । सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नम" इति, "द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे । दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ महीञ्च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेते"ति च । अत एव "श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे विप्राणाम्परिकीर्तिते । एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः" इत्युक्तम् ।

यद्वा "अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ"रित्यादिश्रुत्यन्तरेषूक्तस्मृतिषु च परमात्मरूपतया प्रसिद्धमेवेह तदिदमिति स्मर्यमाणं प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वेऽनुमानं लिङ्गं स्यादित्यर्थः ॥ २६ ॥

सू० शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते । १ । २ । २७ ॥

(वे०पा०सौ) जाठराग्नौ वैश्वानरशब्दस्य रूढत्वादग्नित्रेताविधानात्प्राणाहुत्याधारत्वसङ्कीर्तनादन्तःप्रतिष्ठानश्रवणाच्च न वैश्वानरः परमात्मा, किन्तु जाठराग्निरिति चेन्न । तथा तस्मिन् जाठरे परमेश्वरदृष्टेरुपदेशात्, परमात्मपरिग्रहाभावे द्युमूर्द्धत्वाद्यसम्भवात्, पुरुषत्वश्रवणाच्च वैश्वानरः परमात्मैव ॥ २७ ॥

(वे०कौ०) ननु नेह वैश्वानरशब्देन परमात्मा वक्तुं शक्यः, कौक्षेयाग्निर्वक्तव्यः, कुतः ? शब्दादिभ्यः, शब्द आदिर्येषां हेतूनां ते शब्दादयस्तेभ्यः, शब्दस्तत्र वैश्वानरः, स हि रूढ्या वृत्त्या कौक्षेयाग्निपरः, सति शक्यार्थेऽर्थान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्, अग्निशब्दाद्वाजसनेयके "एषोऽग्निर्वैश्वानर" इत्यग्निशब्दसामानाधिकरण्यात्, "हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्याहार्य" इत्याद्यग्नित्रेताव्यपदेशाच्च, "तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीय"मिति प्राणाहुत्याधारत्वश्रवणाच्च, अन्तःप्रतिष्ठानाच्च, विशेषतः औदर्याग्नेर्लिङ्गात्, अन्तःप्रतिष्ठितत्वं वैश्वानरस्यामनन्ति वाजसनेयिनः "स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेदे"ति, इत्येवंविधेभ्यः शब्दादिहेतुभ्यः, अन्तःप्रतिष्ठानाच्च न परमात्मनो हि परिग्रह इति चेन्न । तथादृष्ट्युपदेशात् । तथाभूतेऽर्थे परमात्मदृष्टेरुपासनाया उपदेशात्, जाठराग्निविशिष्टपरमात्मोपासनविधानात्, पूर्वोक्तस्य परमात्मनो वैश्वानरस्य सर्वात्मतया जाठरा-

दौ तदात्मत्वेनोपदेशात् । ननु तर्हि जाठराग्निरेव मुख्यो वैश्वानरोऽस्तु, नेत्याह असम्भवात् । द्युमूर्द्धत्वादेर्जाठरेऽसम्भवात् सर्वात्मनो भगवत एवोपपद्यते तथात्वं, नान्यस्येत्यर्थः । अपि चैनं वैश्वानरं वाजसनेयिनः पुरुषमधीयते "स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुष" इति । परमात्मनः पुरुषत्वं सर्वात्मत्वादुपपद्यते, केवलजाठराग्निपरिग्रहे तु नोपपद्यते । चशब्दः प्रसिद्धिपरः । परमात्मनः पुरुषत्वं "पुरुष एवेदं सर्वं, पुरुषान्न परं किञ्चि"दित्यादिशास्त्रप्रसिद्धमित्यर्थः ॥ २७ ॥

सू० अत एव न देवता भूतञ्च ॥ १ । २ । २८ ॥

(वे०पा०सौ) उक्तहेतुभ्य एव देवता भूतञ्च न गृह्यते वैश्वानरशब्देन ॥ २८ ॥

(वे०कौ०) अत एव उक्तेभ्यो हेतुभ्य एव अग्न्यभिमानिनी देवता वैश्वानरशब्देन न गृह्यते । भूतञ्च भूताग्निश्च न गृह्यते ॥२८॥

सू० साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ १ । २ । २९ ॥

(वे०पा०सौ) विश्वश्चासौ नरश्च सर्वात्मा भगवान् वैश्वानर इति साक्षादुपास्य इत्यविरोधं जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ २९ ॥

(वे०कौ०) एवं खलु तावत्सामान्यशब्दविशेषादिहेतुभ्यो वैश्वानरशब्दो ब्रह्मणि नीतः । पुनः शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च जाठराग्निपर इत्याशङ्क्य विरोधपरिहाराय तथादृष्ट्युपदेशादिभिर्हेतुभिः पुनर्जाठराग्निविशिष्टे ब्रह्मण्येव योजितोऽथ यौगिकोऽयं ब्रह्मणि वैश्वानरशब्द इति दर्शयन्पूजार्थमाचार्यान्तरसम्मतिमाह ।

जैमिनिराचार्यो हि वैश्वानरशब्दस्य जाठरविशिष्टदृष्टिं विनापि परमात्मासाधारणगुणविवक्षया साक्षात्परमात्मपरत्वात्साक्षाद्वैश्वानरः परमात्मैवोपास्य इत्यविरोधम्मन्यते । विश्वश्चासौ नरश्च सर्वात्मत्वात्, विश्वेषां नरो नेता वा सर्वकारणत्वात्, विश्वे

नरा नियम्या यस्य वा सर्वनियन्तृत्वादिति वैश्वानरः। "नरे संज्ञाया"मितिदीर्घः राक्षसवायसादिवत्स्वार्थे तद्धितः। अग्निर्वैश्वानरशब्दयोः सामानाधिकरण्यमप्युपपद्यते। अङ्गति हृत्पुण्डरीके ध्येयत्वेन गच्छत्याविर्भवतीत्यग्निः, "अङ्गेर्नलोपश्चे"ति निर्नलोपश्च। यद्वा अङ्गयति गमयति विश्वस्याग्रं जन्म प्रापयतीत्यग्निः॥२९॥

सू० अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः॥ १ । २ । ३० ॥

(वे०पा०सौ०) उपासकानामनन्यानामनुग्रहायानन्तोऽपि परमात्मा तत्तदनुरूपतयाऽभिव्यज्यते इति प्रादेशमात्रत्वमुपपद्यते, इत्येवमभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यो मुनिर्मन्यते ॥ ३० ॥

(वे०कौ०) आश्मरथ्याचार्यानुमत्या प्रादेशमात्रश्रुतिं व्याचष्टे।

"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इत्यत्राभितः परितो विगतो मानः परिच्छेदो यस्य तस्यानवच्छिन्नस्यापि श्रीपुरुषोत्तमस्य प्रादेशमात्रमङ्गुष्ठतर्जनीप्रस्तारपरिमितत्वमुपपद्यते। कथम्? अभिव्यक्तेः। अनन्यशरणानामनुग्रहाय भगवान् हृत्पुण्डरीके नित्यानन्दाप्राकृतविग्रहेण प्रादेशपरिमाणेन निजभक्तेच्छापूर्वकेण स्तम्भे नृहरिरिवाभिव्यज्यते, इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते।

यद्वा स्थूलबुद्धेरुपासकस्यानुग्रहाय स्थूलेष्वेव प्रदेशेषु द्युलोकादिषु मीयते, तद्बुद्ध्यनुरूपत्वेन सर्वगोऽपि परिच्छिद्यते, तत्र तत्राभिव्यज्यते इत्येवमभिव्यक्तेः प्रादेशमात्रत्वमुपपद्यत इत्याश्मरथ्यो मन्यत इत्यर्थः॥ ३० ॥

सू० अनुस्मृतेर्बादरिः॥ १ । २ । ३१ ॥

(वे०पा०सौ०) मूर्द्धादिपादान्तदेहकल्पनमनुस्मृतेरनुस्मरणार्थमिति बादरिराचार्यो मन्यते ॥ ३१ ॥

सूक्ष्मबुद्धीनां हृत्पुण्डरीकप्रदेशे प्रादेशमात्रप्रादुर्भावप्रयोजना-

काङ्क्षायां, स्थूलबुद्धीनां द्युलोकादिषु मूर्द्धाद्यवयवत्वेन परिच्छिन्नस्योपासनाप्रयोजनाकाङ्क्षायाञ्चेदमुच्यते । हृत्पुण्डरीकादौ हि परमात्मनः प्रादेशमात्रतया प्रादुर्भावस्तथा द्युलोकादिप्रदेशेषु मूर्द्धादिपादान्तदेहपरिकल्पनञ्च परमात्मप्राप्तयेऽनुस्मृतेरनुस्मरणार्थं तथोपासनार्थमिति बादरिराचार्य्यो मन्यते ॥ ३१ ॥

सू० सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ॥ १ । २ । ३२ ॥

(वे०पा०सौ०) वैश्वानरोपासकेन क्रियमाणाया वैश्वानरविद्याङ्गभूतप्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसम्पत्त्यर्थं तेषामुरआदीनां वेद्यादित्वकल्पनमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तथैवा"ऽथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोती"त्यादिश्रुतिर्दर्शयति ॥ ३२ ॥

(वे०कौ०) एवं त्रैलोक्यशरीरस्य परमात्मनो वैश्वानरशब्दवाच्यत्वे "उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्योऽन्वाहार्यपचन" इत्यादिनोपासकोरआदीनां वेद्यादिकल्पने किम्प्रयोजनमित्यत्राह ।

वैश्वानरोपासकैः क्रियमाणाया वैश्वानरविद्याङ्गभूतप्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसम्पत्त्यर्थं तेषां वेद्यादिकल्पनमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तथाहि प्राणाहुत्या अग्निहोत्रसम्पत्तिमेव दर्शयति श्रुतिः "अथ य एतदेवंविद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति, तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतम्भवती"ति ॥ ३२ ॥

सू० आमनन्ति चैनमस्मिन् । १ । २ । ३३ ॥

(वे० पा० सौ०) एनं द्युमूर्द्धत्वादिमन्तं वैश्वानरमस्मिन्नुपासकदेहे पुरुषविधमामनन्ति च ॥ ३३ ॥

हरिरोंतत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

(वे०कौ०) अपि च वाजिनोऽस्मिन्नुपासकदेहे एनं वैश्वानरम्भगवन्तं "स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरम्पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेदेत्यामनन्ति ।" इदमपि पुरुषविधत्वं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वञ्च वैश्वानरस्य ब्रह्मत्वे गमकमित्यर्थः । जाठराग्निपरिग्रहे पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं तु घटेत, न तु पुरुषविधत्वमिति भावः । तस्मिद्धं वैश्वानरः परमात्मेति ।। ३२ ।। इति वैश्वानराधिकरणम्।।७।।

इति श्रीवेदान्तकौस्तुभभाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादः ।।

सू० द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् । १ । ३ । १ ।।

(वे०पा०सौ०) "यस्मिन्द्यौ" रिति द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्म, स्वशब्दाद्ब्रह्मवाचकादात्मादिशब्दात् ।। १ ।।

(वे०कौ०) द्युमूर्द्धन्याद्यवयविनस्त्रैलोक्यात्मनो भगवत एव त्रैलोक्यायतनत्वमपि घटत इतीदानीं दर्शयति भगवान्सूत्रकारः । मुण्डके श्रूयते "यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैस्तमेवैकं विजानथाऽऽत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथाऽमृतस्यैष सेतु"रिति । अत्र संशयः यदेतत् द्युप्रभृतीनां यस्मिन्निति सप्तम्यन्तमायतनं निर्दिष्टं तत्किम्प्रधानमथवा जीव आहोस्विज्जगज्जन्मादिहेतुः परमात्मेति। किं तावत्प्राप्तम् ? प्रधानमायतनमस्तु । स्वविकारस्य हि कारणे उदयसमाप्तिदर्शनात्तस्य स्वकार्यायतनत्वं युक्तम् । सेतुश्रुतेश्च । सेतुत्वं हि सावधित्वसमानाधिकरणम्, ब्रह्म तु न सावधि "अनन्तमपार"मितिश्रुतेः । आत्मशब्दोऽपि प्रधाने नेतव्यः, आत्मा प्रधानमात्मोपकारित्वात् , यो यस्योपकारी स तस्यात्मेव, ममैवात्मा भद्रसेन इतिवत् । जीवो वाऽऽयतनमस्तु आत्मश्रुतेः । आत्मशब्दो हि जीवे मुख्य एव, तस्य चेतनत्वात्, मनआदीन्द्रियाधिकरणत्वश्रवणाच्च । "अरा इव

रथनाभौ संहिता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान" इति नाडीसम्बन्धात् जायमानत्वश्रवणाच्च भोक्तृत्वेन भोग्यप्रपञ्चायतनत्वोपपत्तेरिति पूर्वपक्षे, उच्यते द्युभ्वाद्यायतनं परम्ब्रह्मैव, द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ द्युभुवावादी यस्य तदिदं द्युभ्वादि प्राणान्तं तस्यायतनमाश्रयः परमात्मैवेत्यर्थः । कस्मात् ? स्वशब्दात्, स्वस्य प्रकृतस्य परमात्मनो वाचकादात्मशब्दात्, "तमेवैकमात्मानं विजानथ अन्या वाचो विमुञ्चथे"ति विशेषणयुक्तात् । अत्र सर्वात्मकभगवद्वाचकादेकशब्दाद्विशेषणादात्मा परमात्मेति गम्यते। "अमृतस्यैष सेतु"रिति सेतुशब्दाच्च । अमृतस्य मोक्षस्य सेतुः आश्रयः तत्प्राप्तिहेतुरित्यर्थः । "तमेवं विद्वानमृत इह भवती"त्यादिश्रुत्यन्तरेऽमृतत्वप्राप्तिहेतुः स एव प्रसिद्धः । नाडीसम्बन्धोऽपि परमात्मनि सम्भवति "सन्ततश्च शिराभिस्तु लम्बत्याकोशसन्निभ"मित्यादिश्रुतेः। "अजायमानो बहुधा व्यजायत । अजोऽपि सन्नव्ययात्मे"ति श्रुतिस्मृतिभ्यां बहुधा व्यजायमानत्वमपि सम्भवति । परमात्मनः सर्वाधारस्य मनआदिजीवोपकरणाधारत्वमपि सङ्गच्छते । अस्य प्रधानसूत्रस्य विवरणभूतानि गुणसूत्राणि ॥ १ ॥

सू० मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् । १ । ३ । २ ॥

(वे०पा०सौ०) द्युभ्वाद्यायतनम्ब्रह्मैव, कुतः ? तदायतनस्यैव "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषम्ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"त्यादिमुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥२॥

(वे०कौ०) द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव, कुतः ? मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् । संसारबन्धनान्मुक्तैरुपसृप्यः प्राप्यः मुक्तोपसृप्यस्तस्य व्यपदेशान्निर्देशात् । अयमर्थः । योऽर्थो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन एकत्वेनामृतसेतुत्वेनाभिमतोऽन्यत्रापि मुक्तगम्यत्वेन प्रसिद्धः

स एव सर्ववेदैकवेद्यः समानातिशयवर्जितो मुक्तप्राप्यत्वेन व्यपदिश्यते "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे । यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परम्पुरुषमुपैति दिव्य"मिति । परावरे परे ब्रह्मशिवादयोऽवरे यस्मात्तस्मिन्नित्यर्थः । परात्परम्पराज्जीवात्प्रकृतेर्वा परम्पुरुषम्पूर्णम् ॥ २ ॥

सू० नानुमानमतच्छब्दात् ॥ १ । ३ । ३ ॥

(वे०पा०सौ०) नानुमानगम्यम्प्रधानं तदायतनं, तद्बोधकशब्दाभावात् ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) द्युभ्वाद्यायतनमनुमानं न स्यात् । साङ्ख्यैरचेतनेन भूतादिकार्येणानुमीयते यद्ब्रह्मसम्बन्धहीनमचेतनं कारणम्प्रधानं तदनुमानमित्युच्यते, तद्द्युभ्वाद्यायतनन्न, कुतः ? अतच्छब्दात् । तस्य शब्दस्तच्छब्दो न तच्छब्दोऽतच्छब्दस्तस्मात् । अत्रानुमानिकप्रधानवाचकशब्दाभावादित्यर्थः । प्रत्युत चेतनवाचकाः शब्दाः सन्ति "यः सर्वज्ञः सर्वविदि"त्याद्याः ॥ ३ ॥

सू० प्राणभृच्च ॥ १ । ३ । ४ ॥

(वे०पा०सौ०) न प्राणभृदपि द्युभ्वाद्यायतनं, कुतोऽतच्छब्दादेव॥४॥

(वे०कौ०) पूर्वसूत्रान्नेत्यतच्छब्दादिति चानुवर्त्तते । प्राणभृज्जीवोऽपि न द्युभ्वाद्यायतनम्, अतच्छब्दात् । यद्यप्यात्मशब्दो जीवपरमात्मसाधारणस्तथाऽपि "तमेवैकं विजानथामृतस्यैष सेतुः, यः सर्वज्ञ" इत्यादयो हि परमात्मासाधारणधर्मप्रतिपादकाः शब्दा यथाऽस्मिन्प्रकरणे श्रूयन्ते, तथा जीवासाधारणधर्मप्रतिपादकः शब्दोऽत्र नास्तीत्यर्थः । अणुस्वरूपस्य जीवात्मनो द्युभ्वाद्यायतनत्वासम्भवाच्च । पृथक्सूत्रपाठस्तूत्तरसूत्रसङ्गत्यर्थः ।४।

सू० भेदव्यपदेशाच्च ॥ १ । ३ । ५ ॥

(वे०पा०सौ०) किञ्च ज्ञातृज्ञेयभावे भेदव्यपदेशादपि द्युभ्वाद्यायतनं न प्राणभृत् ॥ ५ ॥

(वे०कौ) प्राणभृच्च द्युभ्वाद्यायतनत्वेन ग्रहीतव्यः, कुतः ? भेदव्यपदेशात् । त्रिगुणात्मिकया भगवन्मायया बन्धमोक्षार्होऽल्प(१)ज्ञानो जीवः ज्ञातृत्वेन, सर्वज्ञो भगवान् ज्ञेयत्वेन, च "तमेवैकं विजानथे"ति भगवत्या श्रुत्यैव तयोर्भेदो व्यपदिश्यते, तस्मादित्यर्थः । तद्भावप्राप्त्यर्थं तत्तत्त्वज्ञानपूर्वकं तद्भजनं कर्त्तव्यमिति पुनःपुनर्भेदानिर्देशाभिप्रायः ॥ ५ ॥

सू० प्रकरणात् ॥ १ ।३। ६ ॥

(वे०पा०सौ०) परमात्मप्रकरणान्न द्युभ्वाद्यायतनत्वेन जीवपरिग्रहः।

(वे०कौ०) नेदं जीवप्रकरणं यतो जीवपरिग्रहः स्यात् "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्भवती"त्युपक्रमात् परमात्मान एवेदम्प्रकरणम्, न जीवे ज्ञाते सर्वं विज्ञातम्भवति सर्वस्य जीवात्मकत्वाभावात् । "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" इत्यादिना च परमात्मन एव प्रकृतत्वाच्च ॥ ६ ॥

सू० स्थित्यदनाभ्याञ्च॥ १ ।३। ७ ॥

(वे०पा०कौ०) "द्वासुपर्णे"त्यादिमन्त्रे परमात्मनोऽभोक्तृत्वेन स्थितेर्जीवस्यादनाच्च, न जीवात्मा द्युभ्वाद्यायतनम् ॥ ७ ॥

(वे०कौ०) भेदव्यपदेशं पुनर्विशदयति ।

जीवो न द्युभ्वाद्यायतनं, कुतः? स्थित्यदनाभ्याम्। स्थितिश्चादनञ्च स्थित्यदने ताभ्याम्। द्युभ्वाद्यायतनम्प्रकृत्य, "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीती"तिमन्त्रे एकस्य सुप-

---

(१) क्वचित् विमोहित इति पाठः ।

पस्य कर्मफलमनश्नत एव देदीप्यमानतया देहवृक्षे स्थितेः, इतरस्य कर्माधीनतया कर्मफलादनाच्च जीवपरमात्मनोर्भेदावगमात्स्वतन्त्रः सर्वज्ञः परमात्मैवामृतसेतुः, सर्वात्मत्वाच्च द्युभ्वाद्यायतनश्चेति सिद्धम् ॥ ७ ॥ इति द्युभ्वाद्यधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ १ । ३ । ८ ॥

(वे०पा०सौ०) परमाचार्यैः श्रीकुमारैरस्मद्गुरवे श्रीमन्नारदायोपदिष्टो, "भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य" इत्यत्र भूमा प्राणो न भवति किन्तु श्रीपुरुषोत्तमः, कुतः ? प्राणादुपरि भूम्न उपदेशात् ॥ ८ ॥

(वे०कौ०) इदानीं "भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य" इत्यादिश्रुतिसमन्वयम्ब्रह्मणि दर्शयति श्रीभगवान्सूत्रकारः ।

छान्दोग्यैरिदमाम्नायते "श्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति, सोऽहम्भगवः शोचामि तं मां भगवाञ्छोकस्य परम्पारं तारयत्वि"ति, श्रीमन्नारदेन पृष्टो निजगुरुर्मोक्षशास्त्राचार्य्यः श्रीसनत्कुमारो "नाम ब्रह्मे"त्युपदिदेश । "पुनरस्ति भगवो नाम्नो भूय" इति पृष्टो "वाग्वाव नाम्नो भूयसी" इत्युपदिदेश । "पुनरस्ति भगवो वाचो भूय" इति पृष्टो "मनो वाव वाचो भूय" इत्युपदिदेश । एवं नामादिप्राणपर्य्यन्ताः पञ्चदश(१)पदार्था उपदिष्टाः । प्राणोपदेशानन्तरम्प्रश्नं विनैवेदमुपदिश्यते "एष तु वा अतिवदति, यः सत्येनातिवदती"ति, "भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य" इति, "भूमानम्भगवो विजिज्ञासे, यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्प"मित्या-

---

(१) नाम १ वाक् २ मनः ३ संकल्पः ४ चित्तं ५ ध्यानं ६ विज्ञानं ७ बलं ८ अन्नं ९ आपः १० तेजः ११ आकाशः १२ स्मरणम् १३ आशा १४ प्राणः १५ इति छान्दोग्यभूमविद्यायामुक्तम् ॥

दि। अत्र भूमशब्दो हि बहुत्ववाची, बहुशब्दाद्भावे "पृथिव्यादिभ्य इमनि"जिति इमनिचि "बहोर्लोपो भू च बहोरि"तिसूत्रेण प्रकृतिप्रत्यययोर्विकारे भूमेति निष्पन्नः। बहुत्वञ्चात्र वैपुल्यं न संख्याविशेषत्वं बहुशब्दस्य "बहुषु बहुवचनम्। बहवो ज्ञानतपसा। बहूनाञ्जन्मनामन्ते" इत्यादौ सङ्ख्यायामिव "अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति य" इत्यत्राल्पत्वप्रतियोगिवैपुल्येऽपि प्रयोगदर्शनादिहापि नाल्पे सुखमस्तीत्यल्पत्वप्रतिद्वन्द्वितयैव भूमशब्दप्रयोगाच्च विपुलत्वमेवार्थः। तथाच नाल्पे सुखं विद्यते किन्तु भूमैव सुखम्। तस्माद्भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यस्तस्मिन्निरतिशयवैपुल्यविशिष्टसुखप्राप्तिकामेन मुमुक्षुणा भूमैव निरतिशयवैपुल्यविशिष्टसुखरूपः परमात्मैव विजिज्ञासितव्य इत्यर्थः। एवं श्रीसनत्कुमारेणोक्ते भगवाञ्छ्रीनारद आह "भूमानम्भगवो विजिज्ञासे", भगवः हे भगवन्! गुरो! भूमानमेव विशेषेण ज्ञातुमिच्छामीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भूम्नो लक्षणमाह यत्रेत्यादिनेति श्रुत्यर्थः। तत्र संशयः किं प्राणो भूमा, किं वा परमात्मेति। प्राण इति पूर्वपक्षः "प्राणो वा आशाया भूया"निति पूर्वत्र प्राणस्यैव निर्दिष्टत्वात्, "अस्ति भगवो नाम्नो भूय" इति प्रश्ने "वाग्वाव नाम्नो भूयसी"तिवत्प्राणोपदेशानन्तरम्पुनः प्रश्नोत्तराभावाच्च। प्राणशब्देन प्राणविशिष्टो जीवात्मा गृह्यते, न वायुविशेषमात्रम् "प्राणो हि पिता प्राणो माते"त्यादिना चेतनत्वावगमात्, "तरति शोकमात्मवि"दित्युपक्रमे "आत्मन एवेदं सर्व"मित्युपसंहारे चात्मशब्दप्रयोगाच्च। "यत्र नान्यत्पश्यती"त्यादिकमपि जीवे उपपद्यते, सुषुप्तौ दर्शनादिव्यवहारनिवृत्तेः, देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिविलक्षणे निजस्वरूपे विदिते बाह्यदर्शनादिव्यवहारनिवृत्तिसम्भवाच्च। एतेन "यो वै भूमा

तत्सुखमिति" "प्राणो वाऽमृत"मित्यादि च सर्वम्प्राणविशिष्ट-जीवपरत्वेन व्याख्यातम्भवतीति बोध्यमिति । अत्राभिधीयते । भूमा परमात्मैव, न तु प्राणविशिष्टो जीवः । कुतः ? "सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।" सम्यक्प्रसादो यस्मिन्स सम्प्रसादो जीवात्मा, "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परञ्ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धस्तस्मात्प्राणशब्दसूचितात् अधि ऊर्ध्वं "एष तु वा अतिवदति, यः सत्येनातिवदती"ति तुशब्देन प्राणोपदेशात्पूर्वसूत्रादुत्तरस्य भूमोपदेशस्य वैलक्षण्यमवगम्यते । तस्मात्प्राणोपदेशतो विलक्षणाद्भूम्न उपदेशात्प्राणशब्दार्थाद्भिन्नो हि भूमपदार्थ इत्यर्थः ।

यद्वा "एष तु वा अतिवदती"तिशब्देन प्राणोपासकात्सत्योपासकस्याधिकतयोपदेशात् उपासकभेदादुपास्ययोरपि भेद इत्यर्थः । अयम्भावः । श्रीमन्नारदपृष्टेन श्रीसनत्कुमारेण नामादिप्राणावधिकपञ्चदशपदार्थेषु पूर्वपूर्वत उत्तरोत्तरस्याधिक्याभिधानवत् प्राणशब्दनिर्दिष्टाज्जीवादधिकतया निर्दिष्टः सत्यशब्दाभिधेय एव भूमेति कथमधिकतया सत्यस्योपदेशोऽवगम्यते इति चेत् । "स वा एष एवम्पश्यन्नेवम्मन्वान एवंविजानन्नतिवादी भवती"तिप्राणवेदिनोऽतिवादित्वमुक्त्वा, "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदती"ति तुशब्द एव प्राणोपासकात्सत्योपासकं व्यावर्त्य पूर्वातिवादित्वनिमित्तात्प्राणादस्यातिवादित्वनिमित्तं सत्यमधिकतयोपदिशति । सत्येनेतीत्थम्भूतलक्षणे तृतीया । सत्येन परब्रह्मणोपास्येनोपलक्षितो योऽतिवदतीत्यर्थः । सत्यशब्दश्च ब्रह्मणि प्रसिद्धः "तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यं, सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्मे"त्यादिषु । अतिवादित्वञ्च स्वोपास्याधिक्यवादित्वम् । तच्चोपास्यदेवता-

ऽतिशयं पर्यवस्यति । एवम्पश्यन्नित्यादौ "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः । ततश्चोपास्यदेवतासाक्षात्कारोऽतिवादित्वहेतुरित्यर्थः । साक्षात्कारप्रतीतस्योपास्यदेवतानुग्रहादीदृशमतिवादित्वं भवतीति भावः । किञ्च "सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानी"ति प्राणातिवादित्वपरित्यागेन सत्यवदनानुज्ञैव प्राणप्रकरणविच्छेदं बोधयति । अत्रात्मशब्दोऽपि परमात्मपरिग्रहे एव सङ्गतार्थो भवति "आत्मन एवेदं सर्व"मिति श्रूयमाणस्य सर्वकारणत्वस्यान्यत्रासम्भवात्, वक्ष्यत्यग्रिमे सूत्रे भगवानेवम् ॥ ८ ॥

सू० धर्मोपपत्तेश्च ॥ १ । ३ । ९ ॥

(वे०पा०सौ०) निरतिशयसुखरूपत्वामृतत्वस्वमहिमप्रतिष्ठितत्वादीनां परमात्मन्येवोपपत्तेश्च भूमा परमात्मैव ॥ ९ ॥

(वे०कौ०) धर्माणाम्भूमप्रकरणे पठितानामन्यत्राघटमानानां परमात्मपरत्वेनोपपत्तेश्च भूमा परमात्मेति गम्यते । तथाहि–यत्र "नान्यत्पश्यति"–यत्र हि निरतिशयवैपुल्ययुक्ते सुखे निमग्नमनाः अन्यत् वैपुल्यविशिष्टसुखप्रतियोगि अल्पं वैषयिकं सुखं न पश्यति, पीतामृतो यथा पेयान्तरं न पश्यति तथा । किञ्च यत्र सुखे विपक्तः सुखप्रतियोगि दुःखं न पश्यति सर्वसुखसम्पन्नो भवति, सर्वदुःखविनिर्मुक्तो भवति यदनुरागीत्यर्थः । एवं निरतिशयसुखप्रदत्वदुःखनिवर्चकत्वादीनां धर्माणामुपपत्तिः परमात्मन्येव, नतु प्राणपदगृहीते जीवे । किञ्च "यो वै भूमा तदमृतं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि स एवाधस्तादि"त्यादौ "आत्मनः प्राण" इत्यादौ च श्रुतानां स्वाभाविकामृतत्वस्वमहिमप्रतिष्ठितत्वसर्वोत्पादकत्वादीनां धर्माणाम्परमात्मन्येवोपपत्तेश्च भूमा परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

इति भूमाधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १ । ३ । १० ॥

(वे०पा०सौ) अक्षरम्ब्रह्म, कुतः ? कालत्रयवर्तिकार्य्याधारतया निर्दिष्टस्याकाशस्य धारणात् ॥ १० ॥

(वे०कौ०) इदानीं बृहदारण्यकगतायाः "स होवाचैतद्क्षर"मित्यादिश्रुतेर्ब्रह्मणि समन्वयं दर्शयति भगवान्सूत्रकारः ।

बृहदारण्यके "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति, सहोवाच एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय"मित्यादि श्रूयते । तत्र संशयः किमिहाक्षरशब्देन प्रधानं गृह्यते उत जीव आहोस्वित्परम्ब्रह्मेति । किन्तावत्प्राप्तमिति ? प्रधानमक्षरशब्दवाच्यमस्तु, प्रधानस्य स्वविकारधारणोपपत्तेः, रूपादिहीनत्वाभ्युपगमादस्थूलत्वादीनां तत्रोपपत्तेश्च । जीवो वाऽक्षरपदार्थोऽस्तु, तस्य स्वभोग्यभूतसर्वाचिद्वस्त्वाधारत्वसम्भवात् इति पूर्वः पक्षः । तत्रेदमुच्यते । अक्षरम्परम्ब्रह्मेति । कुतः ? अम्बरान्तधृतेः । अम्बरमन्ते यस्य पृथिव्यादिविकारजातस्य, तस्य पृथिव्याद्याकाशपर्यन्तस्य विकारजातस्य धारणात्(१) । "यदूर्ध्वङ्गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्याः यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतञ्च भवच्च भविष्यच्चेति तत्सर्वं कस्मिन्नोतम्प्रोतं चे"ति प्रश्ने, आकाशे तत्सर्वमोतम्प्रोतं चेत्युत्तरे दत्ते, गार्गी पुनरपृच्छत् "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चे"ति । तत्र पृथिव्याद्याकाशपर्य्यन्तस्याधारमक्षरमस्तीत्युत्तरमाह "सहोवाचैतदक्षर"मित्यादि । एवम्प्रश्नोत्तराभ्यान्निर्णीतस्य पृथिव्यादेरम्बरान्तस्य विकारजातस्य धारणात् अक्षरं ब्रह्मैव ।

यद्वा "अम्बरस्य वायुमत आकाशस्यान्तःपारभूतं कारण-

(१) यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्याः ये चोभे द्यावापृथिव्योर्यदन्तरक्षं यद्भूतं यद्भविष्यच्चेति पाठान्तरम् ।

मव्याकृतम्प्रधानं तस्य धृतेर्धारणादित्यर्थः। यदूर्द्ध्वमित्यारभ्य कालत्रयवर्तिकृत्स्नवस्त्वाधारतया निर्दिष्टस्याकाशशब्दवाच्यस्याव्याकृतसूक्ष्मप्रधानादिनामधेयस्याधारतयोच्यमानमेतदक्षरं न प्रधानमपि तु ब्रह्मैवेत्यर्थः॥ १०॥

सू० सा च प्रशासनात्॥ १। ३। ११॥

(वे०पा०सौ०) सा च धृतिः पुरुषोत्तमस्यैव, कुतः? एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत" इत्याज्ञापयितृत्वश्रवणात्॥ ११

(वे०कौ०) ननु माऽस्तु प्रधानमक्षरशब्दवाच्यं, जीवस्य प्राकृतपदार्थभोक्तुरुक्तप्रकाराधारत्वोपपत्तेः, अस्थूलत्वादिधर्मवत्त्वोपपत्तेश्च, न क्षरतीत्यक्षरो जीव इति जीवपरिग्रहे व्युत्पत्तिसम्भवाच्च, स एवाक्षरशब्दार्थोऽस्त्वित्यत्राह।

जीवे हि स्वकृतकर्मफलभागोयतनशरीरादिधृतिरुपपद्यते। सा च धृतिः परमात्मन एव कर्म नान्यस्य। कुतः? प्रशासनात्। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत" इत्यादिना प्रशासनश्रवणात्। प्रकृष्टमप्रतिहतं शासनम्प्रशासनम् अप्रतिहतमाज्ञापनम्॥ ११॥

सू० अन्यभावव्यावृत्तेश्च॥ १। ३। १२॥

(वे०पा०सौ०) अत्र प्रधानस्य जीवस्य वाऽक्षरशब्देन ग्रहणं नास्ति, परमेवाक्षरशब्दः। कुतः? "तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ" इत्यन्यभावव्यावृत्तेः॥१२॥

(वे०कौ०) इतोऽपि परात्मैवाक्षरशब्दवाच्यः। कुतः? अन्यभावव्यावृत्तेः। अन्यस्य प्रधानस्य जीवस्य वाऽन्ययोरुभयोर्वा भावोऽन्यभावस्तस्य व्यावृत्तेः। "तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ, नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ, एतस्मिन्नु खल्व-

क्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चे"ति वाक्यशेषोऽस्याक्षरस्य ब्रह्मणोऽन्यभावं व्यावर्त्तयति । तत्र द्रष्टृत्वादिचेतनधर्मेण प्रधानभावो व्यावर्त्त्यते, सर्वैरदृष्टस्यैव सतः सर्वद्रष्टृत्वाद्युपदेशाच्च जीवभावो व्यावर्त्त्यते । तस्मादत्राक्षरशब्देन परमात्मपरिग्रह एवेति सिद्धम् ॥ १२ ॥ इत्यक्षराधिकरणम् ॥ ३ ॥

सू० ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥ १ । ३ । १३ ॥

(वे०पा०सौ० "पुरि शयं पुरुषमीक्षते," इतीक्षतेः कर्म ब्रह्माण्डान्तर्गतो ब्रह्मलोकस्थो ब्रह्मा न भवति, किन्तु स एव प्रकृतः स्वासाधारणाप्राकृतब्रह्मलोकेशः यः परमात्मेक्षतिकर्म । कुतः ? "यच्छान्तमजरममय"मित्यादिना तद्धर्माणां व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

(वे०कौ०) एवम्प्रकृतेर्जीवस्य च ब्रह्मवाचकेनाक्षरपदेन न परिग्रह इत्युक्तमिदानीं प्रकृतेरनुपादेयत्वं तद्विलक्षणस्य परमात्मलोकस्योपादेयत्वं च जीवस्य ध्यातृत्वं गन्तृत्वं परमात्मनो ध्येयत्वमुपेयत्वं चोच्यते सूत्रेण तद्विषयवाक्येन च ।

आथर्वणे प्रश्नोपनिषदि श्रूयते "एतद्वै सत्यकाम परं चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेती"ति प्रकृत्य, "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परम्पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नो, यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते, एवं हैव स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परम्पुरिशयं पुरुषमीक्षत" इति । तत्र सन्देहः यद्ध्यानबलेन त्रिमात्रोपासकः सर्वपापविनिर्मुक्तः सूर्ये सम्पन्नः सन् पुनः सामभिर्ब्रह्मलोकं नीतः सन् तमेव पुरिशयम्पुरुषमीक्षत इतीक्षतिविषयभूतं तत्त्वमीक्षतिकर्म सर्वजीवाभिमानी पूर्वत्रापरब्रह्मत्वेन निर्दिष्टश्चतुर्मुखः, आहोस्विदीक्षतिकर्म सर्वजगद्धेतुः शास्त्रार्थभूतः परमब्रह्मपदार्थः श्री-

पुरुषोत्तम इति । अत्र पूर्वपक्षः चतुर्मुखोऽस्तु खल्वीक्षतिकर्म, पूर्वस्मिन्नेकमात्रद्विमात्रप्रणवोपासकस्य मनुष्यलोकान्तरिक्षलोकाप्तिफलमुक्त्वा, त्रिमात्रोपासकस्य फलत्वेन कथ्यमानोऽन्तरिक्षात्परः समष्टिजीवस्य हिरण्यगर्भस्य लोकः प्रत्येतव्यस्तल्लोकगतपुरुषेक्षणविषयस्तल्लोकाधिपतिः स एवेति देहेन्द्रियादिभ्यः परादेहादिभिः सह घनीभूताद्व्यष्टिजीवात्तल्लोकवासिसमष्टिपुरुषस्य परत्वमुपपद्यते, तस्मादीक्षतिकर्म चतुर्मुख इति प्राप्ते, अभिधीयते । स एव प्रकृतो जगद्धेतुः परमात्मा ईक्षतिकर्म । कुतः ? व्यपदेशात् । "तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयम्परम्परायणञ्चे"ति विद्वत्प्राप्यत्वशान्तत्वाजरत्वामरत्वामृतत्वाभयत्वादीनां परमात्मधर्माणां व्यपदेशात् । यस्य हि कर्मजन्यदेहादिसंयोगः स जीवघनः, स च "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व"मित्यादिषु चतुर्मुखस्यापि श्रूयते, नह्यन्तरिक्षात्परश्चतुर्मुखलोकः, स्वर्गादीनाम्मध्ये तद्भावात् । "पुरि शयं पुरुषमीक्षते" इति श्रुत्युक्तो लोको न कर्मफलभोगायतनभूतः सत्यलोकापरनामा ब्रह्मलोकः, किन्तु मुक्तगम्यः प्रकृतस्य ब्रह्मण ईक्षतिकर्मभूतस्य लोकः, सर्वलोकपराज्जीवघनादपि परस्य पुरुषस्य शयनस्थानत्वेन निर्दिष्टत्वात् । अस्यैव परब्रह्मलोकस्याथर्वणे एवोपनिषदन्तरे विद्वत्प्राप्यत्वञ्च श्रूयते "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति । तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमी"त्युपक्रम्य, "एतदालंबनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयत" इति । तत्रैवास्याविद्वद्भिरप्राप्यत्वं विद्वत्प्राप्यत्वं संसाराद्विलक्षणत्वञ्च श्रूयते "यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः । न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाऽधिगच्छति । यस्तु विज्ञानवा-

न्भवति समनस्कः सदा शुचिः । स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते । विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः । सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमम्पद"मिति । शान्तौ हारीतगीतोपक्रमे—

"युधिष्ठिर उवाच ।
किंशीलः किंसमाचारः किम्विद्यः किम्परायणः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परम्प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥
भीष्म उवाच ।
मोक्षधर्मेषु निरतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति परमं स्थानं यत्परम्प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥"

इति प्रश्नोत्तराभ्यामासतमकृताभ्याम्प्रकृतेः परत्वम्मोक्षधर्मैकसाध्यत्वं ध्रुवत्वञ्च जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणो लोकस्य प्रतिपादितम् । तस्मात्कार्यकारणभूतायाः प्रकृतेः परं पुरिशयं ब्रह्मेक्षतिकर्मेति सिद्धम् ॥ १३ ॥ इतीक्षतिकर्माधिकरणम् ॥ ४ ॥

सू० दहर उत्तरेभ्यः ॥ १ । ३ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) "अस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" इतिश्रुत्या प्रोक्तो दहराकाशः परमात्मा भवितुमर्हति । कुतः ? उत्तरेभ्यः । "यावान्वाऽयमाकाशस्तावानसौ अन्तर्हृदय आकाशः उभेऽस्मिन्द्यावा पृथिवी अन्तरेव समाहिते, एष आत्माऽपहतपाप्मा विजर" इत्यादिभिर्वक्ष्यमाणा ये परमात्मासाधारणधर्मास्तेभ्यो हेतुभूतेभ्यः १४

(वे०कौ०) एवं "पुरि शयं पुरुषमीक्षत" इत्यनेन वाक्येन पुरिशयत्वमीक्षतिकर्मत्वञ्चाविष्कृतमङ्गलमूर्त्तिमत्त्वेन परमात्मन उपपद्यते, तथैवेदानीं हृत्पुण्डरीकाख्यवेश्मवर्त्तित्वेन दहरत्वमप्युपपद्यते इत्याशयवान्भगवान्सूत्रकार आह ।

छान्दोग्ये हि भूमविद्यानन्तरम् "अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे

दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् , तद्वा व विजिज्ञासितव्य"मिति श्रूयते । तत्र ब्रह्मपुरे शरीरे ब्रह्मांशभूतस्य जीवस्य कर्मफलभोगायतने ब्रह्मोपलब्धिस्थानेऽस्मिन् यदिदं शास्त्रप्रसिद्धं दहरमल्पं हृदयलक्षणं पुण्डरीकं तदेव वेश्म, अस्मिन्नेव वेश्मनि दहरोऽल्पः दिदृक्षुस्वानन्यभक्तेच्छयाऽऽविष्कृतसूक्ष्मतनुः आकाशः व्यापकस्वरूपः तस्मिन्हृत्पुण्डरीकेऽन्तर्वर्त्तियदाकाशशब्दोक्तं दहरम्ब्रह्माऽन्वेष्टव्यं ज्ञातुः सकाशाच्छरीराच्च वैलक्षण्येन विवेचनीयम् , विजिज्ञासितव्यं वेदान्तश्रवणादभ्यासेन चिन्त्यमिति सिद्धान्तपक्षे श्रुत्यर्थ इति । तत्र संशयः किं दहराकाशशब्देन भूताकाशो गृह्यते, आहोस्वित्परमात्मेति । आकाशशब्दस्य भूताकाशे प्रसिद्धत्वात् दहरशब्दस्यापि सूक्ष्मार्थत्वेन तत्र वृत्तिसम्भवात् भूताकाश इति । न च "यावान् वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश" इत्येकस्यैवोपमानोपमेयभावो नोपपद्यत इति वाच्यम् । बाह्याभ्यन्तरभेदमाश्रित्योपमानोपमेयभावोपपत्तेः । आराग्रमात्रो देहाभिमानी जीवो वा दहराकाशोऽस्तु "अथ य एष सम्प्रसादो अस्माच्छरीरात्समुत्थाय"ेति तस्याप्यत्र प्रतीतेः । अणुस्वरूपत्वेन दहरत्वं देहेन्द्रियादिभिरसंस्पृष्टत्वेनाकाशोपमेयत्वं तस्य सङ्गच्छते इति प्राप्ते, ब्रूमः । दहरो दहराकाशः परमात्मैव, कस्मात् ? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः । वियदुपमत्वपृथिव्यादिसर्वजगदाधारत्वात्मत्वाऽपहतपाप्मत्वादिभ्यः परमात्माऽसाधारणधर्मेभ्यः । तथाहि—"यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयाकाश" इति प्रसिद्धेनाकाशेन दहराकाशः पर एवोपमीयते, भिन्नयोरेवोपमानोपमेयभावे सिद्धे एकस्मिन्तत्कल्पनाया अन्याय्यत्वात् । "उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते" इति सर्वविकाराधारत्वञ्च परमात्मन ए-

वोपपद्यते । "एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प" इत्यनेन वाक्येनोक्ता आत्मत्वापहतपाप्मत्वादयो धर्माः परमात्मपरिग्रहे सङ्गच्छन्ते । किञ्च "यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते" इति कर्मणामनित्यफलकत्वमतज्ज्ञं श्रुत्यभिधाय, पुनर्वाक्यशेषे "अथ य इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती"ति । ये उपासकाः आत्मानं परमेश्वरं दहराख्यमेतांस्तद्गुणांश्चानुविद्याऽनुभूय परलोकं व्रजन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीति दहरगुणस्वरूपविदां कामचारोपपत्तेश्च दहराकाशः परमात्मा ॥ १४ ॥

सू० गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गञ्च ॥ १ । ३ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) "सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्ती"ति गतिः ब्रह्मलोकमिति शब्दस्ताभ्यां दहरः पर इति निश्चीयते । "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवती"ति प्रत्य गमनं श्रुत्यन्तरे तथैव दृष्टम् । कर्मधारयसमासपरिग्रहे ब्रह्मैव लिङ्गं शब्दसामर्थ्यञ्च ॥ १५ ॥

(वे०कौ०) इतश्च दहराकाशः परमात्मेत्याह ।

उत्तरे हेतवः प्रपञ्च्यन्तेऽनेन, तद्यथा "हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकम् विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा" इति दहराकाशवाक्ये अहरहर्गच्छन्त्य इति गतिः, एतम्ब्रह्मलोकमिति शब्दश्च ताभ्यां दहराकाशः परमात्मेत्यवगम्यते । सर्वेन्द्रियप्रलये प्रजाशब्दनिर्दिष्टानां जीवानां प्रत्यहं सुषुप्तौ ब्रह्मगमनेन ब्रह्मलोकशब्देन च दहराकाशः परमात्मैवेति निर्धार्यते च, जीवस्य गन्तृत्वात् भूताकाशस्य गत्यनर्हत्वाच्चेत्यर्थः । तथाहि दृष्टं तथैवान्यत्र "एवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न

विदुः सति सम्पद्यामह" इति । "सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह" इति परमात्मन्येव सर्वप्राणिनामहरहः सुषुप्तावस्थायां गमनं तत आगमनञ्च दृष्टम् । तथैव "एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाचे"ति ब्रह्मलोकपदमपि परमात्मनि दृष्टम् । एतदेव तत्र सर्वप्रजानामहरहर्गमनम् । ब्रह्मैव लोक इति कर्मधारयसमासेन, एतमिति दहरार्थकपदसमानाधिकरणतया निर्दिष्टो ब्रह्मलोकशब्दश्च दहराकाशस्य परब्रह्मत्वे लिङ्गञ्च गमकञ्चेत्यर्थः ॥ १५ ॥

सू० धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १ । ३ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) "स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानां" विधारकत्वं दहरस्य परमात्मत्वे सङ्गच्छते । अस्य च महिम्नो धृत्याख्येऽस्मिन्परमात्मन्येव "एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत" इति श्रुत्यन्तरे उपलब्धेः ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) धृतेश्च हेतोर्दहराकाशशब्देन परमात्मैव ग्राह्यः "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाये"ति । सेतुरसाङ्कर्यहेतुः, विधृतिर्विधारयिता एषामध्यात्माधिदैवभेदभिन्नानां लोकानामसम्भेदायाऽसङ्कराय विदारणाय चेत्यर्थः । अस्य च धृत्याख्यस्य महिम्नोऽस्मिन्परमात्मनि खल्वन्यत्र श्रुत्यन्तरेऽपि उपलब्धेरिहापि सर्वलोकविधारकः दहराकाशः परमात्मेति गम्यत इत्यर्थः । श्रुत्यन्तरं तु "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इति । तथा "एष सर्वेश्वर एष लोकाधिपतिरेष सेतुर्विधारण एषां लोकानामसम्भेदाये"ति च ॥ १६ ॥

सू० प्रसिद्धेश्च ॥ १ । ३ । १७ ॥

(वे०पा०सौ०) "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इति परमात्मन्यप्याकाश-

ब्रह्मसिद्धेश्च दहराकाशः परमात्मैव ॥ १७ ॥

(वे०कौ०) पुनर्दहराकाशः परमात्मैव बोध्यः । कुतः ? आकाशशब्दस्य परमात्मन्यपि प्रसिद्धेः । कुत्र ? "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यत्र ॥ १७ ॥

सू० इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १ । ३ । १८ ॥

(वे०पा०सौ०) "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परञ्ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, एष आत्मेति होवाचे"ति दहरवाक्यमध्ये जीवस्यापि परामर्शाज्जीवोऽस्तु दहर इति चेत् । नाऽपहतपाप्मत्वादीनां जीवेऽसम्भवात् ॥ १८ ॥

(वे०कौ०) नन्वितरस्य जीवस्यास्मिन्दहराकाशवाक्यमध्ये "अथ य(१) एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परञ्ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभय"मित्यत्र सम्प्रसादशब्देन परामर्शात्स एवास्तु दहराकाश इति चेन्न । कुतः ? असम्भवात् । पूर्वोक्तानामपहतपाप्मत्वादिगुणानाञ्जीवेऽसम्भवात् ॥ १८ ॥

सू० उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु । १ । ३ । १९ ॥

(वे०पा०सौ०) उत्तराज्जीवपरात्प्रजापतिवाक्याज्जीवेऽप्यपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकमवगम्यतेऽतः स एव दहराकाशोऽस्त्विति चेत् । उच्यते । पूर्वोक्तगुणयुक्तो नित्याविर्भूतस्वरूपः परमात्मा दहर, आविर्भूतस्वरूपो जीवस्तु न ॥ १९ ॥

(वे०कौ०) अत्र प्रधानसूत्राद्दहर इति लभ्यते, पूर्वसूत्रा-

(१) अथ य एष सम्प्रसाद इत्यादिवाक्यस्य दहरविद्यायां जीवपरामर्शार्थः पाठः । प्रजापतिविद्यायां तु बन्धविनिर्मुक्ते जीवे अपहतपाप्मत्वादिगुणसूचनायेति विवेकः ।

त्म इति नेति चानुवर्त्तते । ननु नासम्भवोऽस्ति दहरविद्यात उत्तरात्प्राजापत्यात् वाक्यादपहतपाप्मत्वादिगुणको जीवोऽपि प्रतिपन्नव्यस्तस्मादिहापि अपहतपाप्मत्वादिगुणको दहरः स एवास्तु इति चेन्न । तत्र "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्येवं आविर्भूतस्वरूपो जीवो विवक्षितोऽस्ति । तुशब्दो हि निरावरणस्वरूपाबद्धमुक्तव्यवहारातीताद्दहरादाविर्भूतस्वरूपस्य महद्वैलक्षण्यं द्योतयति । तथाहि प्रजापतिवाक्येऽनादिकालप्रवृत्तपुण्यपापकर्ममूलजाग्रदाद्यवस्थाभिस्तिरोहितगुणकस्य परमात्मोपासनाजन्यतद्रूपसम्पत्त्याविर्भूतस्वरूपस्य जीवस्यापहतपाप्मत्वादिगुणवत्तयोपदेशः । दहरवाक्ये तु नित्याविर्भूतस्वरूपगुणकस्य दहराकाशशब्दितस्य परमात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिगुणवत्तयोपदेश इति । श्रुत्यर्थस्तु परश्चेतनाजीवादचेतनाच्च पदार्थाद्विलक्षणञ्ज्योतिः सर्वावभासकमंशिस्वरूपं जीवः, उप समीपे सम्यक् प्राप्य गाढान्धकारावृतं चक्षुर्यथा स्वासाधारणं वस्त्राभरणादिविषयप्रकाशकत्वमलभमानं सत् सदैव तमसाऽनावृतं भास्करमुपसम्पद्य स्वेन स्वासाधारणेन स्वविषयप्रकाशकत्वावच्छिन्नेन रूपेण निष्पद्यते । तथा देहेन्द्रियादिविलक्षणेन स्वानन्दसम्पन्नेन ज्ञानस्वरूपेण निष्पद्यते इति स आविर्भूतस्वरूप इत्युच्यते । आविर्भूतं स्वरूपं यस्य स तथा । किञ्चाविर्भूतस्वरूपस्यापि जीवस्य सेतुत्वसर्वजगद्विधरणत्वचेतनाचेतननियन्तृत्वासम्भवादपि न दहराकाशो जीवः शङ्क्यः । दहरविद्यायां नित्याविर्भूतस्वरूपासाधारणाः प्रजापतिविद्यायामाविर्भूतस्वरूपासाधारणा अपहतपाप्मत्वादयो धर्मास्तस्मादसम्भवादिति हेतुस्तदवस्थः ॥ १९ ॥

सू० अन्यार्थश्च परामर्शः । १ । ३ । २० ॥

(वे॰पा॰सौ॰) जीवपरामर्शः परमात्मनो जीवस्वरूपाविर्भावहेतुत्व-प्रदर्शनार्थः ॥ २० ॥

(वे॰कौ॰) ननु यदि दहराकाशो नित्याविर्भूतस्वरूपः परमात्मा, तर्हि दहरवाक्ये "अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरादि"त्यादिना जीवपरामर्शोऽव्यर्थः स्यादित्यत्राह ।

सम्भावनायाश्चकारः । अनादिमायाशुनाऽपहतपाप्मत्वादिगुणस्वरूपो जीवस्तमसाभिभूतं चक्षुर्यथा भास्करमुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, तथा परं ज्योतिर्दहराकाशमुपसम्पद्य स्वेन स्वासाधारणेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, इत्येवं दहराकाशस्य जीवस्वरूपाविर्भावहेतुत्वप्रदर्शनार्थः प्रजापतिवाक्योक्तजीवपरामर्शः, न त्र जीव एव दहराकाश इति प्रतिपादनार्थः ॥ २० ॥

सू॰ अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ १ । ३ । २१ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) अल्पश्रुतेर्न विभुरत्र भाव्य इति चेत् । तत्समाधानाय यद्वक्तव्यं तदुक्तम्पुरस्तात् ॥ २१ ॥

(वे॰कौ॰) "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश" इत्यल्पश्रुतेरणुपरिमाणो जीव एव दहरोऽस्तु इति चेत् । तत्र यद्वक्तव्यं तदुक्तम्पुरस्तात् "निचाय्यत्वादेवं व्योमवदि"ति ॥ २१ ॥

सू॰ अनुकृतेस्तस्य च । १ । ३ । २२ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) तस्य नित्याविर्भूतस्वरूपस्य "तमेव भान्तमनुभाति सर्व"मित्यनुकृतेश्चानुकर्त्ता जीवो नित्याविर्भूतस्वरूपो दहरो न भवितुमर्हति ॥ २२ ॥

(वे॰कौ॰) इतश्च जीवो न दहराकाश इत्याह ।

तस्य दहराकाशस्य नित्याविर्भूतनद्गुणाष्टकस्य आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिवत्तयानुकरणात् दहरः परमात्मैव । यथा मुण्डके "तमेव भान्तमनुभान्ति सर्व"मित्यनुकरणात्, "तस्य भा-

सा सर्वमिदं विभाती"ति प्रकाश्यत्वाच्च सर्वस्यानुकर्तुः प्रकाश्यस्यानुकार्यत्वं प्रकाशकत्वञ्च न भवति, तथा प्रजापतिनिगदितोऽनुकर्ता जीवो हि न दहरशब्दोदितानुकार्यं ब्रह्म भवितुमर्हति॥२२॥

सू० अपि तु स्मर्यते । १ । ३ । २३ ॥

(वे०पा०सौ०) अपि च "मम साधर्म्यमागता" इति स्मर्यते॥२३॥

(वे०कौ०) सर्वबन्धविनिर्मुक्तस्य जीवस्य परमात्मसाम्यापत्तिः स्मर्यते "मम साधर्म्यमागता" इति । तस्माद्दहराकाशः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ २३ ॥ इति दहराधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू० शब्दादेव प्रमितः ॥ १ । ३ । २४ ॥

(वे०पा०सौ०) प्रमितोऽङ्गुष्ठपरिमाणकः पुरुषोत्तम एव, "ईशानो भूतभव्यस्ये"तिशब्दात् ॥ २४ ॥

(वे०कौ०) एवं दहरत्वेन ब्रह्मण उपास्यत्वं निर्णीतमिदानीमङ्गुष्ठमात्रत्वेन ब्रह्मोपासनीयमित्याह ।

कठवल्ल्या"मङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठती"ति, पुन"रङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक" इति च, पुन"रङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट" इति च श्रूयते । तत्र संशयः किमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो जीव उत पुरुषोत्तम इति । अत्र पूर्वपक्षः अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो जीवः, "प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिरङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप" इति श्वेताश्वतरश्रुतेः, "अथ सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशं गतम् । अङ्गुष्ठमात्रपुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्" इति स्मृतेश्च । अत्र ब्रूमः । प्रमितः अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः कठवल्ल्युक्तः परमात्मैव । कस्मात् ? शब्दात् । "ईशानो भूतभव्यस्ये"ति श्रुतेः । अयमभिप्रायः । यद्यपि श्रुतिस्मृत्युक्तमङ्गुष्ठमात्रत्वं जीवलिङ्गमिहोपलभ्यते, तथापि लिङ्गं बाध्यते इत्यर्थः । ननु जीवस्य स्वरूपतोऽणुपरिमाणस्याङ्गु-

प्रमातृत्वासम्भवात्पाशबद्धमिति लिङ्गाच्छरीरविशेषविषयमङ्गुष्ठमात्रत्वं सङ्गच्छते, प्रकृतस्य तु ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठमात्रत्वं पुनः पुनः श्रुत्योपदिष्टमपि न सम्भवति इति चेन्न । भक्तेच्छया स्थानयोगाच्च तथात्वसम्भवाच्चाग्रिमे सूत्रे द्रष्टव्यम् । किञ्चाङ्गुष्ठमात्रं पुरुषम्प्रकृत्य "तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेत् मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्यादि"ति शब्दादपि परमात्मैवाङ्गुष्ठमात्रः । तथाहि तमङ्गुष्ठमात्रम्पुरुषं कर्मभूतमधिकारी स्वाच्छरीरात्स्वकीयेन विदितात् इत्यनेनात्मानात्मविवेकवानिति सूचितम् । एवंभूतो जीवः कर्त्ता प्रवृहेत् पूर्वं ध्यानेन हृदि विदितं पुनः प्रकृष्टया प्रार्थनया मुञ्जादिवेषीकामुद्यच्छेत् बहिः स्थापयेत् , अथ धैर्येण तं विद्यादिति श्रुत्यर्थः । एवंसति अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष उपासकादुपास्यरूपोऽन्यः ॥ २४ ॥

सू० हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ १ । ३ । २५ ॥

(वे०पा०सौ०) उपासकहृद्यपेक्षयाऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यते । ननु जन्तुशरीरेषु हृदयस्यानियतपरिमाणत्वात्तदपेक्षयाऽपि तथात्वं कथमत्राह मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

(वे०कौ०) अङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपादयति ।

सर्वगतस्याप्यङ्गुष्ठमात्रपरिमाणश्च हृदि स्थानन्यजनहृदयकमलेऽङ्गुष्ठपरिमाणेऽपेक्षया हृदयापेक्षया तु सङ्गच्छते । लोकत्रयापेक्षया त्रिविक्रमवचवृव्यपदेशो युक्त एवेत्यर्थः । हृच्छब्देनैव तदन्तस्स्थपरिमाणलाभेऽपेक्षयोपासकापेक्षया तदिच्छयेति वा व्याख्या बोद्धव्या । ननु प्राणिभेदेन हृदयमानभेदात्तदनुगुणतयाप्यङ्गुष्ठश्रुतिर्नि नेतुं शक्येत्यत्रोच्यते । मनुष्याधिकारत्वात् शास्त्रस्येति शेषः । मनुष्याणामधिकारो यस्मिन्तत्तथा तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । मनुष्यहृदयानुगुणतयाङ्गुष्ठश्रुत्यर्थोपपत्तिरस्ति ।

सामान्यतः प्रवृत्तमपि शास्त्रं मनुष्याणामेवोपासकत्वार्थित्वादि-सम्भवात्तानेवाधिकरोति, तेन गजमत्कुणादिहृदयानामनङ्गुष्ठमात्रत्वेऽप्यविरोधः तेषां हि श्रौतस्मार्त्तेषु कर्मस्वनधिकार इति षष्ठेऽधिकारलक्षणे स्थापितम् । तस्मात् परमात्मैवाङ्गुष्ठमात्रः पुरुष इति सिद्धम् ॥ २५ ॥ इति प्रमिताधिकरणम् ॥ ६ ॥

सू० तदुपर्य्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥ १ । ३ । २६ ॥

[वे०पा०सौ०] तस्मिन्ब्रह्मोपासने मनुष्याणामुपरिष्टादपि ये देवादयो हि तेषामप्यधिकारोऽस्तीति भगवान्बादरायणो मन्यते ॥ २६ ॥

(वे०कौ०) पूर्वाधिकरणे मनुष्यहृदयापेक्षयाऽङ्गुष्ठश्रुतिः उपपन्नेत्युक्तं शास्त्रस्य मनुष्याधिकारित्वात्, इदानीं तत्प्रसङ्गाद्देवानामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारो विचार्य्यते ।

बृहदारण्यके "यो देवानाम्प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणामि"त्यादि श्रूयते । देवानाम्मध्ये तथर्षीणाम्मध्ये यो यो हि प्रत्यबुद्ध्यत ब्रह्म साक्षादकरोत्स एव ब्रह्मभावापन्नत्वेनातिष्ठत् । अत्र हि ब्रह्मोपासने तद्भावप्राप्तिसाधने देवादीनामधिकारोऽस्ति उत नास्तीति सन्देहे शास्त्रस्य मनुष्याधिकारित्वादिन्द्रादीनां मन्त्रमूर्त्तित्वेन देहादिमत्त्वाभावे सामर्थ्याद्यभावाच्च देवादिषु न ब्रह्मोपासनं सम्भवतीति प्राप्तेऽभिधीयते । तद्ब्रह्मोपासनं मनुष्योपरि वर्त्तमानेषु देवादिष्वपि सम्भवतीति भगवान्बादरायणो मन्यते स्म । कस्मात् ? सम्भवात् । तेषामपि स्वकृतकर्मोपस्थापितभोगोपरामपूर्वकब्रह्मभावापत्तिलक्षणमोक्षप्रदब्रह्मोपासनादिसम्भवात् । तथाहि तेषां पारलौकिकदिव्यभोगशालित्वेऽपि तादृग्भोगस्यानित्यत्वसातिशयत्वादिदोषग्रस्तत्वेन तदुपरामसम्भवः ब्रह्मभावापत्तेश्च निरतिशयत्वपरमानन्दत्वशाश्वतत्वश्रवणेन मोक्षकामत्वसम्भवः मोक्षकामनया ब्रह्मोपासनसम्भवः "एकशतं

ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमुवास", "भृगुर्हे वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मे"त्याद्यधिकारविधायकप्रमाणसद्भावाच । एवं नामरूपव्याकरणश्रुतेः मन्त्रार्थवादेतिहासादिभ्यश्च तेषां विग्रहादिमत्त्वसम्भवोऽस्ति. श्रूयते हि "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तान्ध्यायेद्वषट्करिष्यन्नि"ति । अत्र(१) विग्रहं विना वाक्यार्थासम्भवाद्विग्रहवती देवता गृहीतव्या । इतिहासे च सूर्येन्द्रवस्वादयो विग्रहवन्तः सुप्रसिद्धाः कुन्त्यां विग्रहवद्भिर्धर्मादिभिः पुत्रा उत्पादिताः । पुराणेषु च विग्रहवतां तेषां बहुधा कथाविस्तारः । ग्रन्थविस्तरभयात्तत्प्रकरणस्थाः श्लोका नोदाहृताः ॥ २६ ॥

सू० विरोधः कर्म्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्
॥ १ । ३ । २७ ॥

(वे०पा०सौ०) शरीरं विना ब्रह्मोपासनानुपपत्त्या तेषामवश्यं विग्रहवत्त्वमभ्युपगन्तव्यम् , तथात्वे तु कर्मणि विरोध इति चेत् ,नायं दोषः । कुतः ? एकस्याप्यनेकेषां देहानां युगपत्प्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

(वे०कौ०)ननु यद्यपि देवादीनां विग्रहवत्त्वमस्मदादिवदावश्यकं श्रवणमननिदिध्यासनाभ्यासादौ शरीरेन्द्रियमनोयुक्तस्यैव प्रवृत्तिसम्भवादेवं कर्मण्यपि ऋत्विगादिवत्सन्निधानेनोपकारकत्वसम्भवाच, तथापि तेषां विग्रहवत्त्वे कर्मण्यपि यागादावेकशरीरस्य युगपदनेकयागेषु सन्निधानानुपपत्तेर्विरोधः स्यादिति चेन्न। कुतः ? अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् । अनेका नानारूपा प्रतिपत्तिस्तस्या दर्शनात् । तथाहि यथानेकैर्नमस्कुर्वाणैः शिष्यैरेकोऽप्याचार्यो युगपन्नमस्क्रियमाणो दृश्यते, यथा चैकोऽपि भास्करोऽनेकैरुपतिष्ठद्भिर्युगपदर्च्यमानो दृश्यते, तथैकां स्वस्थानस्थितां विग्रहवतीं देवता-

(१) अत्र कर्म्मविधिशेषभूते मन्त्रार्थवादे।

मुद्दिश्य युगपत्स्वं स्वं द्रव्यमुत्सृजन्तीत्युपपद्यते, अतो न काचित्कर्म्मणि क्षतिः ।

"अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शना"दित्यस्यापरा योजना वा । उक्तप्रकारेण कर्मणि विरोध इति चेन्न । कुतः ? अनेकप्रतिपत्तेः । एकस्यापि योगसिद्धस्यानेकविग्रहप्रतिपत्तेः अनेकशरीरप्राप्तेः । कुतः ? शास्त्रे दर्शनात् । तथाहि मोक्षधर्मे "साङ्ख्ययोगे च मे तात ! विशेषं वक्तुमर्हसि । तव धर्मज्ञ ! सर्वं हि विदितं कुरुसत्तमे"ति साङ्ख्ययोगविशेषविषयकप्रश्ने साङ्ख्ययोगयोः प्रशंसामुक्त्वा, "विशन्ति स्ववशाः पार्थ ! योगाद्योगबलान्विताः । प्रजापतीनृषीन्देवान्महाभूतानि चेश्वराः ॥ न यमो नान्तकः क्रुद्धो न मृत्युर्भीमविक्रमः । ईशते नृपते ! सर्वे योगस्यामिततेजसः ॥ आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ ! । योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीञ्चरेत् ॥ प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् । संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिवे"त्यभिहितम् ॥ २७ ॥

सू० शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ १ । ३ । २८ ॥

(वे०पा०सौ०) देवादीनां विग्रहवत्यपि स्वीकारे तद्वाचिनि वैदिके शब्दे विरोधः स्यात् अर्थोत्पत्तेः प्राग्विनाशानन्तरं च निरर्थकत्वापत्तेरिति चेत् । नायं विरोधः । अतः शब्दादेव नित्याकृतिवाचकात्प्रजापतिबुद्ध्युद्बोधकादर्थस्य प्रभवात्, "वेदेन नामरूपे व्याकरोत्" "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तय" इत्यादिस्मृतिभ्याम् ॥ २८ ॥

(वे०कौ०) अत्र पूर्वसूत्राद्विरोध इत्यनुवर्तते । ननु देवादीनां विग्रहवत्त्वे मास्तु कर्मणि विरोधस्तथापि देवादिवाचिनि शब्देऽर्थोद्वेदिके प्रयोगे विरोधः स्यात्, कर्मजन्यत्वेन देवादिशरीरस्यानि-

त्यत्वाद्वेदवाक्यस्य नित्यत्वाच्च शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धानुपपत्त्या नियतकालस्यार्थस्य त्रैकालिके शब्दे विरोधः स्यादित्यर्थः, शब्दसामर्थ्यादर्थोऽपि नित्यश्चेत्तदनित्यत्वप्रतिपादकशब्दे विरोधः स्यात्, अर्थानुरोधेन शब्दोऽनित्यश्चेत्तन्नित्यत्वप्रतिपादकशब्दे विरोधः स्यादिति चेन्न । शब्देऽपि विरोधो नास्ति । कुतः ? अतः प्रभवात् । अतः तत्तत्सृष्टिकालिकसृज्यमानदेवादिविग्रहादिविषयकस्रष्टृविज्ञानोद्बोधकदेवादिनित्याकृतिवाचकाच्छब्दादेव वेदलक्षणादेवादेः प्रभवादुत्पत्तेः । तथाहि यदा कश्चिन्महापुरुषः कृतपुण्यपुञ्जः प्रजापतिर्भविष्यामीत्यभिसन्धिवान्भगवदनुग्रहाल्लब्धैश्वर्यो हि प्रजापतिरित्युच्यते । स वक्ष्यमाणप्रकारेण लब्धवेदः सुप्तप्रतिबुद्धवत्सृष्टिवेलायां प्रदीपस्थानीयेन वेदेन पूर्वदेवादिव्यक्तौ विनष्टायां सत्यां तत्तदाकृतिविशेषवाचकाद्वेदशब्दादेव देवाद्याकृतिविशेषमवधार्य तत्तदाकारमपरदेवादिकं तत्तत्सृष्टिवेलायां करोति, तस्मान्नोक्तविरोधावकाशः । ननु वेदशब्दात्तत्तदाकृतिमवगम्य प्रजापतिः सृष्टिं करोतीत्यत्र किम्मानम्? । अत्रोच्यते प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिति । प्रत्यक्षं श्रुतिः प्रमाणान्तरानपेक्षत्वात्, श्रुत्यर्थनिर्णायकत्वादनुमानं स्मृतिः ताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्याम् । श्रुतिस्तावत् "वेदेन नामरूपे व्याकरोत्सतासती प्रजापतिः," तथा "स भूरिति व्याहरन्भूमिमसृजत स भुव इति व्याहरन्नन्तरिक्षमसृजत"त्यादिका । स्मृतिरपि मोक्षधर्मे "ऋषयस्तपसा वेदानध्यैष्यन्त दिवानिश"मित्युपक्रम्य, "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः । नानारूपञ्च भूतानां कर्मणाञ्च प्रवर्त्तनम् ॥ वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः । नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु सृष्टयः ॥

शर्वर्यन्ते स जातानामन्येभ्यो व्यदधादजः । नामभेदतपःकर्मयज्ञाख्या लोकसिद्धयः ॥" इति, तथा "नामरूपञ्च भूतानां कर्मणाञ्च प्रवर्त्तनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥ सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥" इत्यादिका ॥ २८ ॥

सू० अतएव नित्यत्वम् ॥ १ । ३ । २९ ॥

(वे०पा०सौ०) प्रजापतेः सृष्टिः शब्दपूर्विकाऽतो हेतोर्वेदस्य नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

(वे० कौ०) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिना वेदस्य नित्यत्वेऽपि देशादिविग्रहवाचकानां वैदिकशब्दानामनित्यार्थपरत्वमाशङ्क्य तत्राप्यापतितामनित्यताभ्रान्तिं निरस्य तत्प्रसङ्गाद्वेदस्य नित्यत्वं द्रढयति ।

शब्दस्य वेदस्य अतएव प्रजापतिसृष्टेः पूर्वचनित्वादपि नित्यत्वम् । विश्वामित्रेण प्रोक्तं वैश्वामित्रम् , कठेन प्रोक्तं काठकमित्यादिनिर्वचनं तु तदुच्चारितमात्रविषयम् । प्रजापतिर्हि प्रलयानन्तरं "मन्त्रकृतो वृणीते विश्वामित्रस्य सूक्तं भवती"त्यादिवेदस्थविश्वामित्रादिशब्दैस्तत्तदाकृतिशक्त्यादिकं विचिन्त्य तत्तदाकारांस्तत्तच्छक्तियुक्तांस्तान् निर्माय तत्तन्मन्त्रादीप्रकाशने विनियुङ्क्ते । तेऽपि तदाहितशक्तयस्तदनुगुणं तपस्तप्त्वा नित्यसिद्धान्पूर्वपूर्वविश्वामित्रादिप्रकाशितान् वेदैकदेशभूतमन्त्रादीननधीत्यैव स्वरतो वर्णतश्चास्खलितान्पठन्तीति तेषां मन्त्रादिकृत्त्वेऽपि वेदस्य नित्यत्वमुपपन्नम् ॥ २९ ॥

सू० समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ १ । ३ । ३० ॥

(वे०पा०सौ०) एवं प्राकृतसृष्टिसंहारात्मिकायामावृत्तावपि न विरोधः, कुतः ? कल्पादौ सृज्यमानस्य पदार्थस्य कल्पान्तरातीतेन पदार्थेन तुल्यनामरूपादिमत्त्वात् "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पय"दिति दर्शनात्, "यथर्त्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिष्वि"ति स्मृतेः ॥ ३० ॥

(वे०कौ०) ननु नैमित्तिकप्रलये प्रजापतिः सुषुप्तोत्थितन्यायेन वेदद्वारा तत्तदाकृतिविद्यथापूर्वं सृजतीत्युपपद्यते, प्राकृतप्रलये तु सर्वविच्छेदात्कुतो वेदस्य सृष्टेः पूर्ववर्त्तित्वम् ? कथञ्च नित्यत्वम् ? कथञ्च तत्पूर्वत्वम् जगतः ? स्यादित्यत्राह ।

चशब्दः (१)शङ्कानिरासार्थः । अपिशब्दः सम्भावनायाम् । प्राकृतसृष्टिप्रलयप्रवाहरूपायामावृत्तावपि महाप्रलयावसाने प्रथमसृष्टौ खलु न कोऽपि विरोध इति यावत् । कस्मात् ? "समाननामरूपत्वात्" । तथाहि प्राकृतप्रलये भगवान्वासुदेवः स्वकीयचिदचिच्छक्तिमयं कूर्म्मोऽङ्गानीव सर्वं कार्य्यमात्रं समाहृत्य सृष्टिप्रतिलोमक्रमेण स्वस्मिन्संस्थाप्य स्वासाधारणनित्यानन्तस्वाभाविकगुणगणैकनिलयश्चेतनाचेतनशक्तियुतस्तूर्ष्णीम्भूत्वा संहृतक्रीडनको बाल इवास्ते स्म । तदा वेदास्तदभ्यिास्तत्तदाकृतयश्च तस्मिन्नेकीभूय तिष्ठन्ति । एवं सर्वं जगच्चिदचिच्छक्तिमति ब्रह्मणि वासुदेवे कारणे सदैव तिष्ठति, न निरन्वयो नाशोऽस्ति "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय"मिति श्रुतेः । हे ! सौम्येदं जगदग्रे सृष्टेः प्राक् सदेवासीत् कारणानन्यमेवासीत्तच्च सच्छब्दार्थभूतं कारणमेकमेवाद्वितीयं तस्यैवकाराद्वितीयशब्दाभ्यां समानातिशयवर्जितत्वं चिदचिच्छक्त्याश्रयत्वादनेकत्वमपि स्वभावत एव बोद्धव्यम् । कार्यस्य सूक्ष्मरूपेण कारणे स्थितिः प्रलयः, तथाभूतस्याभिव्य-

(१) हरौ सर्वनिर्वाहके जगत्कारणे सति इका शङ्का न कार्य्यत्यर्थः ।

क्तीकरणमात्रं खलु सुप्तिरभिप्रेता । प्रलयावसाने च सर्वज्ञः सर्ववित् भगवान्बहु स्यामिति सङ्कल्पपूर्वकं स्वस्मिन्सूक्ष्मशक्त्यात्मना प्रलीनं भोक्तृभोग्यजातं विभज्य महदादिचतुर्मुखपर्यन्तमण्डं पूर्ववत्सृष्ट्वा वेदांश्चानादिसिद्धान्प्रकटीकृत्य ब्रह्मणे तान्मनसोपदिश्य पूर्ववदेवमनुष्याद्याकारविश्वसृष्टौ तं नियुज्य स्वयञ्च तदन्तरात्मतयाऽवतिष्ठते "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश"दितिश्रुतेः । ब्रह्मापि तदनुग्रहलब्धवीर्यैस्तैर्वेदशब्दैस्तत्तदाकृतीर्विमृश्य देवादीन्सृजतीति, अत आवृत्तावपि न विरोध इत्यर्थः । एतदेव हि वेदस्यापौरुषेयत्वं परब्रह्मण इव नित्यसिद्धरूपत्वात् ,नित्यत्वञ्च यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव च क्रमविशेषं स्मृत्वा तेनैव क्रमेणोच्चार्यत्वमिति । कस्मादिदमवगम्यत ! इति चेत् । तत्राह "दर्शनात्स्मृतेश्च ।" हृदयतिमिरनिर्णाशकं दर्शनम्(१) श्रुतिः "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै, तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहम्प्रपद्ये" इति, तथा "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्व"रिति । स्मृतिरपि "तत्र सुप्तस्य देवस्य नाभौ पद्ममजायत । तस्मिन्पद्मे महाभाग ! वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ब्रह्मोत्पन्नः स तेनोक्तः प्रजाः सृज महामते ! । यथर्त्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ॥ दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु । ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः ॥ शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः । तथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह ॥ देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव चे"त्यादिका । अतो देवादीनामप्यर्थित्वादिसम्भवाद्ब्रह्मविद्याधिकारे न कश्चिद्विरोधः । तस्माद्ब्रह्मविद्यायां देवानामधिकारोऽस्तीति सिद्धम् ॥ ३० ॥ इति देवताधिकरणम् ॥ ७ ॥

---

(१) आलोको दर्शनं दर्शः इति कोशात् ।

सू० मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥ १ । ३ । ३१ ॥

(वे०पा०सौ०) उपास्यस्योपासकत्वासम्भवात् मध्वादिषु विद्यासु सूर्यादीनामनधिकार इति जैमिनिर्मन्यते ॥ ३१ ॥

(वे०कौ०) एवम्ब्रह्मविद्यायां देवादीनामधिकार उक्तः, इदानीम्मध्वादिषु विद्यासु तेषामधिकारोऽस्ति न वेति विचार्य्यते।

छान्दोग्ये मधुविद्या श्रूयते "असौ वा आदित्यो देवमधि"-त्यादिना। आदिशब्देन यासु देवादीनामुपास्यत्वं ता अन्या अपि विद्या ग्रहीतव्याः। तत्र संशयः मध्वादिषु देवादिनामधिकारोऽस्ति न वेति। किं तावद्युक्तम्? मध्वादिषु विद्यासु सूर्य्यवस्वादीनां देवानामनधिकारः अधिकाराभावः इति जैमिनिराचार्य्यो मन्यते। कुतः? "असम्भवात्"। तासु आदित्यवस्वादीनामुपास्यत्वेन गृहीतानामुपासकत्वासम्भवात् ॥ ३१ ॥

सू० ज्योतिषि भावाच्च ॥ १ । ३ । ३२ ॥

(वे०पा०सौ०) ब्रह्मणि तेषामुपासकत्वेन भावाच्च मध्वादिष्वनधिकार इति पूर्वः पक्षः ॥ ३२ ॥

(वे०कौ०) तर्हि देवा निरीश्वरा इति न शङ्क्यम्। परस्परं तेषां समानकल्पानां स्पर्द्धया नाशप्रसङ्गात्, "भीषोदेति सूर्य"इत्यादिश्रुतिव्याकोपाच्च, किन्तु ते परमात्मोपासकाः स्वयमन्यैरुपास्या इत्याह "ज्योतिषि" परस्मिन्ब्रह्मणि देवादीनां मध्वादिषूपास्यानामप्युपासकत्वेन भावाच्च नोपासकत्वेन मध्वादिषु परिग्रह इत्यर्थः, "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतमि"ति श्रुतेः ॥३२॥

सू० भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ १ । ३ । ३३ ॥

(वे०पा०सौ०) तत्र सिद्धान्तमाह, मध्वादिष्वपि सूर्यवस्वादीनामधिकारसद्भावं बादरायणो मन्यते। हि यतस्तेषां स्वान्तर्यामिब्रह्मोपासनेन क-

स्यान्तरेऽपि स्वाधिकारप्राप्तिपूर्वकब्रह्मलिप्सासम्भवोऽस्ति ॥३३॥

(वे०कौ०) एवं जैमिनेर्मतमनूद्य तन्निराचिकीर्षुर्भगवान्स्वमतमाह।

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः। मध्वादिषूपासनास्वपि सूर्यवस्वादीनां भावमधिकारसद्भावं भगवान्बादरायणो मन्यते । हि यतः आदित्यवस्वादीनामपि सतामिह स्वान्तर्यामिब्रह्मोपासनेन कल्पान्तरेऽप्यादित्यवसुत्वादिप्राप्तिपूर्वकब्रह्मलिप्सासम्भवोऽस्ति। तथा चात्र कार्यकारणोभयावस्थब्रह्मोपासनस्य विधीयमानत्वाद्वस्वादित्यादिशब्दानां स्वान्तर्यामिब्रह्मपर्य्यन्तत्वेन वस्वादीनामेवोपास्यत्वं प्राप्यत्वं च सम्भवतीति "य एतां ब्रह्मोपनिषदं वेद"-त्युपसंहारस्य वस्वादिशब्दानां ब्रह्मपर्यन्तत्वे मानत्वात् । एवञ्च मध्वाद्युपासनास्वपि ब्रह्मण एवोपास्यत्वात् "तद्देवा ज्योतिषां ज्योति"रिति श्रुतिरपि सङ्गता । न च मधुविद्याफलस्य वसुत्वादिप्राप्तेः सिद्धत्वेनार्थित्वासम्भवः, लोके धनिनामेव सतां जन्मान्तरे धनादिप्रेप्सादर्शनात् । तस्मान्मध्वादिषु देवानामधिकारोऽस्तीति सिद्धम् ॥ ३३ ॥ इति मध्वधिकरणम् । ८ ।

सू० शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणा-
त्सूच्यते हि ॥ १ । ३ । ३४ ॥

(वे०पा०सौ०) छान्दोग्ये मुमुक्षौ गुरुप्रयुक्तं शूद्रपदमालोच्य शूद्रोऽपि ब्रह्मविद्यायामधिक्रियते इति नाशङ्कनीयम्, अस्य मुमुक्षोर्जानश्रुतेर्हंसप्रयुक्तानादरवाक्यश्रवणात् । तदैव गुरुं प्रत्याद्रवणात् शुक् सञ्जाता इति शूद्रेति सम्बोधनेन सूच्यते ॥ ३४ ॥

(वे०कौ०) बृहदारण्यके "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत"-इतिश्रुतौ देवशब्दोक्ता देवानामप्यधिकारो यथोक्तस्तथा छान्दोग्येऽपि मुमुक्षौ जानश्रुतौ शूद्रशब्दश्रुत्या ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याप्यधिकारोऽस्ति नवेतीदानीं विचार्यते ।

छान्दोग्ये संवर्गविद्यायाम् "अहहारे त्वा शूद्र ! तवैव सह गोभिरस्तु आजहारेमाः शूद्रे"त्यत्र शूद्रशब्दोक्त्या शूद्रस्याप्यधिकारः सम्भाव्यते, तस्याप्यर्थित्वादिसम्भवात् । तस्य ब्रह्मस्वरूपादिज्ञानं चेतिहासादिश्रवणेन भविष्यति "श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत" इत्यादिपूर्वोक्तेः, "सुगतिमियाच्छ्रवणाच्च शूद्रयोनिः" इति हरिवंशोक्तेश्च तस्यापि तच्छ्रवणानुज्ञानात् । तस्माच्छूद्रो यज्ञे नावक्लृप्त" इतिनिषेधस्तु तस्याग्निसाध्ययज्ञादिकर्मानधिकारमात्रविषयः, न तु विद्यानधिकारे हेतुः, विद्याया मनोवृत्तिसाध्यत्वात् विदुरादिषु सुलभादिषु स्त्रीषु च ब्रह्मविद्यादर्शनाच्चेति प्राप्ते, उच्यते । न खलु शूद्रो ब्रह्मविद्यायामधिक्रियते ब्रह्मस्वरूपतदुपासनोपायज्ञानाभावेनासमर्थत्वात् , ब्रह्मोपासनस्य मनोवृत्तिमात्रनिर्वर्त्यत्वेऽपि ब्रह्मस्वरूपादिज्ञानस्योपनयनपूर्वकवेदाध्ययनजन्यत्वात् , शूद्रस्योपनयनविध्यविषयत्वात्सामर्थ्याभावेऽर्थित्वस्याकिञ्चित्करत्वात् । कर्मविधेरिवोपासनविधीनामपि त्रैवर्णिकविषयत्वात् कर्मस्विव विद्यास्वपि निषेधस्य तुल्यत्वम् । "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेदि"तिवचनात् इतिहासादीनामपि स्वाध्यायसिद्धज्ञानोपबृंहकत्वाच्च ततोऽप्यस्य ज्ञानलाभः । श्रवणानुज्ञानं तु शूद्रस्य पापनाशपूर्वकैहिकामुष्मिकाभ्युदयार्थं नोपासनार्थम् । विदुरादीनां तु जन्मान्तरप्राप्तज्ञानाप्रमोषादुज्ञानवत्त्वं प्रारब्धवशाच्चेदृशं जन्मेति ज्ञेयम् । तस्माच्छूद्रस्य ब्रह्मविद्यायां नाधिकारः । श्रौतं शूद्रपदं त्वेवं व्याख्येयमित्याह भगवान्सूत्रकारः शुगित्यादिना । हि यतः अस्य जानश्रुतेः पौत्रायणस्याब्रह्मज्ञतया "कम्वर (१)एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थे"ति हंसमुक्तानादरवाक्यश्रवणाच्चदैव ब्रह्मज्ञं रैक्वं

(१) कम् उ अरे एनमिति पदानि ।

सयुग्वानं प्रत्याद्रवणात् शुक् सञ्जातेति सूच्यते । अतोऽशूद्रेऽपि शूद्रेति मुनिप्रयुक्तं सम्बोधनं मां धनदानेन वशीकृत्य ब्रह्मविद्यां मत्तो ग्रहीतुमागतोऽयं जानश्रुतिः कृतकृत्यं सर्वज्ञं मां न जानातीति स्वस्य सर्वज्ञत्वज्ञापनार्थम् । तथाहि—"जानश्रुतिः पौत्रायणिर्धर्मज्ञो राजर्षिः आसीत् । तस्य राज्ञो गुणगणयन्त्रिताः सन्तो देवर्षयो हंसा भूत्वाऽस्मदुपालम्भमवधार्यायं जानश्रुतिर्ब्रह्मज्ञस्य रैकस्य समीपं गत्वा ब्रह्मविद्भविष्यतीत्यभिप्रायवन्तो ग्रीष्मे प्रासादोपरि शयानस्य राज्ञ उपरि मालाकाराः सन्तो जग्मुस्तत्राग्रगं हंसं तदनुगो हंसः साद्भुतमभ्युवाच-"भो भो भल्लाक्ष ! भल्लाक्ष ! अस्य राज्ञो जानश्रुतेर्द्युलोकं व्याप्य विद्यमानं तेजो न पश्यसि किं ? तत्तेजस्त्वां धक्ष्यति, अतस्तदतिलङ्घ्य मागच्छे"ति । स्वानुगवचनं श्रुत्वाऽग्रगो हंसः प्रत्युवाच "कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैकमात्थे"ति । एनं जानश्रुतिं सयुग्वानं रैकमिवात्थ युग्वा शकटी तया सह वर्तते यो भगवान् ब्रह्मवित् रैकस्तद्विधं ब्रवीषि । सयुग्वानमिति तत्प्राप्त्यर्थं तल्लिङ्गं सूचितम् । अथ जानश्रुतिरपि हंसोक्तानादरवाक्यं श्रुत्वा निशापाये स्वपुरुषद्वारा रैकं निश्चित्य गवां षट्शतानि हारमश्वयुक्तं रथञ्चादाय रैकं मुनिमुपससाद, उपसद्य चोवाच "हे रैक ! इदं सर्वं गवादि गृहीत्वाऽनुशाधि मां भगवन्नि"ति । रैक उवाच "अहहारे" इत्यादि । हे शूद्र ! (१)गोभिः सहितः रथादिधनपूगः खलु तवैवास्तु । हे शूद्रेति असकृत् सम्बोधयामास च । शोचतीति शूद्रः । "शुचेर्दश्चेति" रक्प्रत्यये धातोश्च दीर्घे चकारस्य दकारः । इति विद्योपदेशयोग्यत्वख्यापनार्थं शोक एवास्य जानश्रुतेः रैकेण सूचितो न जातियोग इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

---

(१) हारे त्वाहारेण च इत्यधिकः पुस्तकान्तरे पाठः ।

सू० क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् । १ । ३ । ३५ ॥

(वे०पा०सौ०) "अथ ह शौनकञ्च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षिसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे" इत्युत्तरत्र चैत्ररथेनाभिप्रतारिणा क्षत्रियेण सह समभिहाररूपलिङ्गाज्जानश्रुतेः क्षत्रियत्वस्यावगतेर्न जानश्रुतिः शूद्रः ॥ ३५ ॥

(वे०कौ०) इतश्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वं गम्यत इत्याह ।

शुगेवास्य सञ्जाताऽतो मुनिना शूद्रेत्युक्तो जानश्रुतेर्न शूद्रत्वं जातिनिबन्धनम् । कुतः ? "क्षत्रियत्वावगतेः" । तथाहि उपक्रमे "बहुदायी बहुपाक्य" इत्यादिना दानपतित्वबहुपकान्नदायित्वप्रतीतेः, "क्षत्तारमुवाचे"ति क्षत्तृप्रेषणात् रैक्वाय गोनिष्करथकन्यादिदानाच्चास्य क्षत्रियत्वावगमाच्च । एवमुपक्रमवाक्यगतं जानश्रुतेः क्षत्रियत्वसाधकं लिङ्गमुक्त्वा संवर्गविद्यावाक्यशेषगतं लिङ्गं दर्शयति काकाक्षिन्यायेन, चकार उभयान्वयी, "उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गाच्चे"ति । उत्तरत्र संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथेन प्रसिद्धक्षत्रिययाजकसाहचर्य्यान्निश्चितेन क्षत्रियेणाभिप्रतारिनाम्ना सह समुच्चारणाल्लिङ्गाच्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वमवगम्यते । तथाहि "अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं सूदेन परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्ष" इतिवाक्यशेषे चैत्ररथोऽभिप्रतारिनामकः सङ्कीर्त्यते । अयमर्थः । सूदेन महानसाधिष्ठात्रा परिविष्यमाणौ परिवेष्यमाणौ कौ इत्यपेक्षायामाह श्रुतिः "शुनकापत्यं कपिगोत्रं पुरोहितं अभिप्रतारिनामकं कक्षसेनापत्यं च राजानं, तौ हि यदा भोक्तुमुपविष्टौ तदा भिक्षितवानिति । ननु कथमभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वमिति चेत् । उच्यते । कापेयेन चित्ररथयाजकेन योगात्तथात्वम् । "एतेन वै चित्ररथं कापेयाः अयाजयन्निति" श्रुतौ चित्ररथपुरोहितत्वं कापेयानां प्र-

सिद्धम् । एतेन द्विरात्रेणेत्यर्थः । ननु चित्रपुरोहितसहचरत्वेना-भिप्रतारिणो भवतु चैत्ररथत्वम्, तस्य क्षत्रियत्वे किम्मानमिति चेत् । "तस्माच्चैत्ररथो नामकः क्षत्रपतिरजायते"ति श्रुतिर्मानम् । तस्माच्चित्ररथादित्यर्थः । उपसंहारे क्षत्रियनिश्चये उपक्रमेऽपि जानश्रुतिः क्षत्रिय इति सूत्रार्थः । एकस्यां विद्यायां समानजातीयानां प्रायेण सङ्कीर्तनसम्भवात् । किञ्चोपसंहारे कापेयब्राह्मणसहचरत्वादभिप्रतारिणः क्षत्रियत्वे निश्चिते, उपक्रमे रैक्वसंसर्गाज्जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं निश्चितमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

सू० संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ १ । ३ । ३६ ॥

(वे०पा०सौ०) विद्याप्रदेशे "तं होपनिन्ये" इत्यादिनोपनयनसंस्कारपरामर्शात् "शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिर्न च संस्कारमर्हतीति" तदभावाभिलापाच्च विद्यायां शूद्रो नाधिक्रियते ॥ ३६ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामनधिकारो युक्त्या साधितोऽथ श्रुत्यादिभिस्तस्यानधिकार उच्यते । शूद्रस्य न विद्याधिकारः, ? कुतः "संस्कारपरामर्शात् ।" विद्योपदेशप्रदेशेषु "तं होपनिन्ये" इत्यादिषूपनयनसंस्कारपरामर्शात् । तर्हि शूद्रस्याप्युपनयनं कल्प्यताम् ? नेत्याह "तदभावाभिलापाच्च" । "न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति" "शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजाति"रित्यादिना शूद्रस्योपनयनादिसंस्काराभावकथनादित्यर्थः । इतरेषां तु "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत । एकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्य"मित्युपनयनमभिधीयते, तत्परामर्शो विद्याप्रदेशेषु सङ्गच्छते ॥३६॥

सू० तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ १ । ३ । ३७ ॥

(वे०पा०सौ०) किञ्च गौतमस्य जाबालेः शूद्रत्वाभावनिर्णये सति तमुपनेतुमनुशासितुं प्रवृत्तेः शूद्रस्यानाधिकार एवात्र ॥ ३७ ॥

(वे०कौ०) इतश्च न शूद्रस्याधिकार इत्याह ।

मृतपितृको मुमुक्षुर्गुरूपसदनं करिष्यन्गोत्रज्ञानार्थं जाबालो मातरम्पप्रच्छ "किंगोत्रोऽहमस्मीति" । साऽपि गोत्रमजानन्ती प्रत्युवाच "न जानामीति" । जाबालोऽपि "हे भगवन् ! त्वयि ब्रह्मचर्यं चर्तुमिच्छामीति" गौतममुपमयोवाच । ततस्तेन "किंगोत्रः असी"ति पृष्टो जाबाल आह "नाहमेतद्वेद भो ! यद्गोत्रोऽहमस्मी"त्यादि । एवं सत्यवचनेन जाबालेनोक्ते सति "नैतदब्राह्मणो वक्तुमर्हती"ति जाबाले शूद्रत्वाभावस्य निर्द्धारणे निर्णये सति "समिधं सौम्य ! आहर उप त्वा नेष्ये न सत्यादगा" इति जाबालमुपनेतुमनुशासितुञ्च गौतमस्य प्रवृत्तेर्विद्यायां शूद्रो नाधिक्रियते ॥ ३७ ॥

सू० श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् ॥ १ । ३ । ३८ ॥

(वे०पा०सौ०) शूद्रो नाधिक्रियते "शूद्रसमीपे नाध्येतव्यमि"त्यादिना तस्य वेदश्रवणादिप्रतिषेधात् ॥ ३८ ॥

(वे०कौ०) इतोऽपि न शूद्रस्याधिकारः, कुतः ? पद्युह वा एतत् श्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्, तस्माच्छूद्रो बहुपशुरयज्ञीय" इत्यादिना शूद्रस्य श्रवणादिप्रतिषेधात् । पद्यु पादयुक्तं सञ्चारक्षमं एतत् एतादृशं यत् श्मशानं स शूद्र इत्यर्थः । तस्य समीपेऽध्ययनमपि न कर्त्तव्यम् । तस्य वेदश्रवणं तदध्ययनं तदर्थज्ञानं तदुक्तधर्मानुष्ठानञ्च सुतरां निषिद्धमस्तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

सू० स्मृतेश्च ॥ १ । ३ । ३९ ॥

(वे०पा०सौ०) "न चास्योपदिशेद्धर्ममि"त्यादिस्मृतेश्च ॥३९॥

(वे०कौ०) "न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् । न शूद्राय मतिं दद्यादि"तिस्मृतेश्च ॥ ३९ ॥

सू० कम्पनात् ॥ १ । ३ । ४० ॥

(वे०पा०सौ०) प्रमितः परः पुरुषः प्रतिपत्तव्यः, सर्वजगत्कम्पकत्वान्महदादिभ्यश्च ॥ ४० ॥

(वे०कौ०) शब्दादेव प्रमित इत्यङ्गुष्ठप्रमितपुरुषविचारे प्रसङ्गात्प्राप्तमाधिकारविचारं समाप्य प्रकृतं समापयति ।

प्रमित इत्यनुवर्त्तते । कठवल्ल्यामङ्गुष्ठमात्रपुरुषप्रकरणे "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ती"ति श्रूयते । तत्र प्राणशब्दितः प्रमितोऽङ्गुष्ठपरिमाणकः पर एव । कुतः ? "कम्पनात्" । स्वस्मान्निःसृतस्य कृत्स्नस्य जगतः कम्पनहेतुत्वात्, ब्रह्मापरपर्यायमहत्पदप्रयोगाच्च, "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चम"इति सर्वभयहेतुभूतप्रतिपादकभयशब्दाच्च, स्वविषयकज्ञानवताममृतहेतुत्वाच्च ॥ ४० ॥

सू० ज्योतिर्दर्शनात् ॥ १ । ३ । ४१ ॥

(वे०पा०सौ०)"तस्य भासे"तिज्योतिर्दर्शनात् प्रमितः पुरुषः परः ४१

(वे०कौ०) कठवल्ल्यामेवाङ्गुष्ठप्रमितपुरुषप्रकरणे प्राणवाक्यात्प्राक् श्रूयते "न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकम् नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती"तिवाक्ये भाश्शब्दवाच्यस्य परमात्मासाधारणस्य ज्योतिषो दर्शनादप्यङ्गुष्ठमात्रः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ ४१ ॥ इत्यपशूद्राधिकरणम् ॥ ९ ॥

सू० आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ १ । ३ । ४२ ॥

(वे०पा०सौ०) "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते"त्यत्राकाशशब्दवाच्यः पुरुषोत्तमः । कुतः ? मुक्तात्मनः जीवात्परमात्मनो नामरू-

पोपलक्षितनिखिलनामरूपवद्वस्तुनिर्वोढृतयाऽर्थान्तरत्वेन व्यपदेशात्, ब्रह्मत्वामृतत्वादिव्यपदेशाच्च ॥ ४२ ॥

(वे०कौ०) एवं शब्दादेव प्रमित इत्यनेनाङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्ब्रह्मणि नीता प्रासङ्गिकाधिकरणान्ते पुनर्दृढीकृताऽथेदानीं परमात्मनोऽसङ्गत्वसर्वगतत्वकथनायाकाशश्रुतिस्तस्मिन्नीयते।

छान्दोग्ये "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता, ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मे"ति श्रूयते। तत्र संशयः किमत्राकाशशब्देन भूताकाश उत संसारबन्धननिर्मुक्तो जीवः आहोस्वित्परमात्मा ग्राह्य इति। भूताकाशो ग्रहीतव्यः, आकाशशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धेरिति चेत्। नात्मशब्दात्। किं तर्हि प्रतिपत्तव्यम्? मुक्तजीवः इति। कुतः? "अश्व इव रोमाणि विधूये"त्यादिना मुक्तजीवस्यैव पूर्वं प्रकृतत्वात्। "ते यदन्तरे"ति। ते नामरूपे यस्माज्जीवात्संसारविमुक्तादन्तरा बाह्ये इत्यर्थः। "यथा नद्यो नामरूपे विहाय" इत्यादिना मुक्तावस्थायां प्रसिद्धनामरूपपरित्यागसम्भवाच्च मुक्तात्मन आविर्भूतज्ञानवत्तयाऽऽकाशशब्दस्यापि तत्रोपपन्नत्वात् "तद्ब्रह्म तदमृतमि"ति मुक्तावस्थोच्यत इति प्राप्ते, ब्रूमः। आकाशशब्दार्थोऽत्र परमात्मा भवितुमर्हति। कुतः? "अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्"। आकाशशब्दार्थस्य "ते यदन्तरे"-त्यनेन नामरूपास्पृष्टस्यैव "नामरूपयोर्निर्वहिते"ति नामरूपनिर्वोढुर्नामरूपनिर्वोढृत्वशून्यादर्थादर्थान्तरत्वेन व्यपदेशादित्यर्थः। बद्धावस्थायां जीवस्य कर्माधीनतया नामरूपे भजतः स्वयं नामरूपे निर्वोढुं व्याकर्तुमशक्यत्वान्मुक्तावस्थायां च जगद्व्यापारासम्भवस्य वक्ष्यमाणत्वात्सुतरां नामरूपनिर्वोढृत्वासम्भवाच्च। परमात्मनस्तु सर्वजगन्निर्मितिकुशलस्य "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य, नामरूपे व्याकरवाणि, तस्मादेतन्नामरूपमन्नं च जा-

यते, सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" इत्यादिश्रुत्यैव तन्निर्वोढृत्वं सुप्रतिपन्नम् । आदिपदार्थस्य नित्याविर्भूतबृहत्त्वामृतत्वादिभगवदसाधारणधर्मस्य व्यपदेशाच्च । नापि पूर्वमुक्तः प्रकृतः "ब्रह्मलोकमभिसम्भवानी"ति ब्रह्मलोकशब्दितपरमात्मन एव प्रकृतत्वात्, आकाशशब्दस्याऽपि व्यापकत्वेनासङ्गत्वेन च परमात्मन्येव प्रसिद्धत्वाच्च।४२।इत्याकाशार्थाधिकरणम् १०

सू० सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ १ । ३ । ४३ ॥

(वे०पा०सौ०) अज्ञात्सर्वज्ञस्य सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशाच्च ४३

(वे०कौ०) ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थपर्यालोचनया परमात्मनोऽर्थान्तरत्वासम्भवात्कथमुच्यते "अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशादि"ति चेत् । सत्यम् । ब्रह्मांशभूतस्य ब्रह्मव्यतिरिक्तस्थितिप्रवृत्त्याद्यभावेन ब्रह्माभिन्नत्वेऽपि स्वासाधारणधर्मवत्त्वेन भेदोऽपि दुर्वार इत्याह भगवान् सूत्रकारः ।

व्यपदेशादित्यनुवर्तते । "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर"मिति सुषुप्तौ "प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन् याती"त्युत्क्रान्तौ चाल्पज्ञाज्जीवाद्भेदेन सर्वज्ञतया परमात्मनो व्यपदेशात् । अन्वारूढोऽधिष्ठितः उत्सर्जन् घोरान् शब्दान् हिकशब्दान् वा कुर्वन् नहि स्वपत उत्क्रामतो वाऽज्ञस्य तदैव प्राज्ञेन स्वेनैव सता परिष्वङ्गान्वारोहौ सम्भवतः, न च जीवान्तरेण, तस्यापि सार्वज्ञ्यासंभवात् ॥ ४३ ॥

सू० पत्यादिशब्देभ्यः ॥ १ । ३ । ४४ ॥

(वे०पा०सौ०) "सर्वस्याधिपतिः, सर्वस्येशानः" इत्यादिशब्देभ्यो जीवाद्भेदेन परमात्मनो व्यपदेशात्स एवाकाश इति स्थितम् ॥४४॥

इति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

(वे० कौ०) भेदमेवाह ।

जीवपरमात्मनोर्भेद एव, कुत ? "पत्यादिशब्देभ्यः", "सर्वस्याधिपतिः, सर्वस्यवशी, सर्वस्येशानः, सर्वमिदम्प्रशास्ति, एष सर्वेश्वर" इत्यादिभ्यः । प्राग्दर्शितावपि भेदाभेदौ विस्तरतोऽग्रे वक्ष्यामः । तस्मादर्थान्तरत्वादिव्यपदेशादाकाशशब्दार्थः परमेश्वर एवेति सिद्धम् ॥ ४४ ॥ इति अर्थान्तरत्वाधिकरणम् ॥१०॥

इति श्रीश्रीनिवासाचार्य्यविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये वेदान्तकौस्तुभे प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

सू० आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ । ४ १ ॥

(वे०पा०सौ०) ननु "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः पर" इत्यत्र कठशाखायामानुमानिकम्प्रधानमपि शब्दवदुपलभ्यते इति चेन्न । "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव चे"त्यत्र शरीरस्य रथरूपकविन्यस्तस्याव्यक्तशब्देन ग्रहणात्। इन्द्रियादीनां वशीकरणप्रकारं प्रतिपादयन् ,रूपकपरिकल्पितं ग्रहणमेव दर्शयति च वाक्यशेषे "यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि। ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनी"ति॥१॥

(वे०कौ०) एवं त्रिपाद्यां चिदचिच्छक्तिमति स्वाभाविकानन्ताचिन्त्यकल्याणगुणगणार्णवे समस्तप्राकृतगुणास्पृष्टे जगत्कारणे ब्रह्मणि श्रुतीनां समन्वयो दर्शितः । पुनरिदानीं चतुर्थे पादे कापिलतन्त्रसिद्धाऽब्रह्मात्मकप्रधानादिप्रतिपादनशङ्काजनकानां वाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयं दर्शयन्नुपादेयं च ब्रह्मात्मकम्प्रधानम्प्रतिपादयन् क्वचिदव्यक्तादयः शब्दाः प्रधानवाचकाः श्रूयन्तेऽतो न साङ्ख्याभिमतस्य प्रधानस्याशब्दत्वं केवलमानुमानिकत्वं चेति शङ्कां निराकरोति भगवान्सूत्रकारः ।

काठवल्लीषु श्रूयते "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः" इति। तत्र संशयः अव्यक्तशब्दितमत्र साङ्ख्याभिमतम्प्रधानम् उत शरीरमिति। अत्र पूर्वः पक्षः प्रधानमस्तु महदादिपुरुषान्तस्य कपिलस्मृतिक्रमप्रसिद्धस्यैवेह प्रत्यभिज्ञानात्। ननु सर्ववेदसमन्वयो जगत्कारणे ब्रह्मणि सम्यगुपपादितस्ततोऽन्यत्र प्रतिपादयितुमशक्य इति चेत्। सत्यमेकेषां शाखिनामानुमानिकं प्रधानमपि जगत्कारणमस्तु। तदिह काठकानां शाखायामव्यक्तशब्देन प्रधानं श्रुतमिति चेन्न। कस्मात्? "शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः"। पूर्ववाक्यस्थशरीरस्यैव रूपकेण विन्यस्तस्यास्मिन्वाक्येऽव्यक्तशब्देन गृहीतेर्ग्रहणात्। केनचित्साहश्येन वस्तुनि वस्त्वन्तरकल्पनं रूपकम्। तथाहि "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारश्चाधिगच्छति॥ यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥ विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदमि"त्यनेन संसारमार्गस्य पारभूतं विष्णुपदं प्राप्तुमिच्छुं भोक्तृतया प्रधानभूतं रथित्वेन भोगायतनत्वेन गुणभूतं तच्छरीरं रथत्वेन च करणानि बुद्ध्यादीनि यथासम्भवं सारथित्वादिना च रूपयित्वा, (१)यथा कुलालस्य घटादिकर्तृत्वं चक्रदण्डादियुक्तस्यैवोपपद्यते

(१) रूपकतया उक्त्वा।

तथाऽऽत्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादयो धर्माः देहेन्द्रियमनोयुक्तस्यैव प्रतीयन्ते, न निर्धर्मकस्य गन्तृत्वाद्यसम्भवात्। भोक्तृत्वोपलक्षितान्कर्तृत्वगन्तृत्वादीन् चेतनधर्मानुक्त्वा तदनन्तरमविदुषोऽनियतेन्द्रियस्य संसारार्हत्वं, विदुषो नियतेन्द्रियस्य विष्णुपदार्हताञ्चाभिधाय गम्यश्च विष्णुपदमित्युक्त्वाऽनन्तरञ्च रथादिरूपितशरीरादिषु येभ्यो येषां वशीकार्यतायां प्राधान्यं तान्युच्यन्ते "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति"रिति। अत्र पुरस्ताद्रथित्वादिनोक्ताः पदार्था विवक्षितार्थवशात्क्रममनपेक्ष्य निरूप्यन्ते। तत्र रथित्वादिना रूपिता आत्माद्याः स्वस्वशब्दैर्गृह्यन्ते। रथत्वेन रूपितं शरीरं तु परिशेषादव्यक्तशब्देनोच्यते। तत्र हयत्वेन रूपितेभ्य इन्द्रियेभ्यो गोचरत्वेन रूपिता विषया वशीकार्यत्वे पराः उत्कृष्टा इत्यर्थः, वश्येन्द्रियस्यापि विषयसन्निधाने हीन्द्रियाणां पुनः तेषु प्रवृत्तिदर्शनात्। प्रग्रहरूपितं मनः परम्, मनसि विषयाप्रवणे विषयसन्निधानस्याप्यकिञ्चित्करत्वात्। तस्मादपि सारथिरूपिता बुद्धिः परा, अध्यवसायाभावे मनसोऽप्यकिञ्चित्करत्वात्। तस्या अपि रथिरूपित आत्मा कर्तृत्वेन प्राधान्यात्परः, सर्वस्यास्यात्मेच्छायत्तत्वात्स एव महानिति च विशिष्यते। ततोऽपि रथरूपितं शरीरं परं, जीवस्य सर्वसाधनप्रवृत्तीनां शरीरायत्तत्वात्। ततोऽपि सर्वात्मा संसाराध्वनः पारभूतः पुरुषः परः, पूर्वोक्तस्य सर्वस्य तदधीनत्वात्। यथोक्ताराधनेन तस्मिन्वशीभूते सति सर्वपुरुषार्थसिद्धिः स्यात् "या वै साधन सम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये। तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः"। तस्माच्चेह महच्छब्देन प्रधानकार्यभूतो महानव्यक्तशब्देन च तत्कारणम्प्रधानमु-

रूपशब्देन च चतुर्विंशतिसङ्ख्याकप्राकृतगणापेक्षया पञ्चविंशकः साङ्ख्याभिमतः पुरुषो गृह्यते । अस्मिन्नेव पुरुषे जिज्ञास्येऽनन्तकल्याणगुणगणार्णवे सर्ववेदसमन्वयः, अतः परं वस्त्वभावात्, "पुरुषान्न परं किञ्चिदि"तिश्रुतेः, "मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जये"तिस्मृतेः । पुरुष एव प्राप्यः, "सा काष्ठा सा परा गति"रितिश्रुतेः, "नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दादि"ति वाक्यार्थकारोक्तेः । "असंयतचित्तैर्दुर्ज्ञेयत्वं संयतचित्तैः सुज्ञेयत्वञ्च परमपुरुषस्य दर्शयन्, इन्द्रियादीनां वशीकरणप्रकारञ्च दर्शयन्, रूपकविन्यस्तग्रहणं दर्शयति च वाक्यशेषः "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः । यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनी"ति एषः । "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति"रित्यनेनोक्तः समानातिशयशून्यो मुक्तगम्यः सर्वज्ञो वासुदेवः सर्वेषु भूतेषु वर्त्तमानोऽपि न प्रकाशते सर्वेषां दृश्यो न भवति, तेषां तद्दर्शनानधिकारात्, अतएव गूढः, सन्धिश्छन्दोऽनुरोधात्, "नाहं प्रकाशः सर्वस्ये"ति श्रीमन्मुखोक्तेश्च । सत्यधिकारे दृश्योऽपि भवतीत्याह दृश्यत इत्यादिना । वागिन्द्रियोपलक्षितानि सर्वाणीन्द्रियाणि मनसी यच्छेत्, दैर्घ्यं छान्दसम्, तन्मनो ज्ञाने आत्मनि बुद्धौ, बुद्धेर्ज्ञानत्वमात्मत्वञ्च जीवसम्बन्धात् । ज्ञानञ्च आत्मनि महति जीवे, तच्च शान्ते सर्वकारणे ब्रह्मणि । यदि पूर्वत्र महच्छब्देन महत्तत्त्वं गृहीत्वा तत्प्रत्यासत्त्या तत्कारणं प्रधानमानुमानिकमव्यक्तशब्देन गृह्यते, तर्हि महच्छब्देनात्रापि तद्ग्रहणसम्भवान्महान्तं शान्ते यच्छेदित्यनिष्टापातः स्यादतो वाक्यशेषोऽपि शरीररूपकविन्यस्तग्रहणं दर्शयतीत्यर्थः ॥१॥

सू० सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ १ । ४ । २ ॥

(वे०पा०सौ०) अव्यक्तशब्दः सूक्ष्मवचनश्चेत्तदर्थभूतं शरीरमपि सूक्ष्मस्यैव स्थूलावस्थापन्नत्वात् ॥ २ ॥

(वे०कौ०) ननु रथरूपके सूक्ष्मशरीरावयवानां रथाङ्गत्वेन ग्रहणात्सूक्ष्मशरीरमव्यक्तशब्दार्हमपि न रथत्वेन वक्तुं शक्यमपि तु स्थूलमेव शरीरं रथत्वेन विन्यस्तं, तत्कथमव्यक्तशब्देन ग्राह्यं भवेत्तस्य व्यक्तत्वादिति चेदुच्यते ।

तुशब्दोऽवधारणे । स्थूलं शरीरं सूक्ष्मं कारणं प्रधानमेव बोध्यम् , तत्राव्यक्तशब्दप्रवृत्तिरस्तु । कुतः ? तदर्हत्वात् , सूक्ष्मस्य प्रधानस्य कार्यभावार्हत्वात् । अथवा कार्यस्य कारणभावार्हत्वात् । यथा "सर्वङ्खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानि"ति तज्जत्वादिना कार्यत्वेन भिन्नमपीदं जगद्ब्रह्माभिन्नं श्रूयते, तथा प्रधानाभिन्नमिदं शरीरमपीत्यर्थः । यद्वा कारणवाचकस्य तस्याव्यक्तशब्दस्य कार्यवचनत्वार्हत्वात् गोभिः(१) श्रीणीत (२)मत्सरमितिवत् ॥ २ ॥

सू० तदधीनत्वादर्थवत् ॥ १ । ४ । ३ ॥

(वे०पा०सौ०) औपनिषदं प्रधानं परमकारणाधीनत्वादर्थवत्सदानर्थक्यं पराभिमतस्य तस्येति भेदः ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) ननु तर्हि प्रविष्टाः साङ्ख्यानां पथि सुखिनो भवन्तु भवन्तः, प्रधानकारणवादाङ्गीकारादित्यत्राह ।

लोके हि चेतनसम्बन्धहीनमचेतनं द्रव्यं कार्योत्पादनेऽसमर्थत्वादर्थवन्न भवति । नहि स्वतो मृत्पिण्डो घटभावमापद्यते, तथा चेतनसम्बन्धहीनं साङ्ख्याभिमतं प्रधानं स्वयमचेतनं कार्योत्पादनक्षमं न भवत्यतोऽनर्थकमेव । औपनिषदं तु प्रधानमर्थवद्भवति । महदादितृणान्तकार्यजननमर्थः प्रयोजनं यत्र तदर्थवत् । कुतः ? "तदधीनत्वात्" । तस्य चेतनस्य परमकारणस्य ब्रह्मणः

(१) गोविकारैः पयोभिः । (२) मत्सरं नाम सोमं क्षीरम् ।

श्रीवासुदेवस्याधीनं तदधीनं प्रधानं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । प्रधानस्य ब्रह्माधीनत्वं तु तार्किकाभिमतं परमाणूनामीश्वराधीनत्वं यथा तथा नास्ति, किन्तु "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढा"मित्यादिशास्त्रसिद्धं शक्तिशक्तिमद्भावनिबन्धनम् । औपनिषदप्रधानप्रतिपादकं शास्त्रं प्रागुदाहृतमेव ॥ ३ ॥

सू० ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ १ । ४ । ४ ॥

(वे०पा०सौ०) नाव्यक्तशब्दस्तान्त्रिकप्रधानवचनः, ज्ञेयत्वावचनाच्च ४

(वे०कौ०) इतश्च नानुमानिकं प्रधानमव्यक्तशब्देनेहोच्यते । कुतः ? "ज्ञेयत्वावचनात्" । प्रकृतिपुरुषविवेकान्मोक्षं प्रलपन्तो हि साङ्ख्याः प्रकृतिरपि मुमुक्षुणा तदर्थं ज्ञेयेत्याहुः । तथा च कठे ज्ञेयत्वेनाव्यक्तं न पठ्यते, अव्यक्तशब्दमात्रोपादानात् ॥ ४ ॥

सू० वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ १ । ४ । ५ ॥

(वे०पा०सौ०) "अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" इतिश्रुतिः प्रधानस्य ज्ञेयत्वं वदतीति चेन्न । ज्ञेयत्वेन प्राज्ञः परमात्मा निर्दिष्टस्तत्प्रकरणात् ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) ननूत्तरत्र "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" इति महतो महत्तत्त्वात्प्रधानकार्यात् बुद्ध्याख्यात् द्वितीयतत्त्वात्परं तत्कारणं प्रधानं निचाय्य ज्ञात्वा मृत्युमुखात्संसारात्प्रमुच्यते इति ज्ञेयत्वं प्रधानस्य श्रुतिर्वदतीति चेन्न । प्राज्ञो हि निचाय्यत्वेन निर्दिष्टः, कुतः ? प्रकरणात् । "तद्विष्णोः परमं पदम्, पुरुषान्न परं किञ्चित्, एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते" इत्यादिना परमात्मनः प्रकरणात् । "महतः परमि"ति च "बुद्धेरात्मा महान्पर" इति पूर्वत्रोदाहृताज्जीवात्परमा-

त्मनः परत्वमुच्यते ॥ ५ ॥

सू० त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ १ । ४ । ६ ॥

(वे०पा०सौ०) अस्यामुपनिषद्युपायोपेयोपेयोपगन्तॄणां त्रयाणामुपन्यासः प्रश्नश्च पूर्वापरवाक्यार्थविचारेण लभ्यते, आनुमानिकतत्त्वनिरूपणस्यात्रावकाशो नास्ति ॥ ६ ॥

(वे०कौ०) नेह प्रधानस्याव्यक्तशब्देन परिग्रहोऽस्ति । यतोऽत्र त्रयाणामेव परमात्मतदुपासनोपासकानामेवमुपन्यासो वक्तव्यतया प्रश्नश्च ज्ञेयतया कठवल्ल्यामस्ति, न तु साङ्ख्यतन्त्रसिद्धस्य प्रधानादेरपि । तथाहि "तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु, तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्वे"ति नचिकेतसे मृत्युना वरत्रये प्रतिज्ञाते, तत्र "शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो ! त्वत्प्रसृष्टम्माभिवदेत्प्रतीतः एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे" इति प्रथमेन वरेण स्वस्मिन् पितुः सौमनस्यं वृतवान । तदनन्तरम् "यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीतः औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः, सुखं रात्रीः शयिताचीतमन्युरि"त्यादिना स्वस्मिन् पितुः सौमनस्यं प्रतिलभ्य, तदनन्तरं द्वितीयेन वरेण "स त्वमग्नि स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो ! प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यं, स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते एतत् द्वितीयेन वृणे वरेणे"त्यनेन मुक्त्युपायभूतां नाचिकेताख्याग्निविद्यां वृतवान् । हे मृत्यो ! त्वं स्वर्ग्यं मोक्षहितमग्निमध्येषि स्मरसि जानासि अतस्तं मह्यं मुमुक्षवे प्रब्रूहि । स्वर्गश्चतुर्थाध्यायोक्तार्चिरादिमार्गेण मुक्तगम्यो लोको येषां ते स्वर्गलोकाः वेदान्तिनः येनामृतं मोक्षं भजन्ते प्राप्नुवन्ति, तदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे इत्यन्वयः । स्वर्गशब्दोऽत्र मोक्षसाधारणः । तस्यां हि "हिरण्मयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिरावृतः ब्रह्म यन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमि"त्याद्य-

न्यत्र प्रसिद्धेश्च । तदनन्तरं "प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्य-मग्निं नचिकेतः प्रजानन् अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठामि"त्यादि-नोपदिष्टमग्निविज्ञानं प्रतिलभ्य तृतीयवरेण च परमपुरुषार्थरूपप-रमात्मप्राप्तिलक्षणमोक्षयाथात्म्यस्वरूपप्रश्नमुखेन प्राप्यस्वरूपं प्रा-प्तृस्वरूपमुपायभूतोपासनस्वरूपञ्च पृष्टम् "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीय" इति । एवं मोक्षस्वरूपे पृष्टे तदुपदेशयो-ग्यतापरीक्षापूर्वकं प्रतिवचनमपि "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ जहाती"ति तदेवं सामान्यत उपदिष्टे देवमिति निर्दिष्टस्य प्राप्यस्य स्वरूपं मत्वेति प्रतिपन्नस्य ज्ञानरूपोपायस्य स्वरूपं धीर इति प्रतिपन्नस्य प्राप्तुश्च स्वरूपं शोधयितुं पुनरप्य"न्यत्र धर्मा-दन्यत्राधर्मादि"त्यनेन पुण्यापुण्यरूपसाधनविलक्षणस्योपासनस्य "अन्यत्राऽस्मात्कृताकृतात् अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यदि"त्यनेन कालापरिच्छिन्नस्योपेयस्य च प्रश्ने प्राप्तुरपि चेतनस्य नित्यत्वात् प्राप्यान्तर्गतत्वाच्च तत एव तस्यापि तन्त्रेण प्रश्नः कृतः । अथ-शोपेयप्रश्नपरमेवेदं वाक्यम् "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादिति । प्रकृतस्यान्यत्र शब्दद्वयसामानाधिकरण्यवत् अन्यत्राऽस्मात्कृताकृ-तादन्यत्र भूतादित्युपरितनान्यत्रशब्दद्वयस्यापि सामानाधिकरण्य-प्रतीतेरेवमप्युपेयप्रश्ने उपेतुरन्तर्भावादुपायस्याप्यन्तर्भूतत्वात्त्रयमे-व पृष्टम् । ततो ब्रह्मप्रतिपादकतया प्रणवं प्रशस्य तद्वाच्यम्प्राप्तृ-स्वरूपं वाचकरूपमुपायं च कथयन् प्रणवमुपदिश्य, "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इत्यादिना प्राप्तृ-स्वरूपम्, "अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गु-

हायाम् । तमक्रतुम्पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानम्" इत्यारभ्य "क इत्था वेदे"त्यन्तेन ग्रन्थेन प्राप्यस्वरूपम् , "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" इत्यादिना मध्ये उपासनस्य भक्तिरूपतां चोपदिष्टवान् । तत उपास्योपासकयोरेकगुहाप्रवेशेन परमात्मनः सूपास्यत्वम् , आत्मानं रथिन"मित्यादिना "तत्कवयो वदन्ती"त्यन्तेनोपासनप्रकारमुपासकस्य विष्णुपदप्राप्तिश्चोक्त्वा अशब्दमित्यादिनोपसंहृतवानिति त्रयाणामेवाऽत्र ज्ञेयतयोपन्यासः, प्रश्नश्च, न तन्त्रसिद्धप्रधानस्येह ग्रहणम् ॥ ६ ॥

सू० महद्वच्च ॥ १ । ४ । ७ ॥

(वे०पा०सौ०) साङ्ख्यैर्महच्छब्दो बुद्ध्याख्याद्वितीये तत्त्वे प्रयुक्तोऽपि ततोऽन्यत्रापि "वेदाहमेतं पुरुषं महान्त"मित्यादिवेदवचनेन यथा दृश्यते तथाऽव्यक्तशब्दः शरीरपरोऽस्तु ॥ ७ ॥

(वे०कौ०) साङ्ख्याभिमतं बुद्ध्याख्यं द्वितीयं तत्त्वं परित्यज्य यथा वैदिको महच्छब्दो "बुद्धेरात्मा महान्परः, महान्तं विभुमात्मानमि"त्यादौ जीवे ब्रह्मणि च प्रसक्तः साङ्ख्यशतैरप्यन्यत्र नेतुमशक्यो यथा, तथाऽव्यक्तशब्दोऽपि वैदिकत्वादानुमानिके प्रधाने न प्रवर्त्तते, किन्तु शरीरमभिधत्ते इति सिद्धम् ॥ ७ ॥

इत्यानुमानिकाधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० चमसवदविशेषात् ॥ १ । ४ । ८ ॥

(वे०पा०सौ०) "अजामेकामि"त्यादिमन्त्रोक्ता प्रकृतिः स्मृतिसिद्धा भवतु इति पूर्वपक्षे राद्धान्तं दर्शयति । मन्त्रोक्ताऽजा ब्रह्मात्मिकाऽस्तु, पूर्वपक्षनिर्द्धारणे विशेषाभावात् "अर्वाग्बिलचमस्य" इतिमन्त्रोक्तचमसवत् ॥ ८ ॥

(वे०कौ०) एवं यथा कठवल्ल्यामव्यक्तशब्देनावैदिकं प्रधानं नोच्यते, वैदिकप्रधानात्मककारणवाचकेन तत्कार्यं शरीरमभि-

धीयते, प्रधानस्य च ब्रह्मात्मकत्वात्तद्द्वारा ब्रह्मणि श्रुतिसमन्वयः, तथेदानीमजाश्रुतिरपि ब्रह्मणि नीयते।

श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि श्रूयते, "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनाम्भुक्तभोगामजोऽन्य" इति। अस्मिन्मन्त्रेऽजाशब्देन साङ्ख्यस्मृतिप्रतिपन्ना प्रकृतिः प्रत्यभिज्ञायते उत मन्त्रार्थभूता ब्रह्मात्मिका प्रकृतिरिति संशयः । न जायत इत्यजा स्वाश्रया स्वातन्त्र्येण समानप्रजाजननस्वभावा त्रिगुणात्मिका बन्धमोक्षविभागहेतुभूता साङ्ख्याभिमता मन्त्रेणाप्युक्ताऽस्तु इति पूर्वपक्षे, ब्रूमः ब्रह्मात्मिकाऽजा मन्त्रेणोक्ताऽस्ति। कुतः ? अविशेषात् । आनुमानिकप्रधानपरिग्रहे विशेषाभावात्। अस्माकमप्यजाऽस्ति । श्रुतेः स्वार्थे प्रामाण्यान्नेह स्वाश्रया प्रत्यभिज्ञायते स्वाश्रयशब्दाभावात्, अचेतनस्य स्वातन्त्र्येण स्थित्यसम्भवाच्च। साधारणे शब्दे इदमेतन्नामकमिति निर्द्धारणाभावे दृष्टान्तः चमसवदिति। "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न" इत्यस्मिन्मन्त्रे चम्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या भक्षणसाधनत्वमात्रप्रतीतेरयं चमस इत्येवमवधारणं न सम्भवति अविशेषात्, अर्वाग्बिलत्वादेरन्यत्रापि सम्भवात्। तद्वत्प्रकृतमन्त्रेऽपि अजात्वादिना साङ्ख्यस्मृतिसिद्धेयं प्रकृतिरिति निर्द्धारणं न भवति ॥ ८ ॥

सू० ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ १। ४। ९ ॥

(वे०पा०सौ०) ननु चमसमन्त्रे "इदं तच्छिर" इति वाक्यशेषाच्छिरश्चमस इति गम्यते, अजामन्त्रे किं गमकं विशेषार्थग्रहणे इति। अत्रोच्यते। ज्योतिर्ब्रह्मलक्षणमुपक्रमः कारणं यस्याः साऽजाप्यजामन्त्रेणोच्यते यतस्तथैव "तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" इत्येकेऽधीयते॥

(वे०कौ०) "इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस" इति वा-

क्यपेक्षायथा गम्यते चमसमन्त्रे शिर एव चमसस्तथा साङ्ख्यसिद्धाऽजानिर्द्धारणे नेह बीजमस्ति ब्रह्मात्मिकाऽजा त्वजामन्त्रे पूर्वापरवाक्यवशात्प्रतिपत्तव्येत्याह ।

तुशब्दो निश्चये, ज्योतिरुपक्रमा प्रकृतिरजामन्त्रे निश्चयेन प्रतिपत्तव्या । "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः, अथ यदतः परो दिवो ज्योति"रित्यादिश्रुतिप्रसिद्धं ज्योतिर्ब्रह्म उपक्रमः प्रारम्भकं प्रवर्त्तकं कारणं यस्याः सा ज्योतिरुपक्रमा ब्रह्मात्मिका प्रतिपत्तव्या । वेदे विशेषतो ब्रह्मासाधारणगुणस्वरूपादिनिर्णयेऽन्यप्रसङ्गाभावात् ब्रह्मात्मिकैव प्रतिपत्तव्या । तथाहि "ब्रह्मवादिनो वदन्ति किङ्कारणमि"त्याद्युपक्रम्य, "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानी"त्यनेन सूचितान् कालवादिबौद्धमीमांसकार्हततार्किकसाङ्ख्यपक्षाननादृत्य, "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढामि"त्युपक्रमवाक्यादजामन्त्रे जगत्कारणस्य ब्रह्मणो ज्योतिरादिपदाभिधेयस्य शक्तिभूता वेदसिद्धाऽजा प्रतिपत्तव्येत्यर्थः । उपरत्रापि "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् , तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः, मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्, यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः" इत्यादिना ब्रह्मात्मिकाया एव प्रतिपादितत्वात् । अत एवेयं शक्तित्वेन शक्तिमतो भिन्नापि शक्तिमत्पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यभावाद्ब्रह्माऽभिन्ना पठ्यतेऽस्यामेवोपनिषदि "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतदि"ति । तत्र भोक्ता परप्रकृतिशब्दितो जीवः, भोग्यमपरप्रकृतिशब्दितं कार्यकारणभूतमचेतनम्, प्रेरिता प्रकृतिद्वयवान् ब्रह्मादिशब्दाभिधेयः श्रीपुरुषोत्तमः । एवं स्वरूपभेदेऽपि द्वयोः प्रकृत्योर्नियम्ययोर्नियन्तृसापेक्षस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वात्तदभिन्नत्वमाह "सर्वं ब्रह्मैतदि"ति । वेदोक्तामजां वेदादेव

दाढ्यार्थं पुनः प्रतिपादयति "तथा ह्यधीयत एके" इति। हि यस्मात्तथा ब्रह्मकारणकत्वमस्या अजाया एके शाखिन आथर्वणिका मुण्डकोपनिषदि अधीयते "तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायते" इति, "मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहमि"ति श्रीमन्मुखवचनाच्च। तैत्तिरीयकेऽपि च "अणोरणीयानि"त्यादिना ब्रह्म प्रस्तुत्य, "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मा"दित्यादिना प्राणोपलक्षितसकलप्रपञ्चोत्पत्तिं ततोऽभिधाय, तदनन्तरं पठितस्य "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः जनयन्तीं सरूपाम्। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इति मन्त्रस्य ब्रह्मात्मकप्रकृतिपरतया वक्तव्यत्वादिहापि तथात्वस्यावश्यम्भावाच्च ब्रह्मात्मिकैव प्रकृतिरजा मन्त्रप्रतिपाद्या ॥९॥

सू० कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १। ४। १० ॥

(वे०पा०सौ०) ब्रह्मोपादानकत्वाजात्वयोरेकस्मिन्धर्मिणि न विरोधः, सूक्ष्मशक्तिमतो जगत्कारणात् ब्रह्मणो विश्वसृष्ट्युपदेशाद्वयं सङ्गच्छते, मध्वादिवत् ॥ १० ॥

(वे०कौ०) नन्वजाया जन्यत्वं कथमत्राह।

चशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः। अजाया जन्यत्वेऽविरोधः, कुतः? कल्पनोपदेशात्। कल्पना क्लृप्तिः सृष्टिस्तदुपदेशात्। "इहैवास्मान्मायी सृजते विश्वमेतदि"ति सूक्ष्मशक्तिकाद्ब्रह्मणो विश्वसृष्ट्युपदेशादित्यर्थः। अव्याकृता सूक्ष्मरूपा ब्रह्मशक्तिः प्रकृतिर्ब्रह्मशक्तित्वाद्ब्रह्मवन्नित्याजेत्युच्यते, सैव शक्तिमता विसृष्टा कार्यात्मना स्थिता सती ब्रह्मोपक्रमेत्युच्यतेऽतोऽविरोधः। अत्र दृष्टान्तमाह मध्वादिवदिति। यथा मधुविद्यायाम् "असौ वा आदित्यो देवमधि"त्युपक्रम्य, "अथ तत ऊर्ध्वम् उदेत्यनैवोदेतानास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता" इत्यन्तमन्त्रे आदित्यस्यैव कारणा-

वस्थायां मधुत्वव्यपदेशानर्हसूक्ष्मात्मना स्थितस्य कार्यावस्थायां वस्वादिदेवभोग्यमधुत्वेनोदयास्तमयत्वेन च कल्पनमविरुद्धम्, तद्वत् इयमेव प्रकृतिर्नित्यसिद्धा नित्यसिद्धस्य जीवस्य बन्धमोक्षव्यवस्थायां मन्त्रेण कारणरूपा दर्शिता । तत्राजशब्दनिर्दिष्टो नित्यस्वरूपोऽनादिकर्मप्रवाहेनोह्यमानो हि स्वपरस्वरूपविवेकहीनो जीवः प्रकृतिपरिणामेषु देवमनुष्याद्याकारेषु शरीरेष्वज्ञानवशात्तादात्म्यं प्राप्य प्रकृतिलेशान् शब्दादीन् जुषमाणोऽनुशेते । स ब्रह्मानन्दवर्जितो बद्ध इत्युच्यते । यस्तु दैवादन्यादिवशाद्भगवदनुग्रहम्प्राप्य श्रीमद्गुरुचरणोपसत्त्या वेदान्तश्रवणाद्यभ्यासेन ब्रह्मानन्दं प्राप्य कार्यकारणरूपां प्रकृतिं विजहाति स मुक्त इत्युच्यते । न जायत इत्यजेति व्युत्पत्त्या नित्यसिद्धा ब्रह्मात्मिका प्रकृतिर्यदि न स्यात्तदा ब्रह्मसम्बन्धवर्जितेनाचेतनेन प्रधानेन सृष्टिर्जीवानां बन्धमोक्षव्यवस्था च कर्तुं न शक्या स्यात्तस्मान्मन्त्रप्रोक्ता ब्रह्मात्मिकाऽजेति सिद्धम् ॥ १० ॥ इति चमसाधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभा-
वादतिरेकाच्च ॥ १ । ४ । ११ ॥

(वे०पा०सौ०) न च "यस्मिन् पञ्चपञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इति सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि प्रधानादीनां पञ्चविंशतिपदार्थानां श्रुतिमूलकत्वमस्ति, प्रधानस्यैकस्य श्रुतिविषये को विवाद इति वक्तव्यम् । कुतः ? नानाभावात्, यस्मिन्निति श्रुतिसिद्धे ब्रह्मणि प्रतिष्ठितानां पदार्थानां ब्रह्मात्मकत्वप्रतीत्या तान्त्रिकेभ्यः पृथक्त्वात् । आधारस्य ब्रह्मणो हि तथाकाशस्य चातिरेकत्वाच्च ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र देवात्मशक्तिमित्यादिशब्देन साङ्ख्याभिमतप्रधानेऽघटमानमजावाक्यं शक्तिद्वारा ब्रह्मणि नीतम् । तथेदानीं सर्वनामादिशब्देन साङ्ख्याभ्युपेतसङ्ख्यायाबाधकेन पञ्चप-

श्रजनवाक्यमपि ब्रह्माणि प्रतिष्ठितेषु प्राणादिषु योजयन्, प्रधानस्याशब्दत्त्वं दृढयति भगवान्सूत्रकारः ।

बृहदारण्यके षष्ठाध्याये "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतमि"त्युपक्रमानन्तरम् "यस्मिन्पञ्चपञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितस्तदेव मन्ये आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतमि"ति श्रूयते। तत्र संशयः इह पञ्चपञ्चजनाः पञ्चपञ्चकाः साङ्ख्याभ्युपेताः पञ्चविंशतिपदार्थाः उच्यन्ते आहोस्वित्पञ्चजनसंज्ञिकाः पञ्चसङ्ख्यकाः प्राणादयः इति । अत्र पूर्वः पक्षः—पञ्चविंशतिपदार्थाः श्रुत्युक्ताः साङ्ख्यस्मृतौ विशेषतो निर्णीताः सम्पद्यन्ते, षष्टिसंहितायाम् "दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेताविं"त्युपक्रम्य "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः"इति स्मर्यते—इति। अत्रोच्यते "न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि" । अपिशब्दः सम्भावनायाम्। अस्मिन्मन्त्रे प्रतीयमानया पञ्चविंशतिसङ्ख्ययापि न प्रकृत्यादीनां श्रुतिमत्त्वम्(१) । कस्मात् ? नानाभावात् । पञ्चविंशतिपदार्थानां स्मार्तानां नानाभावात्पञ्चपञ्चकत्वानर्हत्वात् । सङ्ख्याशब्दो हि गोपञ्चकं विद्वत्पञ्चकमित्यादाविव जातिगुणाद्यादायाऽर्थे प्रवर्त्तते । तदिह प्रतिपञ्चकमवान्तरसंख्याप्रवृत्तिनिमित्तं न पश्याम इति भावः । "सप्त प्रकृतिविकृतयः षोडशविकाराः" इत्यादौ तु संख्याप्रवृत्तिनिमित्तमस्ति । यद्वा नाना अभावात् वेदान्तप्रोक्तानां सर्वेषां पदार्थानां ब्रह्मात्मकत्वादत्यन्ततो नानाभावो नास्ति । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं"मितिवचनादिहापि "(२)यस्मिन्पञ्चपञ्चजना

(१) श्रुतिः प्रमाणत्वेन विद्यते येषु ते श्रुतिमन्तस्तेषां भावः श्रुतिमत्त्वम् ।

(२) यस्मिन् इति सर्वनामपदेन प्रधानग्रहणे तस्मिन्पुरुषस्य प्रतिष्ठितत्वं न सम्भवति, तस्याप्रधानात्मकत्वादिति भावः ।

आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इत्युपदेशात् । साङ्ख्याभिमतपञ्चविंशति-पदार्थाङ्गीकारे तु तेषां ब्रह्मात्मकत्वाभावाच्छ्रुतिविरुद्धो नानाभाव आपद्येतेत्यर्थः। यद्वा यस्मिन्पञ्चपञ्चजना"इति ब्रह्मणि प्रतिष्ठितेभ्यः पराभिमतानां ब्रह्मनिरपेक्षाणां पृथग्भावात्, अतिरेकाच्च न खल्वत्र पञ्चविंशतिसङ्ख्यैवास्ति । अपितु यस्मिन्निति सर्वनामपदेन निर्दिष्टस्य सर्वाधारस्य परमात्मनः आकाशस्य चातिरेकाच्च अतिरिक्तत्वात् पञ्चविंशतितत्त्वानि नोच्यन्ते । श्रुत्यर्थस्तु देवास्तद्ब्रह्मोपासते, किं तत् ? यज्ज्योतिषामादित्यादीनां ज्योतिः आयुः, स्वोपासकानामायुर्वर्द्धनम् अमृतम्, मोक्षदशायाम्प्राप्यम् इत्युपक्रमवाक्यार्थः । यस्मिन्ब्रह्मणि पञ्चपञ्चजनाः प्रतिष्ठिताः । पञ्चजना इत्यत्र "दिक्सङ्ख्ये संज्ञायामि"ति समासः । पञ्चजना अत्र नामतो गृह्यन्ते अवयवार्थस्याविवक्षितत्वात् । यथा सप्तर्षयः सप्तर्षिशब्देनैकैकोऽपि यथा वाच्यस्तथा पञ्चजनशब्देनापि ते पञ्चजनाः कतीत्याकाङ्क्षायां पञ्चेतिविशेषणम् । "आकाशश्च यस्मिन्प्रतिष्ठितः तदेव सर्वाधारं ब्रह्म अमृतम्, मुमुक्षुगम्यम् आत्मानम् सर्वस्थितिप्रवृत्तिकारणम् परमात्मा। न यो विद्वान् स अमृतो भवतीति मन्येऽनज्ञो न मुक्तो भवती"ति याज्ञवल्क्यवाक्यमिति ॥ ११ ॥

सू० प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १ । ४ । १२ ॥

(वे०पा०सौ०) "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुरि"ति वाक्यशेषाच्च पञ्चजनाः प्राणादयो बोध्याः ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) के तर्हि पञ्चजना इत्यत्राह ।

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुःश्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुरि"तिवाक्यशेषाद्ब्रह्मात्मकाः प्राणादयः पञ्च खलु प-

जनशब्दवाच्या मन्त्रेऽभिप्रेताः ॥ १२ ॥

सू० ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १ । ४ । १३ ॥

(वे०पा०सौ०) काण्वानां वाक्यशेषे त्वसत्यन्ने उपक्रमगतेन ज्योतिषा पञ्चत्वपूरणीयम् ॥ १३ ॥

(वे०कौ०) ननु माध्यन्दिनशाखायां पञ्चजनमन्त्रानन्तरमन्त्रेण वाक्यशेषेण प्राणादयः पञ्च भवन्तु पञ्चजनाः, काण्वशाखायामप्ययं पञ्चजनमन्त्रोऽस्ति, तत्र वाक्यशेषेऽन्नशब्दो नास्ति, तत्र कुतः पञ्चत्वपूर्तिरित्याशङ्क्याह ।

माध्यन्दिनानामन्नेन पञ्चत्वपूर्तिरुक्ता । एकेषां काण्वानाम्पाठे त्वसत्यन्ने "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासत" इत्युपक्रमस्थज्योतिषा पञ्चत्वपूर्तिरस्तीत्यर्थः । तस्माद्ब्रह्मसम्बन्धहीनं प्रधानं न श्रुतिवेद्यमिति सिद्धम् ॥१३॥ इति संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥३॥

सू० कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १ । ४ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्मैव सर्वत्राकाशादिसृष्टिविषयकवाक्येषु मार्ग्यं, लक्षणसूत्रादिषु यत्स्वकारकं ब्रह्म व्यपदिष्टं तस्यैकारकस्यैवाकाशादिकारणत्वेन प्रतिपादितत्वात् ॥ १४ ॥

(वे०कौ०) ननु स्मृतिप्रतिपन्नं प्रधानं जगत्कारणम्परित्यज्य ब्रह्मैकहेतुकं विश्वमिति मतमपि सन्दिग्धमेव, कारणप्रतिपादकेषु वेदान्तवाक्येषु सृष्टेरनेककारणकत्वदर्शनात् । तथाहि "कचित्सदेव सौम्येदमग्र आसीदि"ति सद्धेतुका सृष्टिरुच्यते, कचित् "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इति केवलात्महेतुका, कचित्तु "असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत" तथा "असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीदि"त्यसद्धेतुका, कचित्

"अस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच" इत्याकाशहेतुका च, क्वचित्र "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ती"ति प्राणहेतुका, "आत्मैवेदमग्र आसीत्, ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि"त्यादीना बृहदारण्यके आत्मब्रह्महेतुका च सृष्टिः प्रोच्यते। एवं खलु जगत्कारणविज्ञाने ब्रह्मैव जगत्कारणमिति न निश्चेतुं शक्यते, ब्रह्मनिरपेक्षं प्रधानं जगत्कारणमिति तु निश्चेतुं शक्यम्। तथाहि "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते" इति श्रुत्या चेतननिरपेक्षं जगत्कारणमव्याकृतशब्देन प्रधानं परिपठ्यते। तदिदं ह स्फुट जगत्तर्हि तदा सृष्टेः प्रागव्याकृतमासीत् तच्चाव्याकृतं प्रधानं तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते इति श्रुत्यर्थः। अत्रैव जगत्कारणप्रतिपादको वाक्यसमूहो नेय इतीमां शङ्कां निराचिकीर्षुर्भगवान् जगत्कारणवादिवाक्यसमूहं ब्रह्मणि योजयति।

चशब्दः शङ्कानिरासार्थः। यथाशब्दः प्रकारार्थकः। सर्वशक्तिः सार्वज्ञ्यादिगुणवान् सर्वेश्वरः पुरुषोत्तम एव जगद्धेतुरिति निश्चेतुं शक्यते। कुतः? यत्प्रकारः परमात्मा लक्षणसूत्रादिषु व्यपदिष्टस्तत्प्रकारस्यैवाकाशादिषु कार्येषु कारणत्वेन खलूक्तत्वात्। तथाहि "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्मे"ति पूर्वप्रकृतमेव ब्रह्म "तस्माद्वा एतस्मादि"त्यादिना कारणत्वेन व्यपदिश्यते। तथा "सदेव सौम्येदमि"त्यादिषु "तदैक्षत बहु स्यामि"ति निर्दिष्टमेव ब्रह्म "तत्तेजोऽसृजते"त्यादिना व्यपदिश्यते। एवमन्योपनिषद्वाक्येऽपि बोध्यम्॥ १४॥

सू० समाकर्षात्॥ १। ४। १५॥

(वे०पा०सौ०) "सोऽकामयत" इति प्रकृतस्य सत एव ब्रह्मणः "असद्वा इदम्" इत्यत्र समाकर्षात्, "आदित्यो ब्रह्म" इति प्रकृतस्य

ब्रह्मणः "असदेवेदम्" इत्यत्र समाकर्षात्, असच्छब्देन सृष्टेः पूर्वं नामरूपाविभागात्तत्सम्बन्धितयाऽस्तित्वाभावेन सद्रूपं ब्रह्मैवाभिधीयते। "तदेवं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते" इत्यव्याकृतशब्दोदितस्योत्तरवाक्ये "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" इत्यादौ समाकर्षादचेतनस्य प्रधानस्यान्तः प्रविश्य प्रशासितृत्वाद्यसम्भवात्, तदन्तरात्मभूतमव्याकृतं ब्रह्मेत्युच्यते। जगत्कारणप्रतिपादकेषु वाक्येषु लक्षणसूत्रादिना निर्णीतं ब्रह्मैव ग्राह्यं, न प्रधानशङ्कागन्धोऽपीति भावः ॥ १५ ॥

(वे०कौ०) "असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत" इत्यत्र "सोऽकामयत" इति प्रकृतस्यैव बहुभवनसङ्कल्पपूर्वकं विश्वं सृजतः सर्वज्ञस्य ब्रह्मणः समाकर्षात्सुसूक्ष्मशक्तिमत्कारणावस्थं ब्रह्म सूक्ष्मशब्दापरपर्यायेणासच्छब्देन सच्छब्दापरपर्यायस्थूलशब्दार्हाभिव्यक्तशक्तिककार्यावस्थब्रह्मापेक्षयोच्यते । तथैव खलु "असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्" इत्यत्रापि "आदित्यो ब्रह्मेति" पूर्वप्रकृतस्य ब्रह्मणः समाकर्षो बोध्यः । तथैवाव्याकृतवाक्येऽपि अव्याकृतशब्देनाव्याकृतान्तरात्मोच्यते, "स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः, पश्यन् चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः आत्मेत्युपासीत" इत्युत्तरवाक्ये स इति सर्वनाम्नाऽव्याकृतशब्दोदितस्य ब्रह्मण एव समाकर्षात् । "तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति पृथग्व्याकर्त्तरि सत्येव कर्मकर्तृनिर्देशो बोध्यः । यद्वा कर्मणि लकारो बोध्यः। तस्मात्सर्वत्र कारणमेकमेव। अस्मिन्नधिकरणे कारणविगानं परिहृतम् । कार्यविषयां विप्रतिपत्तिं तु द्वितीयाध्यायस्य तृतीये पादे "न वियदश्रुतेः" इत्यादिना निराकरिष्यति । तस्मात्सर्वत्र सार्वज्ञ्यादिमज्जगत्कारणं चेतनं ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ १५ ॥ इति कारणत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥

सू० जगद्वाचित्वात् ॥ १ । ४ । १६ ॥

(वे०पा०सी०) "यो वै बालाके ! एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्यै-तत्कर्म" इति वाक्ये धर्माधर्मकर्मफलभोक्ता तन्त्रोक्तपुरुषो वेदितव्यः इति न शङ्क्यम् । परमात्मैवात्र वेदितव्यत्वेन निर्दिष्टः। कुतः ? "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति ब्रह्मप्रकरणात् । क्रियते यत्तत्कर्मेति कर्मशब्दस्य जगद्वाचित्वात्, "एतदि"त्यनेन सर्वनाम्ना प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्य जगत उपस्थितत्वाच्च, तन्त्रोक्तपुरुषप्रकरणाभावाच्च ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) "प्रकृतिः कर्त्री पुरुषो भोक्ता" इति साङ्ख्याः प्राहुस्तत्र प्रकृतेर्जगत्कारणत्वासम्भवो बहुशो दर्शितः । अथेदानीं कौषीतकीब्राह्मणवाक्यसमन्वयस्ब्रह्मणि दर्शितमपि प्रतर्दनाधिकरणे "यस्यैतत्कर्मे"ति वाक्यमपि ब्रह्मविषयमिति दर्शयन्भोक्तृत्वलिङ्गेन वेदान्ते साङ्ख्याभिमतपुरुषपरिग्रहस्तदधिष्ठिता प्रकृतिर्जगद्धेतुरिति शङ्कां निराकरोति ।

कौषीतकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादः श्रूयते । तत्र बालाकिर्गार्ग्याख्यकृपिरजातशत्रुनामकं राजानम्प्रति "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति प्रतिज्ञाय "य एष आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः" इत्यादिना ब्रह्मत्वेन पुरुषान् व्यपदिश्य तूष्णीम्बभूव । तमजातशत्रुः "ब्रह्मज्ञो मृषा खलु मा संवदिष्ठा" इत्यपोद्य, "यो वै बालाके ! एतेषाम्पुरुषाणां कर्ता यस्य चैतत्कर्म स वै वेदितव्यः" इत्याह । तत्र वेदितव्यत्वेन साङ्ख्यतन्त्रसिद्धः प्रकृत्यध्यक्षो भोक्ता पुरुष उपदिश्यते उत परमात्मा इति सन्देहः । अत्र पूर्वः पक्षः तन्त्रसिद्धः प्रकृतिवियुक्तः पुरुष एव ब्रह्मर्षिम्प्रति राजर्षिणा वेदितव्यत्वेन निर्दिष्टः "यस्य चैतत्कर्म" इति कर्मसम्बन्धोक्तेः, कर्मणश्च पुण्यापुण्यरूपस्य कर्माधिकारिणि कर्मवश्ये क्षेत्रज्ञे एव सम्भवात्, परमात्मनि तत्सम्बन्धानभ्युपगमात् जगदुत्पत्तेश्च तच्छब्दोक्तकर्मनिमित्तत्वात् । किञ्चात्र "तौ ह सुप्तं

पुरुषमाजग्मतुः" इत्यादिना भोक्ता जीव एवाजातशत्रुणा बालाकिम्प्रति प्रतिपादितः । तथा "तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते, यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति, एवमेवैष प्रज्ञात्मा एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एनं भुञ्जन्ति" इति भोक्तुर्जीवस्यैव लिङ्गं दृश्यते । श्रुत्यर्थस्तु यथा श्रेष्ठी प्रधानभूतः स्वामी स्वैर्भृत्यादिभिरुपकरणैर्भुङ्क्ते, स्वाः भृत्यादयः श्रेष्ठिनम्भुञ्जन्ति अशनाच्छादनादिनोपजीवन्ति, एवमेवैष प्रज्ञात्मा तैः पुरुषैरादित्याभिर्भुङ्क्ते इति । नच "अस्मिन्प्राणे एवैकधा भवती"ति वाक्यशेषे श्रूयमाणः "यस्यैतत्कर्म" इति कर्मशब्दस्य क्रियावाचित्वात्तदाश्रयणेन चलनात्मकक्रियावान् प्राणो वेदितव्यः, नतु तन्त्रसिद्धः पुरुषः कर्मफलभोक्ता वेद्यत्वेनेह ग्राह्य इति वाच्यम् । प्राणशब्दस्य प्राणभृत्परत्वात्, अस्मिन्प्राणे प्राणभृति पुरुषे इत्यन्वयसम्भवात् । अस्मिन्नात्मनि वर्त्तमाने प्राणे इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ यदि, तदा प्राणशब्दस्य मुख्यप्राणपरत्वेऽपि स्वतस्तस्य जीवोपकरणत्वाज्जीव एवात्र प्रतिपाद्यः । ततश्चायमर्थः—य एतेषामादित्यमण्डलादिस्थानां जीवभोगोपकरणभूतानां पुरुषाणां कर्त्ता कारणभूतः, यस्य चैतत्कारणत्वे हेतुभूतं पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म्म स प्रकृतिवियुक्ततया ज्ञातव्य—इति । ततश्च "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति वक्तव्यत्वेनोपक्रान्तम्ब्रह्म स एव, तदतिरिक्तेश्वरासिद्धेः, ईक्षादीनाञ्च कारणगतानां चेतनधर्मत्वात्तत्रैवोपपत्तेः भोक्तृपुरुषाधिष्ठिता प्रकृतिरेव जगद्धेतुरिति । अत्र ब्रूमः । अत्र पुरुषाणां कर्त्ता पुरुषोत्तम एव वेदितव्यत्वेनावगम्यते । कुतः ? कर्मशब्दस्य जगद्वाचित्वात् । नच जगत्कर्तृत्वं परमात्मनोऽन्यत्राञ्जसा सम्भवति । क्रियते इति कर्म चिदचिन्मिश्रं जगत् । चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य भोक्तृत्वेन जगन्मध्ये प्रविष्टस्य जगत्कर्तृत्वासम्भवादन-

ङ्गीकाराच, अल्पज्ञाल्पशक्तिक्षेत्रज्ञाधिष्ठितप्रकृतेरपि जगत्कर्तृत्वासम्भवाच । लोके चेतनाधिष्ठितेनाचेतनेन रथादिना यत्किञ्चित्क्रियते तच्चेतनकर्तृकमेव । मुख्यकर्तृपरित्यागे मानाभावाच मुख्यः कर्ता श्रुतिगणगीतः पर एव । एतदिति सर्वनामपदेन प्रत्यक्षाद्युपस्थितं जगत्परामृश्यते । नच कर्मशब्देनात्र पुण्यापुण्यलक्षणं कर्मैव वाच्यम्, "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति प्रतिज्ञाय बालाकिना ब्रह्मत्वेन निर्दिष्टानां षोडशपुरुषाणामब्रह्मतयाऽजातशत्रुस्तमब्रह्मवादिनं "मृषा वै खलु मा संवदिष्ठा"इत्यपोद्य, "तद्विदितं तन्निर्दिष्टपुरुषकर्त्तारं परमात्मानं वेद्यत्वेन "यो वै बालाके" इत्यादिनोपदिष्टवान्, अन्यथा पुण्यपापकर्मसम्बन्धिपुरुषाणां बालाकिनैव ज्ञातत्वेन वेदितव्यतया तदुपदेशस्य नैष्फल्यात् । अतश्चिदचिदात्मकप्रपञ्चकार्यत्ववाच्येव कर्मशब्दो, न पुण्यापुण्यमात्रवाची क्रियामात्रवाची वा । एवंसत्यतच्छब्दोऽपि सार्थकः, तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणोपस्थापितनिखिलचिदचिन्मिश्रजगद्विषयकत्वेन पुरुषमात्रकर्तृत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात् । तथा च "यो वै बालाके एतेषाम्पुरुषाणां कर्त्ता"इत्यस्य वाक्यस्यायमर्थः—हे बालाके ! त्वया आदित्यादिगता ये पुरुषा ब्रह्मत्वेनोक्तास्तेषां यः कर्त्ता, न केवलं पुरुषाणामेव कर्त्ता, किन्तु यस्यैतच्चिदचिदात्मकं कृत्स्नं जगच्च कर्मकार्यभूतं स सर्वात्मा सर्वेश्वरः परमात्मा वेदितव्य—इति । अत्र पुरुषाणां जगदन्तर्भूतत्वेन परमेश्वरकर्तृत्वे सिद्धेऽपि बालाक्युक्तब्रह्मत्वनिराकरणार्थो तेषां पृथगुक्तिर्बोद्धव्या ॥ १६ ॥

सू० जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति
चेत्तद्व्याख्यातम् । १ । ४ । १७ ॥

(वे०पा०सौ०) "एष प्रज्ञात्मा एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते" इतिजीवलिङ्गात्

"अथास्मिन्प्राणे एवैकधा भवति" इति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च तदन्यतरो प्राणो,न ब्रह्मेति चेत् । तद्व्याख्यातम् प्रतर्दनाधिकारे । जीवादिलिङ्गानि तत्र ब्रह्मपरत्वेन व्याख्यातानि तद्वदिहापि ज्ञेयानीत्यर्थः ॥ १७ ॥

(वे०कौ०)ननु "तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते,यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनम्भुञ्जन्ति, एवमेवैष प्रज्ञात्मा एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते, एवमेवैते आत्मान एनं भुञ्जन्ति" इति भोक्तृत्वरूपजीवलिङ्गात् , "अथास्मिन्प्राणे एवैकधा भवति" इतिमुख्यप्राणलिङ्गाच्च तदन्यतरो प्राणो न परमात्मेति चेत् । तद्व्याख्यातम् "प्राणस्तथाऽनुगमा"दित्यस्मिन्नधिकरणे । तत्र हि उपक्रमोपसंहाराभ्यां वाक्यस्य ब्रह्मविषयत्वे निश्चिते जीवादिलिङ्गान्यपि तत्परत्वेन वर्णितानि । इहाप्युपक्रमे "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इतिविषयत्वेन ब्रह्मोक्तम् । मध्येऽपि "यस्य चैतत्कर्म" इति निखिलजगदात्मककर्मकर्तृत्वेन ब्रह्मैवोक्तम् । उपसंहारोऽपि ब्रह्मपर एव "सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषाञ्च भूतानां श्रैष्ठ्यम् स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद" इति तदुपासकस्य फलातिशयश्रवणात् । एवमस्य वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते जीवादिलिङ्गान्यपि तत्परत्वेन नेयानि । न च पुनरुक्तिर्जातेति वाच्यम् । तस्मिन्प्रतर्दनाधिकरणे "यस्य चैतत्कर्म" इति वाक्यार्थनिर्णयाभावात् ॥ १७ ॥

सू० अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १ । ४ । १८ ॥

(वे०पा०सौ०) अस्मिन्प्रकरणे जीवग्रहणमन्यार्थं जीवव्यतिरिक्तब्रह्मबोधार्थमिति जैमिनिर्मन्यते । "क्वैष एतद्बालाके ! पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् , कुत एतदगादिति" प्रश्नात् , "यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति अथास्मिन्प्राणे एवैकधा भवति" इत्यादिप्रतिवचनात् । वाजसनेयिनोऽपि च एवमेव जीवव्यतिरिक्तपरमात्मानमामनन्ति। तत्रापि

प्रश्नप्रतिवचने भवतः "क्वैष तदाभूत् कुत एतदगात्" इति प्रश्नः। "य एषोन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिन् शेते" इति प्रतिवचनम् ॥ १८ ॥

(वे०कौ०) ननु "अस्मिन्प्राणे एवैकधा भवति" इति जीवप्रवेशश्रवणात् जीवप्रवेशार्हे ब्रह्मणि प्राणशब्दप्रयोगात्प्राणलिङ्गं तावद्ब्रह्मविषयं भवतु, जीवलिङ्गानां तु ब्रह्मपरत्वं दुर्घटमिवाभाति, यतोऽत्र "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः" इत्यादिवाक्ये हि केवलं जीवलिङ्गं प्रतीयत इत्यत्राह।

जैमिनिराचार्योऽस्मिन्प्रकरणे जीवग्रहणं तु खलु अन्यार्थं आधेयत्वादिमतो जीवात् पृथग्भूतस्याधारत्वादिमतः परमात्मनो हि प्रतिपादनार्थं मन्यते स्म। कस्मात्? प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्। तथाहि ब्रह्मजिज्ञासुना बालाकिना सह ब्रह्मवित् अजातशत्रुः सुप्तपुरुषसमीपं गत्वा, तं सुप्तं पुरुषं हे सोमराजन्! इत्याहूय, तथाप्याह्वानशब्दाश्रवणात्प्राणादिभ्यो विलक्षणम्भोक्तारं प्रतिपादयितुं तेषामभोक्तृत्वञ्च प्रतिपाद्य, यष्टिघातोत्थापनेन तेभ्योऽचेतनेभ्यः पृथग्रूपे चेतने जीवे प्रतिबोधिते पुनश्चेतनाचेतनविलक्षणब्रह्मप्रतिपादनाय प्रश्नानजातशत्रुः स्वयमेव कृतवान् "क्वैष एतद्बालाके! पुरुषोऽशयिष्ट क वा एतदभूत् कुत एतदगादि"ति। तदनन्तरं बालाकिं प्रश्नोत्तरदानासमर्थं मन्वानोऽजातशत्रुः स्वयमेवोत्तरमाह "यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राणे एवैकधा भवति, यदा प्रबुध्यते तदैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः" इति। एवंभूताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां जीवविलक्षणः परमात्मा बोध्यः। अयमर्थः। सुषुप्तिवेलायां जीवात्मा मनसा समस्तं करणग्रामं सङ्गृह्य "अस्मिन्प्राणे" इति सर्वनामपदसमानाधिकरणप्राणशब्दोदितं परमात्मानमनुप्रविश्य स्वस्थः सम्प्र-

सन्नो यथाकालं पुनस्तस्मादेव प्राणाद्भोगाय गच्छति । सोऽयं सुषुप्त्याद्याधारत्वादिना प्रसिद्धो जीवाद्भिन्नः परमेश्वरो वेदितव्य इति जैमिनेरपि मतम् । जैमिनिग्रहणमुक्तार्थस्य पूज्यत्वद्योतनार्थम् । "अपि चैवमेके" वाजसनेयिनो विज्ञानमयाज्जीवाद्भिन्नं परमात्मानमधीयते । तत्रापि हि बालाक्यजातशत्रुसंवादमवतार्य प्रश्नप्रतिवचने भवतः । तत्र प्रश्नः "य एष विज्ञानमयः क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागादि"ति । प्रतिवचनञ्च "य एषोन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते" इति । आकाशः परमात्मा "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" इत्यधिकरणे निर्णीतः । अयं जीवेश्वरयोर्भेदः "भेदव्यपदेशाच्च" इत्यादिभिर्बहुभिः सूत्रैः सूत्रकारेण पूर्वत्र प्रतिपादितः । प्रसङ्गादिहापि "अन्यार्थं तु जैमिनिः" इति जैमिनिसम्मतत्वेन दृढीकृतः । तदपि वेदमूलत्वेन दृढतरमिति दर्शयितुं "प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्" इत्युक्तम् । सर्वोपनिषत्प्रसिद्धत्वसूचनाय "अपि चैवमेके" इत्युक्तम् । अभेदप्रकारमपि वेदमूलं पूर्वोक्तसुपरिष्टान्निपुणं वक्ष्यामः । तस्माद्वेदितव्यतया परमात्मैवोपदिश्यते । स एव जगज्जन्मादिहेतुर्न तन्त्रसिद्धः पुरुषस्तदधिष्ठितं प्रधानं चेति सिद्धम् ॥ १८ ॥ इति जगद्वाचित्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू० वाक्यान्वयात् ॥ १ । ४ । १९ ॥

(वे०पा०सौ०) "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः" इत्यादिना परमात्मा द्रष्टव्यत्वेन ग्राह्यो वाक्यस्योपक्रमादिपर्य्यालोचनया तत्रैवान्वयात् ॥ १८ ॥

(वे०कौ०) इदानीं पुनरपि श्रुतिसमन्वयं ब्रह्मणि दर्शयन्साङ्ख्याभिमतं पुरुषं निराकरोति ।

बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणे श्रूयते "सहोवाच न वा अरे ! पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रि-

यो भवति" इत्युपक्रम्य, "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति । तत्र संशयः किमिह द्रष्टव्यत्वादिरूपेण साङ्ख्याभिमतः पञ्चविंशक आत्मोपदिश्यते आहोस्वित्पुरुषोत्तमः श्रीवासुदेवः, किं तावद्युक्तमिति । अत्र पूर्वपक्षी मन्यते द्रष्टव्यत्वादिना पञ्चविंशकस्तन्त्रप्रसिद्धः आत्मोपदिश्यते, तस्यैव दर्शनादिक्रियाविषयत्वसम्भवात्, सिद्धान्त्यभिमतस्योपत्तानवच्छिन्नत्वेन ब्रह्मणोऽञ्जसा क्रियाविषयत्वासम्भवात्, तन्त्रोक्ते पुरुषे पतिजायापुत्रादिप्रियत्वसम्बन्धस्योपक्रमोक्तस्य सम्भवाच्च । "इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इति मध्येऽपि इदमित्यनेन शरीरस्थस्यैव प्राकृतभूतवैलक्षण्यद्योतनाय महद्भूतशब्दनिर्दिष्टस्य कालानवच्छिन्नत्वद्योतनायानन्तशब्दनिर्दिष्टस्यापारस्यासङ्कुचितस्य विज्ञानघनस्य तन्त्रोक्तस्यैवोत्पत्तिविनाशसम्बन्धितया सांसारिकत्वविधानाच्च । अन्ते च "विज्ञातारमरे ! केन विजानीयादि"ति विज्ञातृत्ववचनाच्चेति । अत्र सिद्धान्त उच्यते श्रीपुरुषोत्तम एवात्र द्रष्टव्यत्वादिनोपदिश्यते । कुतः ? वाक्यस्य परमात्मन्येवान्वयात्, उपक्रमोपसंहारपर्यालोचनेनैकार्थपरस्याकाङ्क्षावत्पदग्रामस्य परमात्मपरतयाऽन्वयावगमात्। तथाहि "अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन(१)" इति याज्ञवल्क्याद्वित्तसाध्यं "प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपा नास्त्यकृतः कृतेन" इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धं कर्म मोक्षानुपायं निश्चित्य, मोक्षमाशासाना मैत्रेयी मोक्षसाधनं पृच्छति "येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्, यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि" इत्येवंप्रश्नेन याज्ञवल्क्येन "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः" इत्यादिना दर्शनादिक्रि-

(१) वित्तेन वित्तसाध्येन कर्मणा ।

त्यविषयः सर्वात्मा पुरुषोत्तम एवोपदिश्ये, तद्ध्यानादेव मोक्षसम्भवात् । तद्विज्ञानेन सर्वविज्ञानमप्युपपद्यते । उपसंहारे च "इदं सर्वं यदयमात्मा" इति सर्वात्मत्वं परमात्मन एव लिङ्गम् ॥१९॥

सू० प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ १ । ४ । २० ॥

(वे०पा०सौ०) कथं तर्हि जीवेनोपक्रमणमत्रोच्यते ? एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धेर्यज्जीवस्य परमात्मकार्यतया परमात्मानन्यत्वात्तद्वाचकशब्देन परमात्माभिधानं गमकमित्याश्मरथ्यो मन्यते स्म ॥२०॥

(वे०कौ०) ननु "न वा अरे ! पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्याद्युपक्रमे पत्यादिप्रियसम्बन्धितया "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति" इति मध्ये चोत्पत्तिविनाशसम्बन्धितया जीव एव प्रतीयते इति चेत्। सत्यम् । तथापि जीवा(१)त्मशब्देन परमात्माऽत्र ग्राह्यस्तस्य सर्वकारणत्वादिना सर्वशब्दवाच्यत्वान्नैव दोष इत्याचार्यान्तरसम्मत्या दर्शयति ।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादौ जीवोऽपि भूतेषु प्रविष्टः खलु कार्यमध्ये गणितः ब्रह्म कारणम् कार्यकारणत्वाभ्यां तयोर्भेदो मुख्य एव । अत्र द्वैतवाक्यानि अर्थवन्ति भवन्ति । कार्यस्य च तज्जत्वादिना तदनन्यत्वादभेदोऽपि मुख्यः । एवमत्राद्वैतवाक्यान्यर्थवन्ति सन्ति । एवमुभयविधवाक्यानां स्वार्थे प्रामाण्याज्जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदसम्बन्धः स्वाभाविकः । अत्र कार्यवाचकानां शब्दानां कारणपरत्वं सम्भवति, घटभूम्योः कार्यकारणभावेन घटशब्दस्यापि भूमिपरत्वात् । एवंसत्येकविज्ञा-

(१) "आत्मनस्तु कामाय" इत्यनेन परमात्माऽत्र ग्राह्यः । अन्यथा "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः" इत्यात्मशब्देन परमात्मपरेण सहैकार्थता न स्यात् ।

नेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाऽपि सिद्ध्येत्याश्मरथ्यमतम् । सूत्राक्षरार्थस्तु एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धेरिदं हि लिङ्गं गमकम् । किं लिङ्गम् ? शृणु ! यज्जीवस्य परमात्मकार्यतया तदनन्यत्वाज्जीवा-(१)त्मशब्देन परमात्मनोऽभिधानम्, इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते स्म ॥ २० ॥

सू० उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥१।४।२१॥

(वे०पा०सौ०) शरीरादुत्क्रमिष्यतो जीवस्य ब्रह्मणा सहभावात्तच्छब्देन ब्रह्माभिधीयते इत्यौडुलोमिः मन्यते स्म ॥ २१ ॥

(वे०कौ०) "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते ।" "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" । इति शरीरेन्द्रियसंघातादुत्क्रमिष्यतो ब्रह्मश्रवणमननध्यानदर्शनसम्पन्नस्य "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" । "अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्योऽजत्वेन प्रसिद्धस्य जीवस्यैवंभावात्परमात्मना सहभावाद्ब्रह्मभावापन्नत्वाज्जीवशब्देन परमात्माऽभिधीयते इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते स्म । अस्मिन्पक्षे बद्धावस्थायां भेदः, मुक्तावस्थायामभेदः, इत्थं जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदौ वर्त्तेते । एवं भेदाभेदवाक्यार्थ इत्यौडुलोमेराचार्यस्याभिप्रायः । स्थूलबुद्धिजनोपकाराय भगवत औडुलोमेर्भेदाभेदप्रकार एवमभिमतः । वस्तुतस्तु बद्धावस्थायामपि व्यापकादप्रच्युतस्वभावात्सर्वज्ञाद्ब्रह्मणः अणुपरिमाणोऽल्पज्ञो जीवो भिन्नोऽपि वृक्षात्पत्रमिव प्रदीपादेः प्रभेव, गुणिनो गुण इव प्राणादिन्द्रियमिव पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यभावाद्ब्रह्मांशभूतो जीवो ब्रह्मपदार्थादभिन्नः । तथा मुक्ता-

(१) "आत्मनस्तु कामाय" इत्यनेन ॥

त्यपि पृथक्स्थित्याद्यभावेन तदभिन्नोऽपि "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति वचनाद्भिन्न एव, अन्यथोभयस्वरूपयोरच्युतत्वहानिः स्यात्, एवमाश्मरथ्याभिप्रायोऽपि बोध्यः ॥ २१ ॥

सू० अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ १ । ४ । २२ ॥

(वे०पा०सौ०) जीवात्मनि स्वनियम्ये "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्" इत्यादौ प्रसिद्धस्य परमात्मनो नियन्तृत्वेनावस्थितेर्हेतोर्नियम्यपदेनोपक्रमादौ नियन्तृपरिग्रह इति काशकृत्स्नो मन्यते स्म ॥ २२ ॥

(वे०कौ०) "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोऽयमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम्, य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" इत्यादिश्रुतेः स्वनियम्यभूते जीवात्मन्यात्मतया परमात्मनोऽवस्थितेर्हेतोर्जीवशब्देन परमात्माऽभिधीयते, इति नियम्यनियन्तृत्वमित्काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते स्म । तदेवं श्रुतित्रयमतद्वारा प्रसङ्गाद्भेदाभेदप्रकारो भगवता दर्शितः । स्वमतेन च श्रुतीनां विरोधपरिहाराय स्वाभाविकं जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदसम्बन्धं निपुणं प्रतिपादयिष्यति "अंशो नानाव्यपदेशात्" इत्यादिना । तत्रोपक्रमे आत्मशब्दः परमात्मपर एव, तस्यैव परमात्मन उपासनं मोक्षोपायत्वेन "आत्मा वा अरे !" इत्यादिनाऽभिधीयते । "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" इत्यनेन परमात्मपराङ्मुखस्य संसारो, न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यनेन तदुपासकस्य मुक्तिर्निर्दिश्यते । तस्माच्चिदचिद्भिन्नाभिन्नसर्वकारणे मुक्तगम्ये सर्वनियन्तरि ब्रह्मणि मैत्रेयीब्राह्मणवाक्यं समन्वितं भवतीति सिद्धम् ॥ २२ ॥ इति वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥ ६ ॥

सू० प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ १ । ४ । २३ ॥

(वे०पा०सौ०) प्रकृतिरुपादानकारणं चकारान्निमित्तकारणं च पर-

मात्मैव, "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवत्यविज्ञातं विज्ञातं भवति" इति प्रतिज्ञायाः, "यथा सौम्य ! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्" इति दृष्टान्तस्य च सामञ्जस्यात् ॥२३॥

(वे०कौ०) इत्थं निरीश्वरसाङ्ख्यमतं निराकृत्येदानीं सेश्वरसाङ्ख्यमतं निराकुर्वन् पूर्वोक्तं जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वं भगवतो द्रढयति ।

ननु "जन्माद्यस्य यतः" इति ब्रह्मलक्षणप्रतिपादकसूत्रानन्तरमस्याधिकरणस्य पाठो युक्तः, दृढतया जगत्कारणप्रकारविधायकत्वादिति चेन्न । सम्यक् पश्यति(१) इहैवास्य योग्यत्वात् । तथाहि "ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या" इत्यत्र किं लक्षणं ब्रह्मण इत्याकाङ्क्षायां "जन्माद्यस्य यतः" इति ब्रह्मलक्षणमुक्तम् । तत्रोपादानत्वं निमित्तत्वं च श्रुतिसूत्राभ्यां सिद्धमेव । तदनन्तरमुपादानत्वं वा, निमित्तत्वं वेत्याकाङ्क्षाभावान्न पुनः प्रपञ्चितम् । अत्र तु स्वातन्त्र्येण प्रकृतिपरिणामवादिनो निराकृताः । अपि तत्र केचित्सेश्वरसाङ्ख्याः प्रत्यवतिष्ठन्ते—लोके चेतनानां कुलालादीनां निमित्तकारणत्वमेव दृष्टम्, नोपादानत्वम्, "स ऐक्षत ईक्षाञ्चक्रे" इत्यादिनेक्षापूर्विका सृष्टिरुक्ता । अत ईक्षिता परमेश्वरः कथञ्चिन्निमित्तमात्रमस्तु जगत्कारणम्, उपादाने तु महदादेस्तदधिष्ठितं प्रधानमेव, घटादेर्मृदादिवत् । "विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम् । ध्यायते ध्यासिता तेन तन्यते प्रेरिता पुनः ॥ सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत् । गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी" इत्यादिशास्त्रप्रामाण्यात्—इति । अत्राभिधीयते । ब्रह्मैव जगतःप्रकृतिरुपादानं, चान्निमित्तञ्च । कुतः ? "प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" । प्रतिज्ञायाः दृष्टान्तस्य च अबाधनात् सामञ्जस्या-

(१) पूर्वपक्षीति शेषः ।

त् । प्रतिज्ञा तावत् "उत तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इति । श्रुत्यर्थस्तु हे पुत्र श्वेतकेतो ! तमादेशं तमादेष्टारं परमात्मानमप्राक्षः पृष्टवानसि, येन गुरुमुखात् श्रुतेनाश्रुतमपि श्रुतं भवति, अमतं मतं भवति, अविज्ञातं विज्ञातं भवतीति । अनया प्रतिज्ञया परमात्मन उपादानत्वं गम्यते, उपादानश्रवणादिना उपादेयश्रवणादेरेव सङ्गतत्वात् । दृष्टान्तस्तु "यथा सोम्य ! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्" इत्यादि । अनेन दृष्टान्तेन दार्ष्टान्तेऽपि परमात्मन उपादानत्वं गम्यते । नहि दृष्टान्ते कुलालो गृहीतः, नच कुलालेन ज्ञातेन घटो ज्ञातः स्यात्, मृत्पिण्डेन तु ज्ञातेन सर्वं घटादिकं मृन्मयं विज्ञातं स्यादेव । यदुक्तं लोके चेतनानां कुलालादीनां निमित्तत्वमेव दृष्टमिति। तत्रोच्यते। न वयमनुमानादिना जगत्कारणं साधयामः, येन कुलालादिदृष्टान्तापेक्षा भवेत् । वयं तु वेदविरुद्धसर्वप्रमाणपरित्यागपूर्वकशास्त्राचार्योक्तकारिणः । किञ्च लोकेऽपि केशलोमादिकार्य्यस्योपादानकारणं चेतनं पुरुषम्, ऊर्णायाः उपादानमूर्णनाभिञ्च पश्यामः । श्रूयते च "यथा पुरुषात्केशलोमानि, यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" इति । नन्वत्रोपादेयानुरूपो हि उपादानेऽशोऽप्यस्तीति चेत् । प्रकृतेष्वप्यस्ति प्रकृत्याख्या देवात्मशक्तिः ॥ २३ ॥

सू॰ अभिध्योपदेशात् ॥ १ । ४ । २४ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) "तदैक्षत बहु स्याम्" इत्यभिध्योपदेशाद्ब्रह्मणः स्रष्टृत्वप्रकृतित्वे(१)वर्त्तेते ॥ २४ ॥

(वे॰कौ॰) "सोऽकामयत" इत्यभिध्योपदेशात् सङ्कल्पोपदेशात् स्रष्टृत्वं, "बहु स्याम्" इति सङ्कल्पोपदेशादुपादानत्वञ्च पर-

(१) निमित्तोपादानत्वे ।

मात्मन एव उपपद्यते ॥ २४ ॥

सू० साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ १ । ४ । २५ ॥

(वे०पा०सौ०) "ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुर्मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्नि"ति निमित्तत्वमुपादानं च ब्रह्मणः, आम्नानाद्ब्रह्मणोभयरूपम् ॥ २५ ॥

(वे०कौ०) चशब्दोऽवधारणे । प्रकृतिर्निमित्तश्च ब्रह्मैव । कुतः ? "साक्षादुभयाम्नानात्" । तथाहि "किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुर्मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्नि"ति, जगदुपादाननिमित्तादिप्रश्ने "ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुर्मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्नि"ति साक्षादुभयं निमित्तकारणत्वमुपादानकारणत्वं च ब्रह्मण आम्नायते२५

सू० आत्मकृतेः परिणामात् ॥ १ । ४ । २६ ॥

(वे०पा०सौ०) ब्रह्मैव निमित्तमुपादानञ्च । कुतः ? "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यात्मकृतेः । ननु कर्तुः कुतः कृतिविषयत्वं ? परिणामात्सर्वज्ञं सर्वशक्तिमद्ब्रह्म स्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणमय्य, अव्याकृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति ॥ २६ ॥

(वे०कौ०) ब्रह्मैव निमित्तमुपादानञ्च । कुतः ? "आत्मकृतेः" । "तदात्मानं स्वयमकुरुते"ति आत्मनः कर्मभूतस्य कृतिविषयस्य स्वयं कृतिमान्निर्दिश्यते, कृतिः करणमतो हेतोरित्यर्थः । ननु स्वस्य कृतिमतः स्वात्मैव कृतिविषयत्वेन कथं सङ्गच्छते, तत्राह "परिणामात्" । सर्वज्ञः सर्वशक्तिरप्रच्युतस्वरूपः परमात्मा स्वात्मकस्वाधिष्ठितनिजशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणमयतीत्येवंभूतात्परिणामात्सर्वमनवद्यम् । "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, विचित्रशक्तिः पु-

रूपः पुराणो न चान्येषां शक्तयस्तादृशाः स्युः । शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः । शतशो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः । भवन्ति तपतां श्रेष्ठ ! पावकस्य यथोष्णता" इत्यादि श्रुतिस्मृतिप्रतिपादिता अनन्ताः स्वाभाविकयस्तस्य शक्तयः सन्ति । तासां सृष्ट्यादौ विक्षेपं करोति । श्वेताश्वेतराणां मन्त्रवर्णोऽस्य सृष्ट्यादावन्यनिरपेक्षत्वं समानातिशयशून्यत्वञ्च प्रतिपादयति "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इति । सर्वशक्तिविक्षेपरूपपरिणामे च "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, प्रधानं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः । क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥ प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः । तद्वद्भूतानि भूतात्मा सृष्टानि ग्रसते पुनः" इत्यादिश्रुतिस्मृतयो मानम् ॥ २६ ॥

सू० योनिश्च हि गीयते ॥ १ । ४ । २७ ॥

(वे०पा०सौ०) "यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः, कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिमि"ति चेति योनिशब्देन ब्रह्म गीयते, अतो ब्रह्मैवोपादानम् ॥ २७ ॥

(वे०कौ०) हि यतः "यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इति "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिमि"ति च "एष योनिः सर्वस्ये"ति चोपादानवाचकेन योनिशब्देन ब्रह्म गीयते, अतो हेतोरुपादानं ब्रह्मैवेत्यर्थः । तस्मात्साङ्ख्यपक्षो वेदविरुद्धत्वादादर्तव्यः । सर्ववेदैकवेद्यो जगद्भिन्नाभिन्नः श्रीपुरुषोत्तमो भगवान्सर्वेश्वरः श्रीकृष्ण एव जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन मुमुक्षुभिर्ध्येय इति सिद्धम् ॥ २७ ॥ इति प्रकृत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

सू० एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ १ । ४ । २८ ।

(वे०पा०सौ०) एतेनाधिकरणसमुदायेन सर्वे वेदान्ता ब्रह्मपरत्वेन व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे
वे० पा० सौ० प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

(वे०कौ०) अथेदानीं सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयमतिदेशेन भगवान्सूत्रकारो दर्शयति ।

एतेन समन्वयप्रकारेण सर्वे उक्ता अनुक्ताः वेदान्ताः ब्रह्मपरत्वेन व्याख्याताः सन्तो वेदितव्याः । सर्ववेदसमन्वयोऽपि ब्रह्मण्येव वेदितव्यः "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"तिश्रुतेः, "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इतिस्मृतेश्च । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिं द्योतयति । तस्माज्जगज्जन्मादिहेतुः सर्ववेदैकवेद्यः ब्रह्मनारायणादिशब्दाभिधेयः श्रीकृष्णो मुमुक्षुभिः श्रवणमननध्यानादिभिराराधनीय इति सिद्धम् ॥२८॥ इति सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥८॥

हरिः ॐ श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्य्य श्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्री६श्रीनिवासाचार्य्येण विरचिते
शारीरकमीमांसाभाष्ये वेदान्तकौस्तुभे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

ॐ श्रीमद्राधागोपालाभ्यां नमः ।

ॐ मङ्गलमूर्त्तये श्रीमन्नियमानन्दाय नमः ।

भाष्यद्वयोपेते श्रीब्रह्मसूत्रे

द्वितीयाध्यायारम्भः ।

सू॰ स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ २ । १ । १ ॥

श्रीश्रीभगवन्निम्बार्कविरचितवेदान्तपारिजातसौरभाख्य-वाक्यार्थः ।

उक्तसमन्वयस्याविरोधप्रकारः प्रतिपाद्यते । ननु श्रुत्युपबृंहणाय स्मृत्यपेक्षा वर्त्तते, तत्र साङ्ख्यस्मृतिर्ग्राह्या, न चाचेतनकारणवादिनी साऽतो न ग्राह्येति वाच्यम्, स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति चेन्न । अन्यस्मृतीनां वेदोक्तचेतनकारणविषयाणां बाधप्रसङ्गादिति वाक्यार्थः॥ १॥

श्रीश्रीनिवासाचार्य-विरचित-वेदान्त-कौस्तुभ-भाष्यम् ।

पूर्वस्मिन्नध्याये ब्रह्मसाक्षात्कारासाधारणकारणतद्ध्यानोपयोगितद्गुणस्वरूपादिप्रकाशकवेदान्तश्रवणमननाद्यभ्यासे मुमुक्षून्प्रवर्त्तयितुं सर्वभिन्नाभिन्ने स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषे कल्याणगुणगणैकनिलये जगत्कारणे ब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे श्रुतिसमन्वयो दर्शितः । अथास्मिन्द्वितीयेऽध्याये विरोधः परिह्रियते । तत्र प्रथमे पादे परैः स्वसिद्धान्ते उद्भाविताः दोषाः निराक्रियन्ते । द्वितीये पादे च परपक्षेषु युक्त्याभासमूलेषु स्वपक्षप्रवृत्तये दोषा उद्भाव्यन्ते । तृतीये पादे च वियदादिमहाभूतोत्पत्तिविधायक-

श्रुतीनामविरोधप्रकारः सृष्टिसंहारक्रमो जीवतत्त्वञ्च निरूप्यते । चतुर्थे पादे तु जीवकरणप्रतिपादकश्रुतिविरोधः परिहियते । तत्र तावत्स्मृत्यविरोधो निरूप्यते ।

प्रमाणाधिकरणे जगत्कारणस्य ब्रह्मणोन्यऽप्रमाणागोचरतया वेदैकप्रमाणकत्वमुक्तम् । समन्वयाधिकरणे च सर्ववेदसमन्वयो ब्रह्मणि प्रतिपादितः । तथा च वेदार्थस्य वेदवित्प्रणीतस्मृतिं विना दुर्ज्ञेयत्वात्स्मृतिरप्यपेक्षिता । "श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्त्तिते । एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः ॥" इति स्मृतिहीनस्य काणत्वं स्मर्य्यते । अतो वेदविशदीकरणाय साङ्ख्यादिस्मृतिर्ग्रहीतव्याऽऽहोस्विन्मन्वादिस्मृतिः इति संशये, वेदोपबृंहणाय साङ्ख्यादिस्मृतिर्ग्राह्या, वेदस्य सर्वस्यात्मज्ञाने परिसमाप्तत्वात् । आत्मज्ञानाभावे सङ्गृहीता वेदवाणी निष्फलैव स्यादधेनुरिव । आत्मज्ञानोपदेशाय प्रवृत्ता स्मृतिः कुतः केन विजानता नादर्त्तव्या स्यात् ? मन्वादिस्मृतीनां तु ऐहिकामुष्मिकफलककर्मप्रतिपादकतया चरितार्थत्वात् । सर्वज्ञत्वं कपिलस्यामनन्ति श्वेताश्वतराः "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानञ्च पश्येदि"ति । तस्मात्सर्वज्ञप्रणीता स्मृतिरात्मतत्त्वप्रतिपत्तये ग्राह्या, तदनुसारेणैवात्मतत्त्वबोधको वेदभागो नेयः, अतो न चेतनकारणवादो ग्रहीतुं शक्यः, साङ्ख्यस्मृतेरचेतनकारणबोधकत्वात् , अन्यथा "स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः" । वेदप्रसिद्धसर्वज्ञमुनिप्रणीताऽचेतनकारणवादिस्मृत्यनवकाशरूपदोषप्रसङ्गः स्यादिति चेन्न । एवं पूर्वपक्षो नैव युक्त इत्यर्थः । कुतः ? "अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ।" तदन्यासां मन्वादिस्मृतीनां ब्रह्मैककारणत्वप्रतिपादिकानां श्रुतिमूलिकानामनवकाशत्वरूपदोषप्रसङ्गात् । स्मृतिबलेन गर्ज्जन् प्रतिवादी स्मृतिबलेनैव निवारणी-

यः । तथाह भगवान्मनुः "महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्त-मोनुदः । सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ॥ अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजदि"ति । आपस्तम्बश्च "पूः प्राणिनः सर्वगुहाशयस्य अहन्यमानस्य विकल्मषस्य । त-स्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे स एव मूलं शाश्वतिकः स नित्यः" इति । भारते च राजधर्मे "योनिस्त्वमस्य प्रलयश्च कृष्ण ! त्वमे-वेदं सृजसि विश्वमग्रे । विश्वं चेदं त्वद्वशे विश्वयोने ! नमो-ऽस्तु ते शार्ङ्गचक्रासिपाणे !" इत्यादि । मोक्षधर्मे "स अन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते । नारायणो जगन्मूर्तिरनन्तात्मा सनातनः ॥ तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम !"इति । तत्रै-व "पितामह ! महाप्राज्ञ ! पुण्डरीकाक्षमच्युतम् । कर्तारमकृतं वि-ष्णुं भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ नारायणं हृषीकेशं गोविन्दमपराजि-तम् । तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ ! श्रोतुमिच्छामि केशवमि"ति प्रश्ने, "महा-भूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः । वायुर्ज्योतिस्तथा चापः खञ्च गाञ्चानुकल्पयदि"त्यादि । दानधर्मे शिवः "पितामहादपि वरः शा-श्वतः पुरुषो हरिः । कृष्णो जाम्बूनदाभासो व्यभ्रे सूर्य इवोदितः । श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः । ब्रह्मा तस्योदरभवस्तथा-हञ्च ललाटजः ॥ शिरोरुहेभ्यो ज्योतींषि रोमभ्यश्च सुरासुराः । ऋषयो देहसम्भूतास्तथा लोकाश्च शाश्वताः ॥ पितामहगृहं सा-क्षात्सर्वदेवगृहञ्च सः । सोऽस्याः पृथिव्याः कृत्स्नायाः स्रष्टा त्रिभु-वनेश्वरः ॥ संहर्ता सर्वभूतानां स्थावरस्य चरस्य च । सदैव रिपुजित्साक्षाद्देवनाथः परात्परः ॥ सर्वज्ञः सर्वसंश्लिष्टः सर्वगः सर्वतोमुखः । परमात्मा हृषीकेशः सर्वव्यापिमहेश्वरः" इत्यादि । तत्रैव सर्वज्ञो देवव्रतोऽप्याह "अहं ह्येनं वेद्मि तत्त्वेन कृष्णमि"त्यु-पक्रम्य, "सर्वं कृष्णः स्थावरं जङ्गमञ्च विश्वात्मानं विश्वमेतं

प्रतीहि । यत्प्रशस्तञ्च लोकेषु पुण्यं यच्च शुभाशुभम् । तत्सर्वं केशवोऽचिन्त्यो विपरीतमतः परम् ॥ एतादृशः केशवोऽयं स्वयम्भूर्नारायणः परमश्चाप्ययश्च । मध्याचान्तो जगतस्तस्थुषश्च सर्वज्ञेयो भूतानां प्रभवश्चाप्ययश्चे"ति । सर्वस्मृतिकृदभिवन्दितपादयुगलवचनमपि "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते । अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथे"ति । पराशरश्च "विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव संस्थितम् । स्थितिसंयमकर्त्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च स" इति । वेदान्तोपयोगित्वेन कापिलतन्त्रपरिग्रहे इत्यादिकानां बाधः स्यादित्यर्थः । ताश्च मन्वादिस्मृतयो वेदोक्तब्रह्मज्ञानसाधनीभूतधर्मप्रतिपादनेन ब्रह्मगुणस्वरूपादिप्रतिपादनेन च वेदवित्प्रणीततया चोपादेयाः । वेदे च चेतनं जगत्कारणं ब्रह्मैवोक्तम् , तद्विरुद्धत्वात्साङ्ख्यादिस्मृतिरप्रमाणा । तथाह भगवान्मनुः "या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । ताः सर्वा निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः" इति । वेदविरुद्धस्मृतिकर्त्ताऽपि कपिलनामकः कश्चित् कणादादिवन्मुनिरेव, न तु वासुदेवाख्यो भगवान्कपिलः "कपिलो वासुदेवाख्यः साङ्ख्यं तत्त्वं जगाद ह । ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यो भृग्वादिभ्यस्तथैव च । तथैवासुरये सर्ववेदार्थैरुपबृंहितम् । सर्ववेदविरुद्धं च कपिलोऽन्यो जगाद ह । साङ्ख्यमासुरयेऽन्यस्मै कुतर्कपरिबृंहितमि"ति पाद्मात् । श्रुतिप्रोक्तस्तु कपिलो हिरण्यगर्भो ज्ञेयः ॥ १ ॥

सू० इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ । १ । २ ॥

(वे०पा०सौ०) इतरेषां मन्वादीनां वेदस्य प्रधानपरत्वानुपलब्धेश्च वेदविरुद्धस्मृतेरप्रामाण्यम् ॥ २ ॥

(वे०कौ०) कपिलापेक्षयेतरेषां वेदविदुत्तमानां मन्वादीनां वेदस्य च प्रधानपरत्वानुपलब्धेः साङ्ख्यस्मृतिर्नादर्त्तव्या, वेदविरु-

द्धस्मृतित्यागो नोक्तसमन्वये विरुद्ध्यते इति सिद्धम् ॥ २ ॥
इति स्मृत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ २ । १ । ३ ॥

(वे०पा०सौ०) साङ्ख्यस्मृतिनिरासेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याताऽस्ति ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) इदानीं योगस्मृतेरप्रामाण्यमाह ।

अतिदेशरूपमिदं सूत्रम् । अपरिज्ञातसादृश्ये सादृश्यज्ञापनमतिदेशः । "तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणामि"त्यादिश्रुतिगृहीतयोगशब्दग्रहणाद्योगस्मृतेर्वेदविशदीकरणत्वप्रतीत्या साङ्ख्यस्मृतिसादृश्यमपरिज्ञातम् । तदिदं सूत्रं साङ्ख्यस्मृतिसादृश्यं योगस्मृतेः ज्ञापयति । एतेनाचेतनकारणप्रतिपादकसाङ्ख्यस्मृतिनिरासेनैव योगस्मृतिः प्रत्युक्ता वेदितव्या । "योगः प्रत्युक्तः" इति योगशब्देन तत्प्रतिपादकस्मृतिर्गृह्यते । योगस्मृतिः प्रत्युक्तेति वक्तव्ये योगइतिपदोपन्यासेऽयमभिप्रायः—यद्यपि योगशास्त्रे ईश्वरः स्वीकृतस्तथाऽपि प्राधान्येन "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः" इतिवन्न प्रतिपादितः । "अथ योगानुशासनमि"त्युपक्रमे "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध" इति तल्लक्षणसूत्रादौ योगस्यैव प्राधान्यं गम्यते । स चेश्वरसम्बन्धवर्जितः केवलचित्तवृत्तिनिरोधमात्रः सिन्धुतरणे श्वलाङ्गूलवज्जगत्तरणेऽकिञ्चित्कर एव । "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः, ब्रह्मविदाप्नोति परं, ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति, बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः । इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणो हरिः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरुद्धत्वेनोपेक्षणीय–इति । केवलचित्तवृत्तिनिरोधमात्रेण मुक्त्यसम्भवात् तत्प्राधान्यविषयं योगशास्त्रमनुपादेयमेव । प्रधानं ब्रह्मसम्बन्धहीनमुपादानं निमित्तमात्रमीश्वरो जगत्कारणमिति

तन्मतम्, तदप्ययुक्तमेव वेदविरुद्धत्वात्। अन्येऽपि योगशास्त्रे बहवो दोषाः सन्ति निष्प्रयोजनत्वादिह नोदाहृताः। श्रुतिस्मृतिगतयोगशब्दश्च परमात्मध्यानादिविषयः। मोक्षधर्मादिषु साङ्ख्ययोगयोः प्रशंसावचनं त्वविरुद्धांशाभिप्रायम्। तस्मात्प्रकृतसमन्वयस्य ब्रह्मकारणत्वबोधकस्य योगस्मृत्या न विरोध इति सिद्धम्।३।

इति योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्॥ २॥

सू० न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्॥ २। १। ४॥

(वे०पा०सौ०) तर्कबलेन प्रत्यवतिष्ठते जगतो न चेतनप्रकृतिकत्वं विलक्षणत्वात्। विलक्षणत्वञ्च "विज्ञानञ्चाभवदि"त्यादिशब्दादप्यस्यावगन्तव्यम्॥ ४॥

(वे०कौ०) एवमधिकरणाभ्यां स्मृतिविरोधो निराकृतः, इदानीं तर्कविरोधः परिह्रियते।

"जन्माद्यस्य यत": इत्यादिनाऽस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वमुक्तम्। तत्र तर्कबलेनाक्षिपति नेति। नास्य जगतो ब्रह्मप्रकृतिकत्वम्। कुतः? "विलक्षणत्वात्"। ब्रह्म चेतनत्वाऽस्थूलत्वानन्तत्वशुद्धत्वादिगुणकम् ततोऽस्याचेतनत्वस्थूलत्वादिना विसदृशत्वात्, यद्यस्माद्विलक्षणं तन्न तत्प्रकृतिकम्, यथाऽऽकाशविलक्षणो घटो नाकाशप्रकृतिकः, कुलालविलक्षणं घटशरावादिकं न कुलालप्रकृतिकम्। ननु प्रकृतिधर्मानुवृत्तिर्विकारे दृश्यते,(१) एवं प्रकृतेऽपि ब्रह्मोपादानकारणं मनुष्यपश्वाकारश्चेतनरूपस्तद्विकारः संसारस्तत्सदृशो भवेदतोऽसिद्धो हेतुरिति चेन्न। कार्ये पाषाणकाष्ठादावचेतनत्वस्थूलत्वादेः प्रत्यक्षप्रमाणगोचरत्वात्। ननु तत्रापि चेतनत्वमनभिव्यक्तं कल्पयितुं शक्यमतो न विलक्षणत्वमिति चेन्न। प्रत्यक्षावगतस्यार्थस्य कल्पनयाऽन्यथात्वायोगात्। विलक्षणत्वं शब्दादपीत्या-

(१) तत्र ब्रह्मोपादानकोऽस्ति मनुष्यपश्वाद्याकारः इत्यपि पाठः।

ह तथात्वमिति । तथात्वं च विलक्षणत्वं च शब्दादपि "विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्, समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावादि"त्यादिशब्दात् ॥ ४ ॥

सू० अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ २ । १ । ५ ॥

(वे०पा०कौ०) "पृथिव्यब्रवीत्ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः" इत्यादौ तु तदभिमानिनीनां देवतानां व्यपदेशः "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता" इति विशेषणात्, "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदि"त्याद्यनुगतेश्च ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) ननु "तं पृथिव्यब्रवीन्मृदब्रवीदापोऽब्रुवन् ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः, ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय"इत्यादिश्रुतिभिरुपादेयस्यापि चेतनत्वावगमात्रोपादानाद्विलक्षणत्वमित्यत्रोच्यते ।

तुशब्द उक्तशङ्कानिराकरणपरः । नोपादेयस्य चेतनत्वव्यपदेशो येन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं तस्य स्यात्, किन्तु पृथिव्याद्यभिमानिनीनां देवतानां "तं पृथिव्यब्रवीदि"त्यादिव्यपदेशोऽस्ति । कस्मात् ? "विशेषानुगतिभ्याम्" । "हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवता" इति पृथिव्यादेर्देवताशब्देन विशेषणात्, "एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमाना" इति, "ता वा एता देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वे"ति चेन्द्रियाणां देवताशब्देन विशेषणात् । "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी"त्यादिषु वागाद्यभिमानित्वेनाग्न्यादीनामनुगतेश्च अनुगतिश्रवणाच्च । तस्माद्ब्रह्मविलक्षणत्वादस्य न ब्रह्मप्रकृतिकत्वम् ॥ ५ ॥

सू० दृश्यते तु ॥ २ । १ । ६ ॥

(वे०पा०सौ०) तत्रोच्यते पुरुषाद्विलक्षणस्य केशादेर्गोमयाद्विल-

क्षणस्य वृश्चिकस्योत्पत्तिर्दृश्यतेऽतो ब्रह्मविलक्षणत्वाज्जगतो न तत्प्रकृतिकत्वमिति न वक्तव्यम् ॥ ६ ॥

(वे०कौ) इति पूर्वपक्षे हेतोर्व्यभिचारोऽस्तीत्याह।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। यदुक्तं नास्य जगतो ब्रह्मप्रकृतिकत्वं तद्विलक्षणत्वादिति। तन्न। यतः पुरुषाद्विलक्षणानां नखलोमादीनां(१) गोमयाद्वृश्चिकस्य विलक्षणस्योत्पत्तिर्दृश्यते तस्मादित्यर्थः ॥ ६ ॥

सू० असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ २ । १ । ७ ॥

(वे०पा०सौ०) ननूपादानादुपादेयस्य विलक्षणत्वे उत्पत्तेः पूर्वं तदसद्भवितुमर्हतीति। नैष दोषः। पूर्वसूत्रे प्रकृतिविकारयोः सर्वथा सादृश्यनियमस्य प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

(वे०कौ० ननु "न विलक्षणत्वादस्य" इत्यनेन प्रकृतिविकारयोरत्यन्तसादृश्यमङ्गीकृत्य, ब्रह्मविलक्षणत्वादस्य तत्प्रकृतिकत्वं दूषितम्। पुनस्तत्समाधानाय "दृश्यते तु" इत्यनेन विलक्षणयोरपि प्रकृतिविकृतिभावः प्रतिपादितः। तत्र हि सृष्टेः पूर्वं जगत्कारणादविलक्षणमुत विलक्षणम्, किमात्मकं भवदभिमतम्। अविलक्षणमिति चेत्। तत्र पुरुषादेः केशलोमादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिवद्विलक्षणस्य जगत उत्पत्तिर्यथा स्वीक्रियते, तथा सुवर्णादेः कटकादीनामिव सदृशस्य जगत उत्पत्तिः कुतो (२)न स्यात्। विलक्षणमिति चेत्। ब्रह्मविलक्षणप्रकृतिकत्व(३)मस्य भवेत्, अतः प्रधानं जगत्कारणमस्तु।

---

(१) आदिना महिषशृङ्गादिपिकोत्पत्तिः। मक्षिकोत्सर्गात्कीटविनाश्यस्योत्पत्तिः ॥

(२) सदृशयोः कार्यकारणभावो हि युक्त इति भावः।

(३) विलक्षणयोः कार्यकारणभावो न युक्त इति भावः।

निरस्तत्वात्तन्नाङ्गीक्रियते इति चेत् । तदा "एकमेवाद्वितीयमब्रह्म, एको ह वै नारायण आसीत्, विष्णुस्तदासीद्धरिरेव निष्कलः," इत्येकतत्त्वश्रवणादन्याभावाद(१)सत्स्यात् इति चेन्न । कुतः ? "प्रतिषेधमात्रत्वात्" । "दृश्यते तु" इत्यत्र उपादानादुपादेयवैलक्षण्यकथनद्वारा पराभिमतस्योपादानोपादेययोः सर्वथा सादृश्यनियमस्य प्रतिषेधमात्रं क्रियते, न तु सर्वथा तद्वैलक्षण्यं (२)साध्यते । अतो ब्रह्मात्मकत्वात्कारणावस्थायामपि जगत्सद्भावोऽस्त्येव ।(३) "जगदसदि"ति वचनञ्च प्रतिषेधमात्रमर्थशून्यं तस्य भावस्तत्त्वं तस्माच्च "सदेव सौम्य ! इदमग्र आसीदि"ति श्रुतेः ॥ ७ ॥

(वे०पा०सौ०) आक्षेपः—

सू० अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ २ । १ । ८ ॥

प्रलयसमये कार्य्यवत्कारणस्याप्यचेतनत्वादिप्राप्तिप्रसङ्गाज्जगदुपादानं ब्रह्मेत्यसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

(वे०कौ०) पुनरप्याक्षेपः ।

ननु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, अपहतपाप्मा, विजरो विमृत्युः, यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादिश्रुतिनिर्णीतं चेतनत्वानन्तत्वापहतपाप्मत्वादिधर्म्मकं ब्रह्म जगदुपादानमित्यभ्युपगम्यते यत्तदसमञ्जसम् । कस्मात् ? "अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गात्" । अपीतौ प्रलये तद्वत् उपादेयवदुपादानस्यापि अचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्धत्वादिप्राप्तिप्रसङ्गात् । प्रलयवेलायां अचेतनत्वादिमज्जगत्सू-

---

(१) पूर्वं जगन्नासीदिति भावः ।

(२) सृष्टेः प्राक् सूक्ष्मरूपेण कारणाविलक्षणमासीत् स्थूलरूपेण कार्यावस्थायां दृश्यते इति भावः ।

(३) हेतुं प्रकारान्तरेण विवृणोति जगदित्यादिना ।

ष्टिप्रतिलोमक्रमेणोपादाने चेतनत्वादिगुणके ब्रह्मणि लीयमानं तक्रं दुग्धे पतितं दुग्धमिव स्वधर्मैर्ब्रह्म दूषयेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

(वे०पा०सौ०) समाधानम्—

सू० न तु दृष्टान्तभावात् ॥ २ । १ । ९ ॥

तद्वत्प्रसङ्गो नैवाऽस्ति । यथा पृथिवीविकारस्तस्यां विलीयमानस्तां न दूषयति, तथा ब्रह्मविकारः संसारः ॥ ९ ॥

(वे०कौ०) परिहरति ।

तद्वत्प्रसङ्गो न तु नास्त्येव, यतोऽसमञ्जसं भवेत् । कुतः ? "दृष्टान्तभावात्" । विकारः उपादाने लीयमानः स्वधर्मैरुपादानं न दूषयतीत्यस्मिन्नर्थे दृष्टान्तानां सत्त्वात् । यथा कटककुण्डलादयो विकारा अपीतिं गच्छन्तः स्वधर्मैः सुवर्णपिण्डं न दूषयन्ति, यथा च पृथिवीविकाराः पृथिव्यां लीयमानाः स्वधर्मैः पृथिवीं न दूषयन्ति, तथा चेतनाचेतनात्मकमिदञ्जगत् चिदचिच्छक्तिमति ब्रह्मणि लीयमानं चिदचिच्छक्तिमद्ब्रह्म नैव दूषयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

सू० स्वपक्षे दोषाच्च ॥ २ । १ । १० ॥

(वे०पा०सौ०) वेदविरुद्धवादी साङ्ख्यो वक्तुमक्षमस्तत्पक्षेऽप्युक्तदोषयोगात् ॥ १० ॥

(वे०कौ०) अस्मदीये वेदैकमूले पक्षेऽसामञ्जस्यमितोऽपि साङ्ख्यो वक्तुं न क्षम इत्याह ।

न श्रुतिमूलस्यास्मत्पक्षस्यासामञ्जस्यम् , वेदान्तसिद्धान्तानभिज्ञेन साङ्ख्येन कार्यकारणयोर्विलक्षणत्वादुपादानोपादेयभावानुपपत्तिरुक्ता, सूत्रैः पूर्वं कार्य्यस्यासत्त्वप्रसङ्ग उक्तः, प्रलयवेलायां तद्वत्प्रसङ्गश्चोक्तः, एतेषां साङ्ख्यपक्षेऽपि तुल्यत्वात् । नीरूपान्निरवयवात्प्रधानात् रूपादिमतः सावयवस्य कार्यस्यो-

त्यन्त्यभ्युपगमात्　कार्यकारणयोर्विलक्षणत्वादुपादानोपादेयभावानुपपत्तिः । सृष्टेः प्राक् स्थूलपदार्थाभावात्कार्यस्य तदानीमसत्त्वप्रसङ्गः । अपीतौ प्रकृतेर्जगद्वत्स्थूलत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ १० ॥

सू० तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ॥ २ । १ । ११ ॥

(वे०पा०सौ०) तर्कानवस्थानाच्चोक्तसिद्धान्तस्य नासामञ्जस्यम्, इदन्तर्केण वेदविरुद्धे प्राधानिके जगत्कारणेऽनुमिते तु तादृशेन तर्केण सप्रतिपक्षसम्भवात् । एवमेव तार्किकविप्रतिपत्त्याऽनिर्मोक्षप्रसङ्गाद्वेदोक्तस्यैवोपादेयत्वमिति सिद्धम् ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) चार्थेऽपिशब्दः । उक्तसिद्धान्तस्य श्रुतिमूलस्य नासामञ्जस्यम्, तर्कमूलस्य साङ्ख्यसिद्धान्तस्यैवासामञ्जस्यम्, उक्तदोषयोगात्, "तर्काप्रतिष्ठानाच्च" तर्कानवस्थानाच्च । एकेन तर्ककुशलेनानुमितोऽर्थोऽन्येन प्रतिषिध्यतेऽन्येनान्यथा नीयत इति तर्कस्यानवस्थानादित्यर्थः । उपक्रमोपसंहारादिभिर्वेदान्तोक्तोऽर्थस्तु तर्कशतैरपि न निराकर्तुं शक्यः । ननु विलक्षणत्वादितर्कस्याप्रतिष्ठितत्वाद्धेयत्वेऽपि यथाऽनवस्था न स्यात्तेन प्रकारेणाकाशादेः कार्यस्याचेतनस्योपादानमचेतनमेवानुमातुं योग्यं भवतीति चेत् । एवमपि तर्कप्राधान्यापत्त्या वेदोक्तसिद्धान्तेऽप्राधान्यं गते सति कपिलकणादादीनां परस्परविरोधनानिर्मोक्षप्रसङ्गः स्यात् । न च तन्मध्येऽप्यन्यतमस्य कदाचिज्जये सति नानिर्मोक्षप्रसङ्ग इति वाच्यम् । पुरुषाणां मध्ये एकतमस्य नियतजयित्वासम्भवात् । ननु तादृक् परमात्माऽस्तीति चेदस्माकं पथि प्रविष्टोऽसि, वेदविरुद्धतर्कं परित्यज्य सुखीभव । इत्येवं सर्ववेदैकवेद्ये श्रीवासुदेवे जगदुपादाने सिद्धे न वेदबाह्यतर्कविरोध इति सिद्धम् ॥ ११ ॥ इति विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥३॥

सू० एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ २ । १ । १२ ॥

(वे०पा०सौ०) एतेन साङ्ख्यपक्षनिरासेन परिशिष्टाः वेदविरुद्धकारणवादिनोऽन्येऽपि प्रत्युक्ताः ॥ ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) इदानीं परपक्षनिराकरणप्रकारं परिशिष्टेषु पक्षेष्वतिदिशति ।

एतेन प्रधानजगत्कारणवादनिराकरणप्रकारेण शिष्टापरिग्रहा व्याख्याता निरस्ता वेदितव्याः । शिष्टाः परिशिष्टाः कपिलपतञ्जलिभ्यामन्ये न विद्यते वेदस्य परिग्रहो येष्वित्यपरिग्रहाः ते च ते च तथा । तेषां पक्षेणापि तर्कमूलेन ब्रह्मकारणवादो न विरुध्यते इति सिद्धम् ॥ १२ ॥ इति शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥४॥

सू० भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ २ । १ । १३ ॥

(वे०पा०सौ०) ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे जीवरूपेण ब्रह्मण एव सुखदुःखभोक्तृत्वापत्तेर्वेदप्रसिद्धो भोक्तृनियन्तृविभागो न स्यादिति चेत् । अविभागेऽपि समुद्रतरङ्गयोरिव सूर्यतत्प्रभयोरिव तयोर्विभागः स्यात् ॥ १३ ॥

(वे०कौ०) पुनरिदानीं विरोधमाशङ्क्य, निराकरोति ।

ब्रह्मणोहि समानातिशयशून्यस्य जगदुपादानत्वे भोक्तृभोग्ययोरविभागः स्यात् । कुतः ? "भोक्त्रापत्तेः" । सर्वस्य कार्यमात्रस्य कारणानन्यत्वेन भोक्तुर्जीवस्य भोग्यात्मकत्वापत्तेः, भोग्यस्य च शरीरेन्द्रियविषयलक्षणस्य भोक्त्रापत्तेः । लोकवेदप्रसिद्धो भोक्तृभोग्यविभागो ब्रह्मकारणवादे न घटेतेत्यर्थः । किञ्च भोक्तृनियन्तृविभागोऽपि न स्यात्, भोक्तृवर्गस्य नियन्त्रनन्यत्वेन भोक्तृनियन्तृत्वापत्तेः, नियन्तुः परमात्मनो भोक्त्रापत्तेः । लोके तावत् "जीवो भोक्ता देहादिकं भोग्यमि"ति भोक्तृभोग्यविभागः प्रसिद्धः, "पिप्पलं स्वाद्वत्ती"तिवेदे च । एवं भोक्तृनियन्तृविभागोऽपि लोकप्रसिद्धः । भगवदधीनं मम

सुखं दुःखञ्चे"ति शिष्टाचारात् । वेदे च "एष एव साधु कर्म कारयति, अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावादि"त्यादौ प्रसिद्धः । एवं खलु भोक्त्रापत्तेरविभागस्तस्माद्ब्रह्मकारणवादो न युक्त इति चेदित्यत्र सिद्धान्तमाह "स्याल्लोकवदि"ति । अस्मन्मतेऽपि भोक्तृभोग्ययोर्भोक्तृनियन्त्रोश्च विभागः लोकवत्स्यादेव । यथा लोके मृत्पिण्डोपादानकानां घटशरावादीनां, सुवर्णोपादानकानां कटककुण्डलादीनां, समुद्रोपादानकानां फेनतरङ्गादीनां वृक्षोपादानकानां फलपत्रादीनाञ्च कारणानन्यत्वेऽपि परस्परं विभागोऽस्ति, तथा ब्रह्मोपादानकत्वेन तदनन्ययोरपि भोक्तृभोग्ययोः परस्परं विभागः स्यात् । एवं भोक्तृनियन्त्रोरपि अविभागेऽपि विभागः स्यात् । यथा मृदोऽभिन्ना अपि स्वभावतः घटशरावादयः मृद्व्यतिरिक्तस्थितिप्रवृत्त्यभावात् मृदः सकाशाद्भिन्ना अपि स्वभावतः एव, स्वासाधारणधर्मवत्त्वात् । एवं सुवर्णकुण्डलादौ बोध्यम् । तथा ब्रह्मजीवयोरपि स्वाभाविको भेदाभेदसम्बन्धः । अत्र नैवासामञ्जस्यम् । तस्माद्ब्रह्मकारणवादे नोक्तविरोध इति सिद्धम् ॥ १३ ॥ इति भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू० तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ २ । १ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) कार्य्यस्य कारणानन्यत्वमस्ति,नत्वत्यन्तभिन्नत्वम् । कुतः ? "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, तत्त्वमसि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादिभ्यः ॥ १४ ॥

(वे०कौ०) प्रथमाध्याये चिदचिद्भिन्नत्वेन ब्रह्म बहुशो वर्णितं स्वासाधारणपदार्थस्वरूपविवेकार्थम् । इह तु कारणाद्ब्रह्मणः कार्य्यस्य जगतः पृथक्स्थितिप्रवृत्त्याद्यभावादनन्यत्वम् "असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वादि"त्यादौ प्रतिपादितम् । अथेदानीमुक्तसिद्धान्तं द्रढयितुं "कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं नास्ति,

कार्यंश्चोत्पद्यते" इति वैशेषिका आहुस्तन्मतं निराकरोति ।

तयोः कार्य्यकारणयोरनन्यत्वं, तस्य कार्य्यस्य जगतः कारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमिति वा, तस्मात्कारणाद्वा कार्य्यस्यानन्यत्वमिति विग्रहः । तस्मात्परमकारणाच्चिदचिच्छक्तिमतोऽपरिच्छिन्नादेकाद्वितीयादिशब्दार्थात्कारणावस्थया कार्यावस्थया च स्वेच्छयैव स्थातुं समर्थात्सर्वप्रपञ्चपूर्व्ववर्तिनो ब्रह्मणः सकाशाच्चिदचिद्रूपस्य परिच्छिन्नस्यानेकनामरूपस्य परतन्त्रस्य कार्य्यस्यानन्यत्वमित्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह "आरम्भणशब्दादिभ्यः" इति । आरम्भणशब्दः आदिर्येषां वाक्यानां तान्यारम्भणशब्दादीनि वाक्यानि तेभ्यः, "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं, सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय, तत्तेजोऽसृजत, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा तत्त्वमसि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति, तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्, तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इत्यादिभ्यः । एवंजातीयकान्यन्यान्यपि बहूनि वाक्यानि कारणभूताद्ब्रह्मणः कार्य्यभूतस्य जगतोऽनन्यत्वं प्रतिपादयन्ति, विस्तरभयान्नोदाहृतानि । तत्रारम्भणशब्दस्यायमर्थः । छान्दोगाः "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमि"त्येकोपादानकारणविज्ञानेन सर्वकार्य्यविज्ञानं प्रतिज्ञाय, तत्सिद्ध्यै दृष्टान्तमाहुः "यथा सौम्य ! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति । यथैकेन मृत्पिण्डेन मृद्द्रव्यतया विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं मृद्विकारजातं मृदात्मकतया विज्ञातं स्यात् । यतो हि तथाभूतं कार्यजातं वाचा वागिन्द्रियेणारभ्यते व्यवह्रियते इति वाचारम्भणं, तद्द्विविधं विकारोऽर्थः नामधेयं शब्दश्च, तदेतदुभयमालम्ब्य वाग्व्यापारः प्रवर्त्तते

घटेनोदकमाहरेति,अतः पृथुबुध्नोदरत्वादिलक्षणः घटादिनामको जलहरणादिव्यवहारसाधको विकारो मृत्तिकैवेति सत्यम्, कारणभिन्नं कार्य्यं व्यक्तिबुद्ध्यादिभेदादिति मतमसत्यमित्यर्थः। नहि मृद्भिन्ने वातादौ घटव्यक्तिबुद्ध्यादिकल्पना शक्या कर्त्तुम्। यद्यसदेव कार्यमुत्पद्यते, तर्हि सर्वत्र सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गः, कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसङ्गश्च स्यादित्यलं विस्तरेण ॥ १४ ॥

सू० भावे चोपलब्धेः ॥ २ । १ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) तदनन्यत्वं कारणसद्भावे कार्योपलब्धेः ॥ १५ ॥

(वे०कौ०) इतोऽपि कारणान्यत्वं कार्य्यस्येत्याह।

कार्य्यस्य कारणादनन्यत्वं कुतोऽवगम्यते? कारणसद्भावे च सति कार्य्यस्योपलब्धेः, "सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजा" इत्यादिश्रुतेः ॥ १५ ॥

सू० सत्त्वाच्चावरस्य ॥ २ । १ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) "ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि"ति सामानाधिकरण्यनिर्देशेनावरकालीनस्य कार्यस्य कारणे सत्त्वात्तदनन्यत्वम् ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) इतोऽपि तदनन्यत्वमित्याह।

"सदेव सौम्येदमग्र आसीदि"ति "ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि"ति सामानाधिकरण्यनिर्देशादवरस्य कार्य्यस्येदम्पदवाच्यस्य कारणे सत्त्वात्तदनन्यत्वं निश्चीयते ॥ १६ ॥

सू० असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्म्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ २ । १ । १७ ॥

(वे०पा०सौ०) "असद्वा इदमग्र आसीदि"त्यसद्व्यपदेशात्कार्य्यस्य सृष्टेः प्राक् न सत्त्वमिति चेन्न। सूक्ष्मत्वेन तादृग्व्यपदेशोऽस्ति। कुतोऽवगम्यते? "तत्सदासीदि"ति वाक्यशेषात्। यद्यसदेव कार्यमुत्पद्यते,

तर्हि वन्हेर्यवाद्यङ्कुरोत्पत्तिः कुतो नास्तीति युक्तेः, "सदेव सौम्येदमग्र आसीदि"ति शब्दान्तराच्च ॥ १७ ॥

(वे०कौ०) ननु सत्कार्य्यवादो न युक्ततरः, कुतः ? "असद्वा इदमग्र आसीदि"त्यादिनोत्पत्तेः प्रागसत्त्वव्यपदेशादिति चेन्न । कुतः ? धर्म्मान्तरेण तादृशव्यपदेशात् । अभिव्यक्तनामरूपत्वलक्षणाद्धर्मादनभिव्यक्तनामरूपत्वलक्षणं धर्म्मान्तरम्, तेन धर्म्मान्तरेण "असद्वा इदमग्र आसीदि"ति जगद्व्यपदिश्यते, नासत्स्वरूपतोऽभिधीयते । नन्वेवं कुतोऽवगम्यते ? इत्यत्रोच्यते वाक्यशेषादिति । वाक्यशेषे हि "तत्सदासीदि"तितत्पदेन प्रकृतपरामर्शोऽस्ति, तत उपक्रमगतोऽसच्छब्दोऽनभिव्यक्तनामरूपभूतसूक्ष्मवस्तुवाचक इति गम्यते । कार्य्यस्य सत्त्वे हेत्वन्तरमाह युक्तेरिति । युक्तेरपि कार्य्यस्य सत्त्वं निश्चीयते इत्यर्थः । का सा युक्तिर्यया सत्त्वं निश्चीयते कार्यस्य? इत्यत्रोच्यते अस्मत्पक्षे सर्वं नामरूपं प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्यं सत्यमेवोपलब्धेः । सद्रूपत्वान्मृत्पिण्डात्कर्त्रा घटः सम्पाद्यते, तत्र मृत्पिण्डस्येव घटस्यापि सत्त्वं प्रत्यक्षतोऽवगम्यते । अतः कारकव्यापारोऽपि सार्थको भवति । ननु मृत्पिण्डवद्घटस्य सत्त्वात्कारकव्यापारोऽनर्थक इति चेन्न । तस्याभिव्यक्त्यर्थत्वात् । प्रागनभिव्यक्तोऽपि घटोऽभिव्यक्तः क्रियतेऽतो न कारकव्यापारोऽनर्थकः । वेदोक्तानि नामरूपाणि यथापूर्वाणि व्यवह्रियन्ते, नास्मत्पक्षे नामरूपव्यवहारोऽभूतपूर्व इति बोध्यम् । असत्कार्य्योत्पत्तिस्तु न सङ्गच्छते, अग्नेः सकाशाद्यवाङ्कुरोत्पत्त्यदर्शनात् । न च तत्र तादृशकार्यजनने शक्तिर्नास्ति विस्फुलिङ्गोत्पादनशक्तिरस्तीति वाच्यम् । परिज्ञातपरिमाणात्सुवर्णादेरुत्पन्ने कार्येऽधिकस्य परिमाणान्तरस्या(१)नु-

(१) असत्कार्योत्पत्तिवादिपक्षे तु सुवर्णपरिमाणात्कुण्डलादिपरिमाणस्य पार्थक्यापत्तिः स्यादिति भावः ।

पलब्धेः। तथा अग्निविकारभूतास्तत्कणाः(१) प्रत्यक्षप्रमाणगम्याः सर्वैरुपलभ्यन्ते, कपोलकल्पिताभूतपूर्ववस्तूत्पादकशक्तिवादे प्रमाणाभावात्। तस्मादसत्कार्यवादोऽयुक्तः। कारकव्यापारोऽपि तन्मतेऽनर्थकः। घटाथमृत्खननमर्दनारोपणादिकारकव्यापारस्योपादानविषयत्वात्। उपादानाभावे किमाश्रित्य कर्त्ता तथा कुर्यात्, कार्यस्य घटादेस्तदानीमनुत्पन्नत्वात्। विनाऽपि मृत्पिण्डं व्यापारमात्रेण घटोत्पत्तिप्रसङ्गाच्चेति सुधीभिश्चिन्त्यम्। अत्र बहुविधो विवादो मुमुक्षुपरिश्रमभयान्नोद्भाव्यते। प्रकृते तु जगत्कारणस्य ब्रह्मणोऽनन्तशक्तिमत्त्वात्सर्वमनवद्यम्। पुनः कार्यस्य सत्यत्वे हेत्वन्तरमाह "शब्दान्तराच्चे"ति। पूर्वोदाहृतात् "असद्वा इदमग्र आसीदि"त्यस्माच्छब्दादन्यः सुष्ठु सत्कार्यबोधकः शब्दः शब्दान्तरः "सदेव सोम्येदमग्र आसीदि"ति, तस्मादपि सदेव कार्यमुत्पद्यते इत्यर्थः॥ १७॥

सू० पटवच्च॥ २। १। १८॥

(वे०पा०सौ०) यथा च पूर्वं संवेष्टितः पश्चात्प्रसारितः पटस्तद्वद्विश्वम्॥ १८॥

(वे०कौ०) यथा च संवेष्टितः पटः पटत्वेनागृह्यमाणोऽपि नासद्भवति, किन्तु प्रकारान्तरेण स्थितः सदेव भवति, पुनः प्रसारितस्तु पटत्वेन गृह्यते। एवं खलु सृष्टेः प्रागनभिव्यक्तनामरूपत्वाद्विश्वत्वेनागृह्यमाणमपि विश्वं सदेव भवति। सृष्टिवेलायामभिव्यक्तनामरूपत्वात्स्पष्टमिदं विश्वं गृह्यते इत्यर्थः। यथा च कूर्माङ्गानि सङ्कुचितानि सद्रूपाण्यपि न दृश्यन्ते, एतावता नासद्रूपाणि भवन्ति, पुनः प्रसार्यमाणानि गृह्यन्ते। यथा च बीजे सूक्ष्मरूपेण सदैव स्थितो न्यग्रोधः स्थूलत्वेनाविर्भवति,

(१) नहि काचिच्छक्तिरग्निभिन्नान्कणानुत्पादयतीति भावः।

एवमिदञ्जगत्सदेव जायते, "प्रसार्य च यथाऽङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः । एवम्भूतानि भूतात्मा सृष्ट्वा संहरते पुनः॥" इति महाभारतात् । "न्यग्रोधः सुमहानल्पे यथा बीजे व्यवस्थितः । संयमे विश्वमखिलं बीजभूते तथा त्वयी"ति विष्णुपुराणात् ॥१८॥

सू० यथा च प्राणादिः ॥ २ । १ । १९ ॥

(वे०पा०सौ०) यथा च प्राणापानादिवायुः प्राणायामादिना निरुद्धः स्वरूपेणावतिष्ठते, विगतनिरोधश्चाञ्जसा तत्तद्रूपेणावगृह्यते तथेदमपि १९.

(वे० कौ०) यथा च खलु प्राणायामादिना निरुद्धो हि प्राणापानादिवृत्तिर्वायुः प्राणायामादिविशेषरूपेणागृह्यमाणोऽपि सदेव भवति, ततो मुक्तायामश्च तत्तद्विशेषरूपेण स्पष्टतया गृह्यते, तद्वत्सृष्टेः प्रागनभिव्यक्तनामरूपं कार्यं तत्तन्नामरूपाभ्यां न गृह्यते इत्यर्थः । तस्माद्ब्रह्मोपादानकत्वाद्ब्रह्मवत्सत्यं, ब्रह्मभिन्नत्वेऽपि ब्रह्माभिन्नं जगदिति सिद्धम् ॥ १९ ॥ इत्यारम्भाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(वे०पा०सौ०) आक्षेपः—

सू० इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः॥ २ । १ । २० ॥

ब्रह्मकारणवादे "अयमात्मा ब्रह्मे"ति जीवस्य ब्रह्मत्वनिरूपणात्सर्वक्लेशालयजगज्जननेनात्मनो हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २० ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र कार्य्यकारणयोरत्यन्तभेदो निराकृतः । इदानीं चेतनाचेतनयोरत्यन्ताभेदशङ्काभावाद्विशेषतो ब्रह्मजीवयोरत्यन्ताभेदमाशङ्क्य निराकरोति ।

ननु ब्रह्मणो जगत्स्रष्टृत्वे त्रिविधतापभूमिजगदुत्पादनेनात्मनो हिताकरणदोषप्रसक्तिः स्यात् । आदिशब्देनाहितकरणादिदोषप्रसक्तिर्गृह्यते । कुतः ? "इतरव्यपदेशात्" । इतरस्य जीव-

स्य "तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्म" इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मत्वव्यपदेशात्। शुभाशुभकर्मकृद्दुःखत्रयभोक्ता संसारी ब्रह्मेतरो नास्त्यत उक्तदोषप्रसङ्गोऽसंसारिणि ब्रह्मणि स्यादित्यर्थः ॥ २० ॥

(वे०पा०सौ०) तत्परिहारः—

सू० अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २ । १ । २१ ॥

सुखदुःखभोक्तुः शारीरादधिकमुत्कृष्टं ब्रह्म जगत्कर्तृ ब्रूमः। "आत्मानमन्तरो यमयती" ति भेदव्यपदेशाच्च तयोरत्यन्ताभेदोऽस्ति, यतो हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः स्यात् ॥ २१ ॥

(वे०कौ०) इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह।

तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति। यतः शारीरात्सर्वज्ञं सर्वशक्ति सर्वेश्वरं समानातिशयशून्यं जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणमधिकमुत्कृष्टं ब्रह्म ब्रूमः, अतो हितकरणादिदोषप्रसक्तिर्नास्ति। अधिकत्वे हेतुः "भेदनिर्देशादिति।" "आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः, ब्रह्मविदाप्नोति परं, य आत्मानमन्तरो यमयती" ति ब्रह्मजीवयोर्भेदनिर्देशात्। अयमर्थः। यथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यत्राचिद्वर्गस्य स्वरूपेण ब्रह्माभिन्नत्वासम्भवात्तज्जत्वादिना ब्रह्माभिन्नत्वमङ्गीक्रियते, तथा शारीरस्योक्तभेदश्रुतिप्रामाण्यात् स्वरूपतो ब्रह्माभिन्नत्वासम्भवाद्ब्रह्मनिरपेक्षस्थितिप्रवृत्त्यभावाद्ब्रह्माभिन्नत्वं "तत्त्वमस्या" दिवाक्यैरभिधीयते, न तु स्वरूपतः। एवमभेदेऽपि भेदव्यपदेशान्नेह हिताकरणादिदोषप्रसक्तिरिति ॥ २१ ॥

सू० अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः । २ । १ । २२ ॥

(वे०पा०सौ०) भूविकारवज्रवैदूर्यादिवद्ब्रह्माभिन्नोऽपि क्षेत्रज्ञः स्वस्वरूपतो भिन्न एवातः परोक्तस्यानुपपत्तिः ॥ २२ ॥

(वे०कौ०) अपि च यथा खलु लोके भूमिविकाराणामश्मनां वज्रवैदूर्यपद्मरागादीनां भूम्यात्मकत्वेन भूमित्वाविशेषेऽपि

स्वरूपेण भिन्नत्वमेवास्ति। आदिशब्देन द्रुमादिविकाराणां पत्रादीनां ग्रहणं, यथा पत्रस्य द्रुमाभिन्नत्वेऽपि न द्रुमत्वम्, यद्वादिशब्देन वज्रादिप्रभा गृह्यते, सा हि वज्राद्यभिन्नाऽपि भिन्ना दृश्यते। अतस्तस्याः प्रभावतो यथाऽभिन्नत्वेऽपि भिन्नत्वं तथा शारीरस्य ब्रह्मात्मकत्वेन ब्रह्माऽभिन्नत्वेऽपि स्वरूपेण तद्भिन्नत्वं युज्यते, तत्तस्माज्जीवपरब्रह्मभेदेन संसार्य्यसंसारिव्यवस्थासिद्धौ विरोधाभावादनुपपत्तिः न परोक्तहिताकरणादिदोषप्रसक्तेरुपपत्तिरित्यविरोधसिद्धिः ॥ २२ ॥ इतीतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥ ७ ॥

सू० उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न, क्षीरवद्धि ॥ २ । १ । २३ ॥

(वे०पा०सौ०) कुम्भकारादीनामनेकोपकरणोपसंहारदर्शनाद्बाह्योपकरणरहितं ब्रह्म न जगत्कारणमिति चेन्न। यतः क्षीरवत्कार्य्याकारेण ब्रह्म परिणमते स्वासाधारणशक्तिमत्त्वात् ॥ २३ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र चिदचिच्छक्तेः सर्वात्मनः समानातिशयशून्यस्य सर्वेश्वरस्य जगत्कर्तृत्वे हिताकरणादिदोषप्रसक्तिर्निराकृता, जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वात्तदभिन्नस्याप्यनादिकर्मवशगस्य स्वरूपतो भिन्नत्वेन संसारार्हत्वादिदानीं ब्रह्मणो न जगत्कर्तृत्वं बाह्यकारककलापाभावादित्याक्षिप्य समाधत्ते।

पूर्वसूत्रादादिशब्दोऽनुवर्तते। हिशब्दो हेतुवचनः। ननु लोके घटादिकार्यजनने मृद्दण्डादिबाह्योपकरणोपादान(१)दर्शनान्न ब्रह्म जगत्कर्तृ तस्यासहायत्वात्, कुतोऽवगम्यते इति चेत्, उच्यते "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, एको ह वै नारायण आसीद्विष्णुस्तदासीद्धरिरेव केवलः।" इत्यग्रे कारकप्रकारासम्भवबोधकवाक्येभ्यो ब्रह्मणोऽसहायत्वं निश्चीयते इति चेन्न। कुतः? हि यस्मात् क्षीरादिवत् ब्रह्मास्ति। यथा खलु

(१) उपानयनदर्शनात्।

लोके क्षीरनीरादि दधिहिमादिरूपकार्य्यात्मना परिणमते, तत्र बाह्योपकरणाभावोऽस्ति, तथा चिदचिच्छक्तिमद्ब्रह्म जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणं स्वासामर्थ्याद्भवितुमर्हति । न तस्य जगज्जनने कारककलापापेक्षा "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादि श्रुतेः, (१) आतञ्चनं तु रसविशेषार्थम्, न दधिभावसम्पादकं, तदभावेऽपि दधिभावदर्शनात्, तत्सद्भावेऽपि जलादेर्दधिभावादर्शनाच्च । कुलालादेर्निमितमात्रत्वान्मृदाद्यपेक्षा जायतेऽसामर्थ्याद्दण्डचक्राद्यपेक्षा घटादिजनने जायते । वेदोक्तेऽर्थे नित्यनिष्पन्नेऽप्यधिकारिसंशयनिरासाय प्रतिवादिमुखपिधानाय निःसंशयतया वेदार्थबोधाय च पुनः पुनराक्षेपः क्रियते २३

सू० देवादिवदपि लोके ॥ २ । १ । २४ ॥

(वे०पा०सौ०) यथा देवादयः सङ्कल्पमात्रेण स्वापेक्षितं सृजन्ति, तथा भगवानपि ॥ २४ ॥

(वे०कौ०) ननु क्षीराद्यचेतनं, ब्रह्म च चेतनमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोर्विषमत्वमस्तीत्यत्राह ।

अपिशब्दश्चेतनसादृश्यं सम्भावयति, न केवलं खलु जडसादृश्यं, चेतनैः शास्त्रावगतशक्तिभिरपि सादृश्यमस्ति । यथा लोके देवलोकादौ सर्वार्थावलोकनहेतौ शास्त्रे वा प्रसिद्धप्रभावाः देवाः पितरः ऋषयो नागाद्या बाह्यसाधनमनपेक्ष्य सङ्कल्पमात्रेण स्वापेक्षितानि वस्तूनि यथाकालं यथोपयोगं सृजन्ति, तन्तुनाभश्च स्वयमेव प्रवर्त्तते, तथा सर्वलोकवेदप्रथितप्रभावः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सत्यसङ्कल्पः श्रीपुरुषोत्तमः सर्वकर्मजातं सङ्कल्पमात्रेण करोति, न कश्चित्प्रसिद्धोपकरणदर्शननिबन्धनो विरोध इति सिद्धम् ॥ २४ ॥ इति उपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥ ८ ॥

---

(१) जामण इति लोके ।

(वे०पा०सौ०) आक्षिपति—

सू० कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा॥ २। १। २५॥

ब्रह्मणो जगत्प्रकृतित्वे तन्निरवयवत्वाङ्गीकारे कृत्स्नप्रसक्तिः, सावयवत्वे निरवयवत्ववादिशास्त्रं विरुध्येत ॥२५॥

(वे०कौ०) ननु यदि बाह्योपकरणमनपेक्ष्यैव जगदाकारेण ब्रह्म परिणमते, तर्हि स्वगतशक्त्यपेक्षाऽपि माऽस्तु ? स्वरूपमात्रस्य तु विकल्पासहत्वादुपादानत्वानुपपत्त्या प्रधानमेवोपादानं भवत्वितीदानीमाक्षिप्य, बाह्योपकरणस्यानुपादेयत्वं निर्मूलत्वात्सापेक्षजगत्कर्तृत्वापादकत्वाच्च स्वशक्तीनां स्वानन्यानां शब्दमूलकत्वादुपादेयत्वमिति समाधत्ते ।

ननु "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीदि"त्यादिश्रुतिवेद्यं जगत्कारणं ब्रह्म किं निरवयम् उत सावयवम् कार्याकारेण परिणमते । निरवयवमिति चेत्। तर्हि क्षीरवत्कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्य्यत्वप्रसक्तिर्भवेत्, कार्यभिन्नं संसारातीतं मुक्तगम्यं ब्रह्म नावशिष्येत्, दुर्ज्ञेयत्वादिविषयकशास्त्रव्याकोपप्रसङ्गः, सर्वमोक्षप्रसङ्गश्च भवेत्, जडत्वादिधर्म्मकं ब्रह्मापद्येत । तस्य सावयवत्वाङ्गीकारे तु कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषाः न भवन्ति, किन्तु "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" इत्यादिजगत्कारणस्य ब्रह्मणो निरवयवत्वविषयकः शब्दो विरुध्येत,तस्मात्प्रधानमेव जगदुपादानकारणम्भवत्विति पूर्वः पक्षः॥

(वे०पा०सौ०) समाधत्ते—

सू० श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २ । १ । २६ ॥

नोक्तदोषोऽस्ति । "सोऽकामयत बहु स्यां, स्वयमात्मानमकुरुत, सच त्यच्चाभवदेतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः, यथोर्णनाभिः

सृजते, तथा पुरुषाद्भवति विश्वमि"त्यस्यार्थस्य शब्दमूलत्वादन्यन्निर्मूलम् ॥ २६ ॥

(वे०कौ०) सिद्धान्तमाह ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिषेधार्थः । नहि कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवशब्दकोपश्च, कुतः ? "श्रुतेः" जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वजगद्विलक्षणत्वपरिणतशक्तिमत्त्वविषयकश्रुतिकदम्बादित्यर्थः । तथा च श्रुतयः "सोऽकामयत बहु स्यां, स्वयमात्मानमकुरुत, सच्च त्यच्चाभवदि"ति, "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, सेयं देवतैक्षत, हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता, अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य, यः पृथिव्यां तिष्ठन् यं पृथिवी न वेद, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानामेतावानस्य महिमा, ततो ज्यायांश्च पुरुषः" इत्याद्याः । स्मृतिश्च "प्रकृतिं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः । क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययावि"ति । ऊर्णनाभिरिव बाह्यकारकमनपेक्ष्य ब्रह्म जगदाकारेण परिणमते, ततो न निरवयवशब्दकोपोऽपि । तथा च श्रुतिः "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि, यथा पृथिव्या ओषधयः सम्भवन्ति, तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वमि"ति । स्मृतिश्च "प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः । एवं भूतानि भूतात्मा सृष्ट्वा संहरते पुनरि"ति । पटस्य तन्तव इव स्वरूपोपादानभूताः कलाः भागा अवयवा यस्य न सन्ति, तेन निष्कलं निरवयवं चिदचिच्छक्तिमद्ब्रह्म पठन्ति । ननु शक्तिविक्षेपलक्षणपरिणामाङ्गीकारे स्वरूपपरिणामाभावात्साङ्ख्यादिभ्यः को विशेषः इति चेत् । श्रूयताम्–ते हि कुलालान्मृत्पिण्डवत् पुरुषाद्भिन्नमतदात्मकं स्वाधीनस्थितिप्रवृत्त्यादिमद्द्रव्यं जगदुपादानकारणमङ्गीचक्रुः । औपनिषदं ब्रह्म तु एकमेव भोग्यशक्तिं विक्षिप्याकाशाद्यचेतनरूपेण

परिणामयते, भोक्तृशक्तिं चेतनां देवादिरूपेण विक्षिप्य तदन्तर्य्यामितयाऽनुप्रविष्टं सत्तत्कर्मफलं भोजयति, उपसंहरति च प्रलयसमये कूर्मोऽङ्गानीव सूर्यो रश्मीनिव। ननु बाह्यकारकसङ्ग्रहेऽपि प्रकृते विरोधाभावाचन्त्रसिद्धं प्रधानं घटजनने मृद्वत् बाह्योपकरणं जगज्जननानुरूपं भविष्यति किं शक्तिविक्षेपलक्षणेन परिणामेन, इत्यत्र शब्दविरोधो भवतीत्याह "शब्दमूलत्वादि"ति। शक्तिविक्षेपलक्षणः परिणामो गृह्यते शब्दमूलत्वात्। प्रधानाद्युपकरणस्वीकारे निर्मूलतापत्तिः, इतरसापेक्षजगत्कर्तृत्वप्रसङ्गः। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं खल्विदम्ब्रह्म, यद्विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवती"त्यादिश्रुतिव्याकोपश्च भवेदित्यर्थः॥ २६॥

सू॰ आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि॥ २। १। २७॥

(वे॰पा॰सौ॰) देवादिशरीरक्षेत्रज्ञे यदा नानाविकृतयः सङ्गताः सन्ति, तदा सर्वशक्तौ सर्वेश्वरे जगत्कारणे काऽनुपपत्तिः॥ २७॥

(वे॰कौ॰) उक्तार्थं कैमुत्यकन्यायेनोपसंहरति।

सत्यसङ्कल्पस्याचिन्त्यानन्तशक्तेरप्रच्युतस्वभावस्य जगज्जनने कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषा न सन्तीति किमाश्चर्यम्, हि यस्माद्धेतोः आत्मनि च जीवे प्राप्तैश्वर्ये एवं कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषाभावेऽपि आत्मप्रभावानुरूपाः विचित्राः सृष्टयो दृश्यन्ते। द्वितीयश्चशब्दः कैमुत्यद्योतकः। श्रुतिषु तावद्धंसादिसृष्टयो जीवकृताः सुप्रसिद्धाः। देवराजप्रभावसूचकाः स्मृतयः "तांस्तान्विकुरुते भावान्बहूनथ मुहुर्मुहुः। किरीटवज्रभृद्धन्वी भ्रुकुटी बद्धकुण्डलः। भवत्यथ मुहूर्तेन चण्डालसमदर्शनः॥ शिखी जटी चीरवासाः पुनर्भवति पुत्रक!। बृहच्छरीरः सूक्ष्मश्च पीवरोऽथ कृशस्तथा। गौरं श्यामं तथा कृष्णं वर्णं विकुरुते पुनः॥ विरूपो रूपवांश्चैव युवा वृद्धस्तथैव च। प्राज्ञो जडश्च मूर्खश्च ह्रस्वो दीर्घस्तथैव च। प्रतिलो-

मानुलोमश्च भवत्यथ शतक्रतुः । शुकवायसरूपी च हंसकोकिलरूपवान् । सिंहव्याघ्रगजानां च रूपं धारयते पुनः" इत्याद्याः । सूर्यसामर्थ्यपराः स्मृतयश्च "आश्चर्याणामनेकानां प्रतिष्ठा भगवान्रविः । यतो भूताः प्रजायन्ते सर्वे त्रैलोक्यसंमताः" इत्याद्याः । एवमन्येषामपि देवानां सृष्टिसामर्थ्यं शास्त्रादेवावगन्तव्यम् । "अदैवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम् । लोकपालान्सृजेयुश्च लोकानन्यांश्च कोपिताः" इति मुनीनां सामर्थ्यबोधिनी स्मृतिः । "अहो प्रभावो ब्रह्मर्षेश्च्यवनस्य महात्मनः । इच्छन्नेव तपोवीर्याल्लोकानन्यान्सृजेदपी"ति च्यवनप्रभाववादिनी स्मृतिः । वशिष्ठधेनुसामर्थ्यपराः स्मृतयः "ऊर्ध्वाञ्चितशिरोग्रीवा प्रबभौ रौद्रदर्शना । क्रोधरक्तेक्षणा सा गौर्हंभारवघनस्वना । आदित्य इव मध्याह्ने क्रोधदीप्तवपुर्बभौ । अङ्गारवर्षं मुञ्चन्ती मुहुर्वालधितो महत् । असृजत्पल्हवान्पुच्छात्प्रस्रवात् द्राविडाञ्छकान् । योनिदेशाच्च यवनान् शकृतः शबरान्बहून् । मूत्रतश्चासृजत्काञ्चीञ् शबरांश्चैव पार्श्वतः" ... चिबुकांश्च पुलिन्दांश्च चीनान्हूणान्सकेरलान् । ससर्ज फेनतः सा गौर्म्लेच्छान्बहुविधानपी"त्याद्याः । एवमन्यस्मिन्नपि विशिष्टे आत्मनि विचित्राः सृष्टयः सन्ति, विस्तरभयादनुपयोगाच्च नोदाहृताः । विशिष्टजीवेऽपि स्वसामर्थ्यानुरूपं भगवद्दत्तमेव किञ्चित्कार्यकर्तृत्वं, कृत्स्नजगत्कर्तृत्वं मुक्तजीवस्यापि नास्तीति जगद्व्यापारवर्जमित्यत्र स्फुटीभविष्यति ॥ २७ ॥

सू० स्वपक्षे दोषाच्च ॥ २ । १ । २८ ॥

[वे०पा०सौ०] अस्मत्पक्षास्तिष्ठतु, स्वपक्षेऽपि भवदुक्तदोषपातान्मूकीभावो युक्तः ॥ २८ ॥

[वे०कौ० चकारो वेदान्तविरुद्धवादनिराकरणार्थः। वेदान्तप्रतिकूलवादिनो हि साङ्ख्यादयो जगत्कारणनिर्णयं वक्तुं नार्हाः ।

कुतः ? "स्वपक्षे दोषात्" । तत्र साङ्ख्यास्त्रिगुणं निरवयवं प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते इत्यङ्गीचक्रुः । एवं सति कृत्स्नप्रसक्त्यादयो दोषास्तत्रापि भवेयुः । निरवयवस्य परिणामित्वासम्भवात् कारणत्वञ्च न सम्भवति, अन्यथा पुरुषस्यापि परिणामित्वापत्तेः । ननु सत्त्वरजस्तमांसि अवयवा वर्त्तन्तेऽतो नोक्तदोषप्रसङ्गः इति चेत् । तदा पटस्येव प्रधानस्य कार्य्यत्वमवयवभूतानां तन्तूनामिव सत्त्वादीनां कारणत्वं भवतां मते भवेत् । ननु च तन्तुभिः पटवदपूर्वसंस्थानतया सत्त्वाद्यवयवैरारब्धं प्रधानं नाङ्गीक्रियते, किन्तु स्वासाधारणसंस्थानवत्साम्यावस्थापन्नसत्त्वादिसमुदायं प्रधानमित्युच्यते इति चेत् । नैवमपि युक्तम् । तथात्वेऽपि सत्त्वादयः साम्यावस्थापन्नाः प्रधानं विरमाथ जगच्चोत्पादयन्तीति तन्मतेऽङ्गीकार्य्यं स्यात् । किञ्च तेषामपि प्रत्येकं सावयवत्वेऽनवस्थादोषप्रसङ्गः स्यान्निरवयवत्वे तु कार्य्यकारणव्यवस्थाबाधप्रसङ्गः स्यात्, निरवयवानां सत्त्वादीनां समूहस्य कार्य्यत्वे कारणत्वे विशेषाभावात् । एतेन परमाणुकारणवादोऽपि निरस्तो बोध्यः ॥ २८ ॥

सू० सर्वोपेता च सा तद्दर्शनात् ॥ २ । १ । २९ ॥

(वे०पा०सौ०) "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"त्यादिश्रुतेः सा देवता सर्वशक्त्युपेता सर्वं कर्तुं समर्था भवति ॥ २९ ॥

[वे०कौ०] परमपुरुषस्य सर्वशक्तिमत्त्वं दर्शयति ।

साङ्ख्यादिभिरभ्युपगतं विविधविचित्रजगज्जननानुरूपनानाशक्तिहीनं प्रधानादिलक्षणं जगत्कारणमयुक्तमाभाति, प्रकृते तु सानन्यशरणैरुपास्या देवता सर्वोपेता सर्वशक्त्युपेता चातो जगत्कारणं सैव भवितुमर्हति, न प्रधानादि । कुतः ? "तद्दर्शनात्"। तथा सर्वशक्त्युपेतां देवतां दर्शयतीति दर्शनं श्रुतिः, "देवात्म-

शक्तिं स्वगुणैर्निगूढां, परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" इत्यादिश्रुतेः, "शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः । शतशो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ॥ भवन्ति तपतांश्रेष्ठ ! पावकस्य यथोष्णते"त्यादिस्मृतेश्च ॥ २९ ॥

सू० विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ २ । १ । ३० ॥

(वे०पा०सौ०) "न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते" इतिकरणनिषेधात्सर्वशक्त्युपेतस्यापि जगत्कर्तृत्वं न सङ्गच्छते इति चेत् । अत्र वक्तव्यमुत्तरं यत्तत्पूर्वत्रोक्तमेव ॥ ३० ॥

(वे०कौ०) नन्वस्तु सर्वशक्त्युपेतं ब्रह्म, तथापि तस्याधारपात्राद्युपकरणवर्जस्य क्षीरस्येव भूमिजलाद्युपकरणरहितस्य बीजस्येव तत्तद्देशकालोचितोपकरणरहितानां देवादीनामिव शक्तिमत्त्वेऽपि कार्यकर्तृत्वं न सङ्गच्छते "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते"इत्यादिना तस्य विकरणत्वात् विगतकरणत्वावगमादिति चेत् । यदत्र समाधानं वक्तव्यं तच्छब्दमूलत्वादित्यत्रोक्तम् । नित्यसिद्धानन्दैकरसस्यास्य परमात्मनः सर्वेश्वरस्य जगत्कर्तुः क्रियासाध्यानन्दार्थं कार्य्यं, यथेष्टकार्य्यजनने करणञ्च न विद्यते, सङ्कल्पमात्रेणैव नित्यानन्ताचिन्त्यशक्तियोगाद्विविधविचित्रकार्यकर्तृत्वादिति श्रुत्यर्थः । तथा च श्रुतयः "आत्माऽऽनन्दमयः, स्वेनैव पूर्णः रसो वै सः, सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः, अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इत्याद्याः । "न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन । नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणी"ति श्रीमन्मुखोक्तश्च । तस्मात्परपक्षे एव पूर्वोक्ता दोषाः सन्ति, न वेदान्तसिद्धान्ते इति सिद्धम् ॥ ३० ॥ इति कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

सू० न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ २ । १ । ३१ ॥

(वे०पा०सौ०) ननु नित्यावाप्तसमस्तकामः परः कर्ता न, कुतः ? कर्तुः प्रवृत्तेः प्रयोजनवत्त्वादिति ॥ ३१ ॥

(वे०कौ०) ननु स्यादेवं तथापि ब्रह्मणः स्वतो नित्याप्तकामस्य जगज्जनने प्रयोजनाभावाच्च तत्कर्तृकमिदमितीदानीं शङ्कते ।

ननु ब्रह्मणो न जगत्कर्तृत्वं सङ्गच्छते, कुतः ? कर्तुः प्रवृत्तेः प्रयोजनवत्त्वात्तस्य नित्यावाप्तकामत्वात्, जगज्जनने प्रयोजनाभावादिति पूर्वः पक्षः ॥ ३१ ॥

(वे०पा०सौ०) तत्रोच्यते—

सू० लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ २ । १ । ३२ ॥

परस्यैतद्रचनादिलोकप्रसिद्धनृपत्वादिक्रीडामात्रमिव युज्यते ॥३२॥

(वे०कौ०) सिद्धान्तमाह ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । यथा खलु लोके प्राप्तैश्वर्यस्य सार्वभौमस्य फलसङ्कल्पं विनैव विचित्रमक्षकन्दुकादिभिर्विक्रीडनं लीलामात्रं दृश्यते, तथा ब्रह्मणोऽपि लीलाकैवल्यं, केवलं विश्वोत्पादनादिक्रीडामात्रमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

सू० वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥ २ । १ । ३३ ॥

(वे०पा०सौ०) विषमसृष्टिसंहारादिनिमित्तवैषम्यनैर्घृण्ये जीवकर्मसापेक्षत्वात्तज्जन्यस्यैव जगज्जन्मादिकर्तुर्न स्यातां, तथैव दर्शयति "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा, पापः पापेने"ति श्रुतिः ॥ ३३ ॥

(वे०कौ०) ननु ब्रह्म यदि लीलामात्रेण विश्वसृष्ट्यादि करोति तर्हि तस्य वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम्, देवमनुष्यतिर्यगा-

दीन्विषमान्सृजतो वैषम्यं विषमसृष्टिकर्तृत्वं प्रसज्येत, त्रिविधतापालयं विश्वं सृजतस्तत्र तत्र विसक्तान् जीवान्प्रलयवेलायां प्रकृतौ विवेशयतः जरामरणादिदुःखदत्वेन च नैर्घृण्यं निर्दयत्वं प्रसज्येतेति चेन्न । वैषम्यनैर्घृण्ये नैव स्याताम् । कुतः ? "सापेक्षत्वात् ।" ब्रह्मणो हि देवादिरूपविषमजनोत्पादने विश्वसृष्ट्यादौ च पर्जन्यस्य विषमाङ्कुरोत्पादनादौ तत्तद्बीजसापेक्षत्ववत्तत्कर्मसापेक्षत्वात् । नन्वेतदपि कुतोऽवगम्यते? इत्यत्राह दर्शयतीति "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष एवाऽसाधु कर्म कारयति, तं यमधो निनीषते, पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन कर्मणा, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवती"ति भगवती श्रुतिर्दर्शयतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

सू० न कर्माऽविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ २ । १ । ३४ ॥

(वे०पा०सौ०) ननु "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमि"ति सृष्टेः प्रागविभागश्रवणात् कर्मसापेक्षत्वं परस्य न सङ्गच्छते इति चेन्न । कर्मणां पूर्वसृष्टिस्थजीवकृतानामनादित्वाचदानीमपि सत्त्वात्पूर्वसृष्टिरपि अकस्मादुत्तरसृष्ट्यनुपपत्त्योपपद्यते च । "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदि"त्यादावुपलभ्यते चापि ॥ ३४ ॥

(वे०कौ०) ननु सापेक्षत्वादिति हेतुर्न सङ्गच्छते, कुतः ? "कर्माऽविभागात् ।" "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमि"त्यादिना सृष्टेः प्राक् सर्वस्य जगतोऽविभागे निश्चिते सति क्षेत्रज्ञकर्मणामप्यविभागावधारणात् सृष्टेः प्राक्कर्माणि सृज्यवैचित्र्यहेतुभूतानि न सन्तीत्यर्थः, यत्सापेक्षत्वं ब्रह्मणो भवेदिति चेन्न । कुतः ? सर्वस्यानादित्वात् । पूर्वसृष्टौ क्षेत्रज्ञैः कृतानि पुण्यापुण्यमिश्राणि कर्माण्युत्तरसृष्टिगतवैचित्र्यनिमित्तानि भवन्ती-

त्यर्थः। सृष्टिप्रवाहो बीजाङ्कुरन्यायेन पूर्वोक्तयाऽभिव्यक्ताऽनभिव्यक्तकार्य्यव्यवस्थयोपपद्यते च। चकारात्पूर्वसृष्टिं विनाऽकस्मादुत्तरसृष्टेरनुपपत्तेश्च। उपलभ्यते चापि शास्त्रे "सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदि"त्यादौ पूर्वसृष्टेः सद्भावोपदेशात्सृष्टिप्रवाहस्यानादित्वमुपलभ्यते इत्यर्थः। "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। "ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययमि"त्यादिश्रुतिस्मृतिषु च संसारस्य सन्मूलत्वेन प्रवाहरूपतया सत्यत्वञ्चोपलभ्यते। पूर्वत्र सत्यत्वेन कार्य्यं निरूपितमेव। "अनाद्यन्तवती, न जायते म्रियते वा विपश्चित्, प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपी"ति चिदचित्पदार्थयोः परमकारणशक्तिभूतयोरनादित्वञ्चोपलभ्यते ॥ ३४ ॥

सू० सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ २ । १ । ३५ ॥

(वे०पा०सौ०) सर्वेषां कारणधर्माणां ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्चाविरोधसिद्धिः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते वेदान्तपारिजातसौरभे
द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

(वे०कौ०) सर्वेषामुक्तानामनुक्तानाञ्च जगत्कारणानुरूपाणां प्रधानादावनुपपन्नानां धर्माणां ब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे उपपत्तेश्च ब्रह्मणि शास्त्रसमन्वयो न कुतोऽपि विरुद्ध्यते इति सिद्धम् ॥३५॥

इति प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥ १० ॥

इतिश्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयाऽध्याये द्वितीयपादारम्भः ।

सू० रचनाऽनुपपत्तेश्च नाऽनुमानम् ॥ २ । २ । १ ॥

(वे०पा०सौ०) प्रधानमनुमानगम्यं न जगत्कारणं, कुतः ? सृज्यरचनानभिज्ञत्वतो विविधरचनानुपपत्तेश्च ॥ १ ॥

(वे०कौ०) एवं हि पूर्वत्र मुमुक्षून्परमपुरुषगुणस्वरूपादिश्रवणमननादौ प्रवर्त्तयितुं भगवता सूत्रकृता श्रीपुरुषोत्तमस्य सर्वशक्तेः सर्वेश्वरस्य परमकारणस्य श्रीवासुदेवस्य जगज्जन्मादिकारणत्वं सुदृढं प्रतिपादितम् ,"ईक्षतेर्नाशब्दमि"त्यादिना परपक्षाणामश्रौतत्वञ्च दर्शितमिदानीमौपनिषदसिद्धान्तस्यैवोपादेयत्वसिद्धयेऽस्मिन्पादे भगवान्सूत्रकारः परोक्तयुक्तीनामाभासत्वं दर्शयति । न चौपनिषदसिद्धान्तप्रकाशनेनैव मुमुक्षूणामुपकारे जाते किं परपक्षदूषणेनेति वाच्यम् । यथा हिततममप्यमुत्सृज्याहिते विपादौ प्रवृत्तं जनं तद्दोषकथनादिना ततो निषेध्य तत्रैव तं नियोजयन्ति, तथा वेदविरुद्धपरपक्षाभिवारणाय स्वसिद्धान्ते मुमुक्षुप्रवृत्तये च परपक्षदूषणसूचनस्य युक्तत्वात् । साङ्ख्या हि श्रुतिप्रोक्तं सर्वज्ञं सर्वशक्ति श्रीपुरुषोत्तमं जगज्जन्मादिकारणमतिहाय, तत्सम्बन्धवर्जितामचेतनां गुणत्रयसाम्यभूतां प्रकृतिं जगत्कारणमाहुः । तदुक्तं षष्ठिसंहितायाम् "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥' इति । प्रकृतिसत्त्वे पञ्चहेतूनाहुः— "भेदानां परिमाणात् १ समन्वयात् २ शक्तितः प्रवृत्तेश्च ३। कार्य्यकारणविभागात् ४ अविभागात् ५ वैश्वरूप्यस्य॥"कारणं प्रधानमिति। विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यं विचित्रसन्निवेशं जगत्तस्य ये च परिमितास्ते सामान्यकारणपूर्वका, यथा घटादयः । एवं परिमिता महदहङ्कारौ पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभू-

तानीति भेदास्तेषामेकं देशकालापरिमितं गुणत्रयसामान्यं कारणमस्ति । ये च यदन्विता दृश्यन्ते, ते तदेककारणपूर्वकाः, यथा मृदन्विता शरावादयस्तत्पूर्वकाः, तथा सुखदुःखमोहान्विता बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति । तथा घटादिकार्याणां कारणशक्तितः प्रवृत्तिवन्महदादिकार्याणामपि कारणशक्तितः प्रवृत्तिर्वाच्या, एवं सति तादृशशक्तिमत्कारणं प्रधानम् । किञ्च कार्यस्य कुण्डलादेः सदृशात्कारणात्सुवर्णादेर्विभागस्तस्मिन्नेवाविभागश्च दृश्यते । एवं वैश्वरूप्यस्यापि विभागाविभागौ ताभ्यामधि(१)भूतं गुणत्रयसाम्यरूपं कारणमव्यक्तमनुमीयत, इति प्राप्ते आह ।

अनुमीयत इत्यनुमानमब्रह्मात्मकं प्रधानं न जगत्कारणम् । कस्मात् ? रचनाऽनुपपत्तेः, अब्रह्मात्मकादानुमानिकादचेतनात्स्रष्टव्यज्ञानहीनात्प्रधानात् विचित्रकर्मानुरूपविविधभोग्यसंस्थानविभिन्नजगद्रचनाऽनुपपत्तेः । लोके स्रष्टव्यज्ञानवतो विविधविचित्रप्रासादरथालङ्कारादिरचनादर्शनात् । चकारः प्रधानसत्त्वसाधकानां हेतूनां सत्प्रतिपक्षत्वं बोधयति । अब्रह्मात्मकं साङ्ख्याभिमतं प्रधानमसत्, तदनुपलब्धेः, यदेवं तदेवं खपुष्पवत्, यन्नैवं तन्नैवं द्युमणिवत्, इति साध्याभावसाधकप्रयोगात् ॥ १ ॥

सू० प्रवृत्तेश्च ॥ २ । २ । २ ॥

(वे०पा०सौ०) स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ २ ॥

(वे०कौ०) अनुपपत्तेरित्यत्राप्यनुवर्त्तते । अचेतनस्यानुमानिकस्य प्रधानस्य स्वतोगुणत्रयसाम्यावस्थाप्रच्युतिरूपायाः प्रवृत्तेरनुपपत्तेश्चाऽनुमानगम्यं प्रधानं न जगत्कारणं, लोके चेतनाधिष्ठितानामेव रथादीनां कार्य्येषु प्रवृत्तिदर्शनात् ॥ २ ॥

(१) मूलमात्रमधिकृत्य वर्त्तमानम् ।

सू० पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ २ । २ । ३ ॥

(वे०पा०सौ०) ननु क्षीरादिवत्स्वयं प्रधानं जगज्जन्मादौ प्रवर्त्तते इति चेत्। तत्रापि परः प्रेरको "योऽप्सु तिष्ठन्नि"त्यादिना श्रूयते ॥३॥

(वे०कौ०) ननु किमिदमुच्यते स्वतःप्रवृत्त्यनुपपत्तेर्नाचेतनं प्रधानं जगत्कारणमिति ? पयो यथाऽचेतनमेव दध्यात्मना स्वतः परिणमते, वत्सवृद्धये स्वयं प्रवर्त्तते च, यथा चाम्बु पार्जन्यं विविधभौमरसरूपेण हिमबुद्बुदादिरूपेण च परिणमते, वृक्षादिविवृद्धये स्वयं प्रवर्त्तते, स्यन्दते च, तथैव चेतनानपेक्षं प्रधानमपि विषमगुणं सन्नानाकारेण परिणमते इति चेत् । तत्रोच्यते तत्रापीति । क्षीरादावपि चेतननिरपेक्षा प्रवृत्तिर्नोपपद्यते, अपितु (चेतनाधिष्ठितमेव पयआदिकं दध्याद्याकारमापद्यते,) वत्सवत्सलाधेनुः स्नेहात्पयः प्रवर्त्तयति द्रवत्वाच्च क्षरति । ननु च मृतेऽपि वत्से पयसो भावो दृश्यते, वत्सस्नेहात्पयः प्रवर्त्तयतीत्ययुक्तमिति चेन्न । तदा वत्सानुस्मृतेः । अथवा स्वामिस्नेहात्तथात्वोपपत्तेः । अम्बु च चेतनाधिष्ठितमेव हिमबुद्बुदाद्याकारम्भवति, भूसंसर्गान्नानारसाकारं प्रतीयते च, निम्नदेशापेक्षया द्रवत्वात्स्यन्दते च, सर्वस्य चेतनाधिष्ठितत्वाच्च, सर्वं यथासम्भवं सर्वत्रोपपद्यते "योऽप्सु तिष्ठन्नेतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते" इत्यादिश्रुतेः । तस्मान्नानुमानं जगत्कारणम् ॥ ३ ॥

सू० व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ २ । २ । ४ ॥

(वे०पा०सौ०] प्राज्ञेनाऽनधिष्ठितं प्रधानं न जगत्कारणं, कुतः ? तद्व्यतिरिक्तस्य सहकार्य्यन्तरस्यानवस्थितेर्यतस्तच्च तदनपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

( ) एतच्चिह्नाङ्कितपाठोऽधिको दृश्यते पुस्तकान्तरे ।

(वे०कौ०) इतोऽपि जगत्कारणं नानुमानम्। कस्मात्? "व्यतिरेकानवस्थितेः"। प्राज्ञानधिष्ठितस्य स्वतन्त्रस्याचेतनस्यानुमानिकस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वे सर्वदा कार्य्यप्रसक्तौ कदाचिदपि कार्यव्यतिरेकस्यावस्थित्यभावापत्तेः। यद्वा प्रधानव्यतिरिक्तस्य प्रवर्त्यस्य प्रवर्त्तकस्य वाऽवस्थित्यभावादित्यर्थः। तत्रापि हेतुः अनपेक्षत्वादिति। तव मते प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वे सहकार्य्यनपेक्षत्वात्। न च विचित्रं कर्म प्रधानप्रवर्त्तकमस्तीति वाच्यम्। कर्मणो जगत्कारणत्वापत्तेः, प्रधानस्य जगज्जनने स्वातन्त्र्यभङ्गापत्तेश्च, असम्भवाच्च। कर्म तु पुण्यमपुण्यं च सुखं दुःखं च फलमपि दातुं न शक्नोति, तत्कर्त्ताऽपि स्वतः फलं न प्राप्नोति, प्रकृतिसंसर्गदूषितक्षेत्रज्ञानुष्ठितं तत्कथं प्रधानं प्रवर्त्तयितुं शक्नुयात्। भगवदिच्छया तु कर्माणि फलन्ति, तत्कर्त्ता च फलं प्राप्नोति "सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च। अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः॥ भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः" इति श्रीमुखवचनात्। न च पुरुषसन्निधिमात्रतः प्रधानं प्रवर्त्तते इति वाच्यम्। पुरुषसन्निधेर्नित्यत्वात्प्रवृत्तेरपि नित्यत्वापत्तेः। विशेषतस्तु "पुरुषाश्मवदि"त्यत्र स्फुटीभविष्यति॥ ४॥

सू० अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्। २। २। ५॥

[वे०पा०सौ०] अनडुहाद्युपभुक्ते तृणादौ क्षीराकारेण परिणामाभावाद्धेन्वाद्युपभुक्तं तृणादि यथा स्वतः क्षीरीभवति, तथाऽव्यक्तमपि महदाद्याकारेण परिणमते इति न वक्तव्यम्॥ ५॥

(वे०कौ०) ननु यथा खलु तृणोदकादि क्षीरभावेन परिणमते, तथा निमित्तान्तरानिरपेक्षमेवाव्यक्तं महदाद्याकारेण परिणमते, तत्राह नेति। नैवं वक्तुं शक्यम्। कुतः? "अन्यत्राभावात्"।

अन्यत्र धेन्वादेरन्यत्रानडुहादौ तदुपभुक्तस्य तृणोदकादेः क्षीराकारेण परिणामाभावात् । चकारात् धेन्वाद्युपभुक्ततृणादिक्षीराकारपरिणामस्य प्राज्ञकर्तृकत्वाभ्युपगमात् ,तथा प्रधानमपि प्राज्ञाधिष्ठितमेव महदाद्याकारेण परिणमते, न तु स्वत इति भावः ॥५॥

सू० अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ २ । २ । ६ ॥

(वे०पा०सौ०) कथं चित्प्रवृत्त्यभ्युपगमेऽपि प्रधानं कारणं न भवति, तस्याचेतनत्वेन प्रवृत्तिप्रयोजनासम्भवात ॥ ६ ॥

(वे०कौ०) "प्रवृत्तेश्चे"त्यादिना प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्तिसामर्थ्यं नास्त्यतो न तज्जगत्कारणमित्युक्तमथ हठात्प्रवृत्त्यभ्युपगमेऽपि न प्रधानं कारणं भवितुमर्हति, कुतः ? "अर्थाभावात् ।" सृष्टेः प्राक् स्वानन्दभूतानां पुरुषाणां भुक्तिमुक्तिनिरपेक्षतया स्वपरप्रयोजनानभिज्ञस्य प्रधानस्य जडत्वेन भोगाद्यनर्हतया वा प्रयोजनाभावात् । न चाप्तसमस्तकामस्य पुरुषोत्तमस्यापि जगज्जनने किं प्रयोजनमिति वाच्यम् । "लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि"त्युक्तत्वात् । यद्वा प्रधानं स्वतः प्रवर्त्तते, इत्येवं हठेन प्रयुक्तस्य वाक्यस्य स्वत आकाशो धावतीतिवदर्थशून्यत्वादित्यर्थः ६

सू० पुरुषाश्मवदिति चेत्तथाऽपि ॥ २ । २ । ७ ॥

(वे०पा०सौ०) यथा पङ्गुरन्धमश्मायः प्रवर्तयति, तथा पुरुषः प्रधानमिति चेत् ।तथात्वे निष्क्रियत्वाभ्युपगमविरोधः,प्रधानस्य परप्रेर्यत्वेन जगत्कारणत्वेऽप्राधान्यप्रसङ्गः ॥ ७ ॥

(वे०कौ०) ननु दैववशात्कश्चित्कदाचित्सार्थपरिभ्रष्टः स्वेष्टदेशगमनकामः गमनशक्तिहीनः दृक्शक्तिमान पङ्गुः दृक्शक्तिहीनं गमनशक्तिमन्तमन्धमुपलभ्य, तमधिष्ठाय यथा प्रवर्त्तयति, यथा च अयस्कान्तोऽश्मायः प्रवर्त्तयति, तथा खलु क्रियाशक्तिहीनोऽपि दृक्शक्तिमान्पुमान् दृक्शक्तिवर्ज्जं प्रधानं सन्निधिमा-

त्रेण प्रवर्त्तयति, तस्मात्प्रधानस्याचेतनत्वेऽपि सर्गादिप्रवृत्तेरुपपत्तिरिति चेत्। अत्रोत्तरम् तथाऽपीति । एवंभूताभ्यां दृष्टान्ताभ्यामपि दार्ष्टान्ते प्रवृत्तेरनुपपत्तिरेवेत्यर्थः । तथाहि पुरुषस्य प्रधानप्रवर्त्तकत्वाङ्गीकारे पुरुषोऽकर्त्तेति प्रतिज्ञाहानिः, प्रधानस्य पुरुषप्रवर्त्यत्वे प्रधानं स्वतन्त्रं जगत्कर्तृ हीति प्रतिज्ञाहानिः । पङ्गोर्हि चरणवर्ज्जितत्वाद्गमनशक्तिरनाविर्भूताऽपि स गमनशक्तिमन्तं वाचा प्रेरयति । अन्धस्यादनाविर्भूतदृक्शक्तिरपि प्रेर्यः पुरुषस्तद्वचनानुसारेण चेतनत्वात्प्रवर्त्तते । अश्मा तु पुरुषेणायसा संयोज्यमानोऽयः प्रवर्त्तयति अयोऽपि स्वभावतो नैव प्रवर्त्तते । किञ्च सर्वत्र सर्वप्रेरकः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वदा वर्त्तते इत्युक्तं "पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापी"ति । प्रकृतिपुरुषसन्निधंस्तु नित्यतयाऽपूर्वतत्सन्निध्यमानात्सृष्टिसंहारप्रक्रिया प्रकृतिपुरुषसान्निधिनिबन्धना बन्धमोक्षव्यवस्था च नोपपद्यते, नित्यप्रवृत्तिप्रसङ्गः प्रलयाभावप्रसङ्गश्च स्यात्, प्रकृते तु "सर्वोपेता च स"इत्युक्तत्वान्न कोऽपि दोषः ॥ ७ ॥

सू० अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ २ । २ । ८ ॥

(वे०पा०सौ०) प्रलयवेलायां साम्येनावस्थितानां गुणानां परस्पराङ्गाङ्गिभावासम्भवाच्च नानुमानं जगत्कारणम् ॥ ८ ॥

(वे०कौ०) इतोऽपि नानुमानं जगत्कारणम् । कुतः ? अङ्गित्वानुपपत्तेः । तथा हि प्राज्ञानधिष्ठितमनुमानसिद्धं भवदभिमतं गुणत्रयसाम्यभूतं प्रधानं जगदाकारेण किमङ्गाङ्गिभावमाश्रित्य परिणमते आहोस्वित्तन्नैरपेक्ष्येण ? आद्ये, सृष्टेः प्राक् साम्येनावस्थितानामन्योन्यनिरपेक्षाणां सत्त्वरजस्तमसामेकतमस्याङ्गित्वानुपपत्तेः प्रधानस्य जगत्कारणत्वं नोपपद्यते । द्वितीये गुणत्रयसाम्यभूतं कूटस्थं प्रधानं जगदाकारेण सुतरां नैव

परिणंस्यते, अङ्गाङ्गिभावलक्षणवैषम्याभावात् । न च सृष्टिवेलायां साम्यावस्थाप्रच्युतिर्जायते, तया च गुणानामङ्गाङ्गिभावे सति जगदुत्पद्यते इति वाच्यम् । विकल्पासहत्वात् । तदानीं स्वत एव साम्यावस्थाप्रच्युतिर्भवद्भिरभ्युपगम्यते उत सर्वज्ञकृता ? । नाद्यः पक्षः साधुः, निमित्तं विना स्वतःप्रच्युतेरसम्भवात्, यद्यत्सनिमित्तं तत्तत्प्रच्युतिमत्, बीजादिवत्, न यत् सनिमित्तम् न तत्प्रच्युतिमत्, पुरुषवदितिप्रयोगाच्च । नापि द्वितीयः, अनभ्युपगमात्, परपक्षप्रवेशाच्च ॥ ८ ॥

सू० अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ २ । २ । ९ ॥

(वे०पा०सौ०) प्रकारान्तरेण प्रधानानुमितौ च प्रधानस्य ज्ञातृत्वशक्तिवियोगान्न तत्कर्तृकं जगत् ॥९॥

(वे०कौ०) उक्तप्रकारादन्यथाऽङ्गाङ्गिभावपूर्वककार्योत्पत्तिर्यथा सम्भवेत्तथा प्रधानानुमितौ च क्रियमाणायां सत्यां ज्ञशक्तिवियोगात् प्रधानस्य ज्ञातृत्वशक्तिहीनत्वात् रचनानुपपत्त्यादयो दोषाः पूर्वोदाहृताः स्युः । तस्मान्नानुमानं जगत्कारणम् ॥९॥

सू० विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ २ । २ । १० ॥

(वे०पा०सौ०) असमञ्जसं कापिलं मतं, वेदान्तविरुद्धत्वात्पूर्वापरविरुद्धत्वाच्च ॥ १० ॥

(वे०कौ०) सर्वथा कापिलं मतमसमञ्जसम्भवति, कुतः ? विप्रतिषेधात्, वेदान्तविरोधात् । वेदान्ताः सर्वज्ञं सर्वशक्ति सर्वेश्वरं जगज्जन्मादिकारणं सर्वप्रमाणानिरपेक्षाः स्वतःप्रमाणभूताः अनादिसिद्धाः प्रतिपादयन्ति, तद्विरुद्धात्त्वादचेतनकारणवादाभ्युपगमस्येत्यर्थः । 'नैषा मतिस्तर्केणापनेये'तिश्रुत्या हेतुवादमात्रस्य प्रतिषेधितत्वाच्च पूर्वापरविरोधाच्च । ते हि सर्वगतं निर्धर्मकं चैतन्यमात्रं कैवल्यस्वरूपं पुष्करपलाशवदसङ्गं निष्क्रियं पुरुष-

माहुः । तस्मिन्पुनः प्रकृतिपुरुषसन्निधिमात्रतः प्रकृतेः कर्तृत्वमध्यस्याज्ञानात्कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मकं तापत्रयसन्तप्तं संसारिणमपि तमेवाहुः । पुनः प्रकृतिपुरुषविज्ञानात्पुरुषस्यापवर्गमुपदिशन्ति । एवं पूर्वापरविरोधबाहुल्यं तत्र द्रष्टव्यम् । प्रकृते तु "न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः । माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः । बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते । बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः" इतिस्मृतेः बन्धनकारणस्य बद्धस्य बन्धविमोचकस्यापूर्वस्य तत्करणभावापत्तिलक्षणस्यापवर्गस्य च सूपपन्नत्वात्, न पूर्वापरविप्रतिषेधगन्धलेशोऽपि । तस्मात् श्रुतिसमन्वयस्य वेदविरुद्धेन युक्त्याभासविलसितेन कपिलपक्षेण नास्ति विरोध इति सिद्धम् ॥ १० ॥ इति रचनाऽनुपपत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ २ । २ । ११॥

[वे०पा०सौ०] सावयवत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गान्निरवयवत्वे परिणामान्तरोत्पादकत्वासम्भवात् परमाणुभ्यां द्व्यणुकोत्पत्तेरसामञ्जस्यम्, तेभ्यस्त्र्यणुकोत्पत्तेश्च सुतरामसामञ्जस्यम्, तद्धत्परमाणुकारणवादाभ्युपगतं सर्वमसमञ्जसं भवति ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) ननु प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं माऽस्तु जगत्कारणं, परमेश्वरेच्छावशवर्त्तिपरमाणुपुञ्जोऽस्तु जगतः कारणमित्याशङ्क्येदानीं परमाणुकारणवादस्याप्यसामञ्जस्यमाह ।

एषा हि परमाणुकारणवादिनां प्रक्रिया । द्रव्यं द्रव्यान्तरं गुणश्च गुणान्तरमारभते, कार्य्यनिष्पत्तिश्च समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्येभ्यः कारणेभ्यः खलु भवति, यथा तन्तुभिः समवा-

यिकारणैस्तेषामितरेतरसंयोगेनासमवायि(१)कारणेन च तुरी-वेमकुविन्दादिभिश्च निमित्तकारणैः पटनामकं कार्यमारभ्यते, तथा खलु पार्थिवाप्यतैजसवायवीयभेदाच्चतुर्विधाः परमाणवस्ते च नित्या निरवयवा रूपादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाः प्रलयेऽनारब्धकार्या अवतिष्ठन्ते। सृष्टिसमये कार्यनिष्पत्तौ परमाणवः समवायिकारणं, तत्संयोगोऽसमवायिकारणम्, अदृष्टमीश्वरेच्छा च निमित्तकारणम्भवति, तत्रेश्वरेच्छावशेनाऽऽद्यं कर्म वायवीयेषु परमाणुषूत्पद्यते, ततः संयोगस्तेन द्वाभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकं कार्यमुत्पद्यते, त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकमारभ्यते, चतुर्भिस्त्र्यणुकैश्चतुरणुकमित्येवंक्रमेण महान्वायुरुत्पद्यते, खे दोधूयमानस्तिष्ठति। तथैव तैजसेभ्यः परमाणुभ्योऽग्निरुत्पद्यते, भौमादिरूपेण जाज्वल्यमानस्तिष्ठति। एवमेवाप्येभ्यः परमाणुभ्यो महान् जलार्णव उत्पद्यते, पोप्लूयमानस्तिष्ठति। तथैव खलु पार्थिवेभ्यः परमाणुभ्यो महती पृथिव्युत्पद्यते, सा हि शैलपाषाणादिरूपा निश्चला तिष्ठति। कारणगुणैश्च कार्यगुणा आरभ्यन्ते। यथा तन्तुगतगुणेन पटगतगुणः, अरुणेभ्यस्तन्तुभ्योऽरुणपटदर्शनात्, तथा परमाणुगतशुक्लादिगुणेभ्यो द्व्यणुकगतशुक्लादिगुण आरभ्यते। परमाण्वोर्द्व्यणुकारम्भकयोर्द्वित्वसङ्ख्या च द्व्यणुकेऽणुत्वं ह्रस्वत्वञ्च परिमाणान्तरमारभते, परमाणुपरिमाणरूपपारिमाण्डल्यं तु न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यान्तरमारभते, ततोऽप्यतिसौक्ष्म्यापत्तेः। एवं संहारावसरेऽपि परमेश्वरेच्छावशात्परमाणुषु कर्म, तेन संयोगनाशस्तेन द्व्यणुकनाशः इत्येवंक्रमेण पृथिव्यादिनाश इति। सा निराक्रियते। सूत्रे चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। असमञ्जसमिति पूर्वतो वर्तते। ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यामिति पदं यथासम्भवं विभज्य

(१) असमवायिना च तुरी- इत्यपि पाठः।

योजनीयम् । एवंसति परिमण्डलद्वयाद्ध्रस्वद्व्यणुकोत्पत्तिवादवत् ह्रस्वेभ्यो महद्दीर्घत्र्यणुकोत्पत्तिवादवच्चान्यदपि तदुक्तं सर्वमसमञ्जसमिति सूत्राक्षरयोजना । अयमर्थः । परमाणुभ्यां द्व्यणुकोत्पत्त्यसम्भवस्तदसम्भवे सुतरां द्व्यणुकेभ्यस्त्र्यणुकोत्पत्त्यसम्भवः । एवमेव परमाणुकारणवादिभिर्यदुक्तं तदन्यदपि सर्वमसमञ्जसमेव । तथाहि इह तन्त्वाद्यवयवानां स्वांशैः षड्भिः (१)पार्श्वैः संयुज्यमानानामेव पटाद्यवयव्युत्पादकत्वं दृश्यते दिक्षट्कयोगात्परमाणोः षडंशसिद्धिस्तथोक्तम् "षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशते"ति । तस्मात्परमाणवोऽपि सावयवा एव कार्यजनकाः स्युस्तेषां तथात्वे सति कार्य्यत्वापत्तिः द्व्यणुकवदवयवित्वात् । परमाण्ववयवा अपि स्वांशैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमानाः परमाणोः सावयवत्वसमर्थकाः सावयवा भवेयुरेवं तदवयवा अपीत्येवमनवस्था स्यात् । परमाणूनां निरवयवत्वाङ्गीकारे निष्प्रदेशस्य परमाणुशतस्यापि संयोगे पारिमाण्डल्यानतिरिक्तपरिमाणतयाऽणुत्वह्रस्वत्वाद्यसिद्धिर्भवेदेवं द्व्यणुकोत्पत्त्यसम्भवस्तदभावे त्र्यणुकाद्युत्पत्त्यसम्भवाज्जगदुत्पत्त्यसम्भवो भवेत् ॥ ११ ॥

सू० उभयथाऽपि न कर्म्मातस्तदभावः ॥ २ । २ । १२ ॥

(वे०पा०सौ०) अदृष्टस्य परमाणुवृत्तित्वाऽसम्भवादात्मसम्बन्धिनस्तस्य परमाणुगतकर्मप्रेरकत्वासम्भवाच्चेत्येवमुभयथाप्याद्यं कर्म परमाणुगतं न सम्भवत्यतः कर्मनिबन्धनसंयोगपूर्वकद्व्यणुकादिक्रमेण जगदुद्भवस्याभावः ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) महद्दीर्घवदन्यदपि तदुक्तं सर्वमसमञ्जसमिति यदुक्तं तद्विवृणोति ।

---

(१) तन्त्वादेरवयवानां त्र्यणुकानां षड्भिः पार्श्वैः परमाणुभिः ॥

उभयथाऽपि परमाणुषु सृष्टिवेलायां कर्म न सम्भवत्यतो हेतोः कर्मासम्भवात्तदभावः, परमाणुसंयोगपूर्वकद्व्यणुकाद्युद्भवक्रमेण जगज्जन्माद्यभाव इत्यर्थः । उभयथेति । आद्यं कर्म स्वत उत्पद्यते उत परमाणुप्रभावात् ? । नाद्यः पक्षः, असम्भवात् । न क्वापि स्वतआविर्भूय कर्म जलमानेतुं घटेन प्रवर्त्तते । न च वाच्यं किञ्चिन्निमित्तमाश्रित्योत्पद्यते इति । तदा जीवप्रयत्नप्रकम्पाभिघाताद्यभावात् । न द्वितीयः, अचेतनत्वेन कर्मप्रवर्तकत्वानुपपत्त्या परमाणूनां चेतनत्वापत्तेः । न खलु प्रासादादिनिर्माणे पाषाणादयोऽन्योन्यकर्मभिरेकीभूय प्रवर्त्तन्ते । यद्वाऽदृष्टहेतुकं परमाणुषु तदा हि कर्म जायते, तत्रोभयथा कर्मनिषेधः । तथाहि परमाणुनिष्ठकर्मबोधकमदृष्टं परमाणुवृत्ति किंवा जीववृत्ति ? । नाद्यः पक्षः, जीवपुण्यापुण्यानुष्ठानजनितत्वेनादृष्टस्याचेतनवृत्तित्वासम्भवात्, अदृष्टस्याप्यचेतनतया कर्मबोधकत्वासम्भवाच्च परमाणुषु पुण्यापुण्यानुष्ठानासम्भवात् अगत्या स्वभावसिद्धमदृष्टमङ्गीकार्यं स्यात्, तदा सर्वदा कर्मोद्भवप्रसङ्गाच्च । न द्वितीयः, जीववृत्तेरदृष्टस्य सुतरां जडगतकर्मचोदनाऽसम्भवात् । एवमुभयथाऽपि न कर्म । यद्वा जीवप्रयुक्तमीश्वरप्रयुक्तं वा कर्म न सम्भवति, तथा हि किं जीवः आद्यं कर्म स्वगतादृष्टतः सन्निधितश्चैतन्यगुणतो वा जनयति ?। नाद्यः, पूर्वोक्तदूषणात्। न सन्निधितश्च, जीवपरमाणुसन्निधेर्नित्यतया नित्योत्पादकत्वप्रसङ्गात् । नैव चैतन्यतः, तदा चैतन्याभावात् । न चेश्वरप्रयुक्तं कर्म प्रवर्त्तते । किं भवन्मते ईश्वरो वेदप्रोक्तः उतानुमानादिसिद्धः ? । वेदप्रोक्त इति चेत्। तर्हि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं,सच त्यच्चाभवदि"त्यादिश्रुतिप्रक्रियायां कृतविश्वासस्तच्चरणानुरागरसमग्नः सन् विश्वरो भव, किं तव परमाणुकारणवादेन । अनुमानादिसिद्धश्चेदीश्व-

रः, तर्हि तस्य स्वरूपसिद्धिरेव नास्तीति पूर्वत्रोपपादितम् ॥१२॥

सू० समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ २ । २ । १३ ॥

(वे०पा०सौ०)समवायाभ्युपगमाच्च परमाणुकारणपक्षासम्भवः,यथा द्व्यणुकं समवायसम्बन्धेन स्वकारणे समवैत्यत्यन्तभिन्नत्वात्तथा समवायोऽपि समवायिभ्यां समवायसम्बन्धान्तरेण सम्बध्येतात्यन्तभेदसाम्यात्सोऽपि सम्बन्धान्तरेणेत्यनवस्थानात् ॥ १३ ॥

(वे०कौ०) तदभाव इत्यनुवर्त्तते। इतोऽपि तस्याः परमाणुसंयोगपूर्वकद्व्यणुकाद्युत्पत्तिक्रमेण जगज्जन्मादिप्रक्रियाया अभावः। कस्मात्? समवायाभ्युपगमात्। युतसिद्धानां संयोगः सम्बन्धः, यथा रज्जुघटयोः, अयुतसिद्धानां तु समवायः सम्बन्धः, यथेह तन्तुषु पटः, कपालयोर्घटः, गवि गोत्वं, पटे शुक्लादिरूपं समवायसम्बन्धेन तिष्ठति, कार्यकारणादिलक्षणानां पदार्थानां सम्बन्धः समवाय एव,स चैको नित्यः सर्वगतो व्योमवदिष्यते, ईदृक्समवायाभ्युपगमादित्यर्थः। ननु समवायाभ्युपगमे को दोषोऽस्ति? इत्यत्राह "साम्यादनवस्थितेरि"ति। यथा द्व्यणुकं समवायिकारणादत्यन्तं भिन्नं तत्समवायमवश्यमपेक्षते, तथा समवायोऽपि समवायिभ्यामत्यन्तं भिन्नः सन्नितरेण समवायलक्षणेन सम्बन्धेन समवायिभ्यामवश्यं सम्बध्येतात्यन्तभिन्नत्वसाम्यात्, असम्बद्धस्य सम्बन्धत्वादर्शनाच्च, सोऽपि समवायान्तरेण सोऽप्यन्येनेत्यनवस्थितेरपसिद्धान्तापत्तिदोषः स्यादित्यर्थः ॥ १३ ॥

सू० नित्यमेव च भावात् ॥ २ । २ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) परमाणूनां प्रवृत्तिस्वभावत्वे प्रवृत्तेर्भावान्नित्यसृष्टिप्रसङ्गादन्यथा नित्यप्रलयप्रसङ्गाच्चतदभावः ॥ १४ ॥

(वे०कौ०) इतोऽपि परमाणुकारणवादिप्रक्रियाया अभाव

एव । कुतः ? परमाणूनां प्रवृत्तिस्वभावत्वेऽङ्गीकृते प्रवृत्तेर्नित्यमेव भावप्रसङ्गात् प्रलयो न स्यादित्यर्थः । तेषां निवृत्तिस्वभावत्वे निवृत्तेर्नित्यमेव भावात्सृष्टयभावप्रसङ्गः स्यादित्यर्थः ॥ १४ ॥

सू० रूपादिमत्त्वाच्च विपर्य्ययो दर्शनात् ॥ २ । २ । १५ ॥

(वे०पा०सौ) परमाणूनां कार्य्यानुसारेण रूपादिमत्त्वाच्च नित्यत्वविपर्य्ययोऽनित्यत्वं स्यात्, रूपादिमतां घटादीनामनित्यत्वदर्शनादन्यथा कार्यं रूपादिहीनं स्यात् ॥ १५ ॥

(वे०कौ०) कार्य्यस्य रूपादिमत्त्वात् परमाणवोऽपि रूपादिमन्तोऽभ्युपगम्यन्ते, तथा चतुर्विधानां परमाणूनां रूपादिमत्त्वात् रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वान्नित्यत्वादिविपर्य्ययोऽनित्यत्वादिः प्रसज्येत, रूपादिमतां घटादीनामनित्यत्वादिदर्शनात् । तेषां रूपादिमत्त्वानङ्गीकारे कार्य्यस्य रूपादिमत्त्वं विरुद्धमापद्येत, "रूपादिमन्तो नित्याश्चे"ति प्रतिज्ञाहानिश्च प्रसज्येत । अतोऽपि तदभाव एवेति चकारार्थः । नहि दृष्टानुसारेणादृष्टोऽर्थो निर्णेतुं शक्यः । अतो यथाश्रुति जगत्कारणं प्रतिपत्तव्यमिति भावः ॥ १५ ॥

सू० उभयथा च दोषात् ॥ २ । २ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) यद्युपचितगुणाः परमाणवस्तदा पृथिव्यप्तेजोवायूनां तुल्यतापत्तिरपचितगुणा इत्यत्रापि सर्वेषां परमाणूनां प्रत्येकमेकैकगुणयोगेन पृथिव्यादीनामपि कारणगुणानुगुण्येन प्रत्येकमेकैकगुणयोगः स्यादित्युभयथाऽपि दोषात्तदभाव एव ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) इतोऽपि परमाणुकारणवाद्यभिमतप्रक्रियाया अभाव एव । कुतः ? परमाणूनामुपचितगुणवत्त्वाङ्गीकारेऽपचितगुणवत्त्वाङ्गीकारे चेत्युभयप्रकारेऽपि दोषात् । तथाहि तेषामुपचितगुणवत्त्वाङ्गीकारे सर्वेषां तुल्यत्वापत्तेः । कार्य्यगुणानां कारणगुणपूर्वकत्वात्सर्वे रूपरसादयो हि कारणगुणाः सर्वेषु कार्य्येषु प्रस-

ज्येरन् । अप्स्वपि गन्धप्रसङ्गः, तेजसि गन्धरसयोः प्रसङ्गः, वायौ रूपरसगन्धानाञ्च प्रसङ्गः, परमाणूनां स्थूलत्वप्रसङ्गश्च स्यात् । उपचितगुणायाः भूमेः स्थूलत्वदर्शनात्, अपचितगुणत्वे च सर्वेषामेकैको गुणः स्यात् । एवंसति तेजसि स्पर्शो न स्यादप्सु रूपस्पर्शौ न स्यातां, पृथिव्यां रूपस्पर्शरसा न स्युः, तत्तत्परमाणुषु तत्तद्गुणाभावात्, इतरथा सर्वत्र सर्वप्रसङ्गापत्तेः । ननु रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी दृश्यते, रूपरसस्पर्शगुणयुता आपश्च दृश्यन्ते, रूपस्पर्शवत्तेजश्च, स्पर्शवान्वायुश्च दृश्यन्ते, तदानुगुण्येन केचिदुपचितगुणाः केचिदपचितगुणाः परिकल्प्यन्तेऽतो नोक्तदोष इति चेन्न । तथाऽप्युपचितगुणानां परमाणुत्वव्याघातात् । प्रकृते श्रुतिमूले सिद्धान्ते तु न कोऽपि दोषः । जगतः सर्वज्ञसर्वशक्तिसर्वेश्वरोपादानकत्वात् ॥ १६ ॥

सू॰ अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ २ । २ । १७ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) परमाणुकारणवादस्य शिष्टैः परित्यक्तत्वादत्यन्तमुपेक्षा मुमुक्षुभिः कार्य्या ॥ १७ ॥

(वे॰कौ॰) प्रधानकारणवादस्य श्रुतिविरुद्धत्वेन युक्तिविरुद्धत्वेन च परित्यक्तस्यापि कश्चित्सत्कार्यवादाद्यंशो हि वैदिकैर्गृहीतः । अस्य तु वैशेषिकपरिकल्पितपरमाणुकारणवादस्य केनाप्यंशेनापरिग्रहात् शिष्टैः परित्यक्तत्वात्, युक्तिविरुद्धत्वाद्वेदबाह्यत्वाच्चात्यन्तमनपेक्षा, श्रेयस्कामैरनादरणीयः परमाणुकारणवाद इत्यर्थः । तस्माद्ब्रह्मकारणवादस्य दूरतो हेयेन परमाणुकारणवादेन न कोऽपि विरोध इति सिद्धम् ॥ १७॥ इति महदीर्घाधिकरणम् ॥ २ ॥

(वे॰पा॰सौ॰)सुगतमतं निराकरोति—

सू॰ समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ २ । २ । १८ ॥

भूतभौतिकचित्तचैत्तिके समुदायेऽभ्युपगम्यमानेऽपि समुदायिनामचेतनत्वादन्यस्य संहतिहेतोरनभ्युपगमाच्च समुदायासम्भवः ॥ १८ ॥

कपिलो हि सत्कार्यवादब्रह्मात्मकं प्रधानं जगत्कारणं मन्यते। स च ब्रह्मकारणवादाद्वैदिकात्प्रतिकूलवादित्वेन निराकृतः। ततोऽपि निकृष्टबुद्धिः कणादोऽसत्कार्यवादी जगत्कारणञ्च बहुविधं मन्यतेऽतो महद्विरुद्धवादित्वेन निराकृतः। इदानीं ततोऽप्यतिनिकृष्टस्तत्साद‍ृश्याद्बौद्धपक्षो निराक्रियते।

बुद्धोपदिष्ट आगमे बुद्धिभेदाच्चतुर्भिस्तदनुगैश्चत्वारः पक्षाः कृताः। ते च बुद्धानुयायिनो–वैभाषिक १ सौत्रान्तिक २ योगाचार३माध्यमिक४संज्ञकाः । तत्र बाह्यार्थास्तित्ववादिना-(१)वाद्यौ। तत्रापि बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी पूर्वः(२), तन्मते घटादयो बाह्यार्थाः प्रत्यक्षप्रमाणगम्याः। विज्ञानानुमेयबाह्यार्थवादपरः, तन्मते घटाद्याकारेणोत्पन्नेन विज्ञानेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षा घटादयो बाह्यार्था अनुमीयन्ते। निरालम्बनविज्ञानास्तित्ववादी (३)तृतीयः, स बाह्यार्थाः स्वप्नार्थकल्पा इति वदति। एते हि स्वाभिमतं वस्तु क्षणिकमाहुः। सर्वं शून्यमिति चतुर्थस्य(४)मतम्। स हि–संस्कारमालम्ब्य ग्राह्यग्राहकाकारविमुक्ता संवित्सन्ततिर्निर्वातस्थप्रदीपवत्क्षणपरम्परयाऽवतिष्ठते, नष्टे तु संस्कारे सा प्रदीपवदेव निर्वाणमृच्छति। सेयमभावप्राप्तिरपवर्ग–इति मन्यते। अन्ये तु सन्तत्यविच्छेदमिच्छन्ति। तत्र योगाचारस्य माध्यमिकस्य च मतमग्रे निरसिष्यते, अस्मिन्नधिकरणे तु बाह्यार्थास्तित्ववादिनोर्वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मतमेकीकृत्य निरस्यते। एवं तावद्धेतुरूप–विज्ञान–वेदना–संज्ञा–संस्काराख्याः पञ्च स्कन्धाः । तत्र

(१) वैभाषिकसौत्रान्तिकौ। (२) वैभाषिकः। (३) योगाचारः। (४) माध्यमिकस्य।

रूपस्कन्धो नाम पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि, भौतिकञ्च शरीरेन्द्रियविषयरूपम्। तत्र रूपरसगन्धस्पर्शाः खरस्वभावाः पार्थिवाः परमाणवः पृथिवीरूपेण संहन्यन्ते, रूपरसस्पर्शाः स्नेहस्वभावा आप्याः परमाणवः सलिलात्मना संहन्यन्ते, रूपस्पर्शौ उष्णस्वभावास्तैजसास्तेजोरूपेण संहन्यन्ते, तथा स्पर्श ईरणस्वभावा वायवीया वायुरूपेण संहन्यन्ते। पृथिव्यादिचतुष्टयञ्च शरीरेन्द्रियविषयरूपेण संहन्यते, इत्येवमेते चतुर्विधाः क्षणिकाः परमाणवो भूतभौतिकसङ्घातहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते। सोऽयं परमाणुहेतुको भूतभौतिकलक्षणो रूपस्कन्धो बाह्यसमुदायः। विज्ञानस्कन्धो नामाभ्यन्तरोऽहम्प्रत्ययसमारूढो घटज्ञानं पटज्ञानमित्येवमविच्छेदेन वर्त्तमानो विज्ञानप्रवाहः। अयमेव कर्त्ता भोक्ता चात्मा च, अस्मादेव सर्वो हि लौकिकव्यवहारः प्रवर्त्तते। वेदनास्कन्धश्च सुखवेदना दुःखवेदना चेति। संज्ञास्कन्धो नाम उपलक्षणप्रत्ययो यथा स्वस्तिमती गौरिति स्वस्तिमत्तया गौरुपलक्ष्यते। संस्कारस्कन्धोनाम रागद्वेषमोहमदमात्सर्यभयशोकविषादादयश्चैतसिका धर्माः ते चामी चतुर्विधाः(१) स्कन्धाश्चित्तचैत्तिका उच्यन्ते। तत्र विज्ञानस्कन्धश्चित्तमात्मेति चोच्यते। अन्ये चैत्या इति सर्वव्यवहारास्पदभावेनान्तः संहन्यन्ते। सोऽयं विज्ञानादिचतुःस्कन्धीहेतुक आभ्यन्तरः समुदायः, समुदायद्वयादन्यदात्माकाशादिस्वरूपत एव नास्ति। तावेतौ लोकयात्रामावहतः। सिद्धे च लोकव्यवहारे नित्येनात्मना नास्ति प्रयोजनमिति मन्यते(२)। तत्रेदमभिधीयते। उक्तप्रकारेणोभयहेतुकेऽपि समुदाये समूहेऽभ्युपगम्यमाने तदप्राप्तिः, तस्योभयहेतुकस्याप्यप्राप्तिरसम्भव एव। अचे-

(१) विज्ञान १ वेदना २ संज्ञा ३ संस्काराख्याः ४।
(२) वैभाषिकसौत्रान्तिकौ।

तनानां समुदायिनामन्योन्यनिरपेक्षत्वेन स्वतः समुदायासम्भवात्, क्षणिकत्वाच्चातो भूतभौतिकः समुदायश्चित्तचैत्तिकसमुदायश्च नोपपद्यते इत्यर्थः। नित्यस्य भोक्तुश्चेतनस्य प्रशासितुः संहन्तुः सर्वज्ञस्य सर्वेश्वरस्यानभ्युपगमाच्च, परमाणूनामतीन्द्रियत्वेन लोकस्याप्यतीन्द्रियत्वप्रसङ्गाच्च लुप्येत लोकयात्रा ! अनादिवेदबोधितब्रह्मत्यागाददृष्टाश्रुतपरमाण्वादिसमुदायाङ्गीकारात्तत्संहतिहेत्वसम्भवाच्च दुष्टमिदं मतमिति भावः ॥ १८ ॥

सू० इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न, सङ्घातभावाऽनिमित्तत्वात् । २ । २ । १९ ॥

(वे०पा०सौ०) अविद्यासंस्कारविज्ञाननामरूपषडायतनादीनामितरेतरहेतुत्वेन सङ्घातादिकमुपपन्नम्, इत्यपि न, तेषामपि सङ्घातं प्रत्यकारणत्वात् ॥ १९. ॥

(वे०कौ०) ननु चेतनस्य सर्वज्ञस्य संहन्तुरनभ्युपगमेऽपि क्षतिर्नास्ति, यतोऽस्मदीयपक्षे अविद्यादीनामितरेतरप्रत्ययत्वात् । कार्य्यं प्रति हेतुतयाऽयते गच्छतीति प्रत्ययो हेतुस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्सर्वं सङ्घातादिकमुपपन्नं भवति । तथाहि विज्ञानसन्तानस्यानादिकालप्रवृत्ता अविद्यादयो हेतवोऽभ्युपगम्यन्ते, तत्राविद्याशब्दो भ्रान्तिवचनः अस्थिरे स्थिरबुद्धिरमार्गे मार्गबुद्धिरिति । तया विषयेषु रूपादिषु रागादिलक्षणः संस्कारो जन्यते, तेनैव प्रवृत्तिकाले प्रवृत्तिर्भवति, प्रवृत्तिः पुण्यापुण्यकर्मात्मिका "अस्ति कर्माऽस्ति विपाक" इति बुद्धवचनात् । तेनैव च विज्ञानं जायते(१) । ततः पृथिव्यादिचतुष्टयं शरीरसमुदायकारणभूतमुत्पद्यते, तदेव नामाश्रयत्वेन नामेत्युच्यते । ततः शरीरं ततः पञ्च(२)बुद्धीन्द्रियमनोरूपं षडायतनं ततः स्पर्शः ततो वेदना सु-

(१) ज्ञायते । (२) पञ्चज्ञानेन्द्रियमनोरूपम् ।

खादिका ततः पुनरविद्यादयः, एवं घटीयन्त्रवदावर्त्तमानेषु भावेषु अर्थात्सङ्घात उपपद्यते, अतः खलु सर्वमस्मदर्शनमुपपन्नमिति चेन्न। कुतः? सङ्घातभावाऽनिमित्तत्वात्। अविद्यादीनां सङ्घातभावं प्रति अनिमित्तत्वात्। नहि दूरस्थे पुरुषे जायमाना स्थाणुरयमिति भ्रान्तिभूताऽविद्या पूर्वसिद्धस्य पुरुषस्य संहतिकारणमिति वक्तुं शक्यम्। तथा तन्निमित्तानां रागादीनामपि सङ्घातभावम्प्रति अनिमित्तत्वं बोध्यम् ॥ १९ ॥

सू० उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २ । २ । २० ॥

(वे०पा०सौ०) इतोऽपि न तद्दर्शनं युक्तमुत्तरोत्पादे पूर्वस्य क्षणिकत्वेन विनष्टत्वात् ॥ २० ॥

(वे०कौ०) ननूत्तरस्योत्पादे कर्त्तव्ये पूर्वस्य हेतुत्वादुपपन्नमस्मदर्शनमिति चेन्न। उत्तरोत्पादे च क्रियमाणे पूर्वस्य निरोधात्(१), लोके उत्तरस्य घटस्योत्पत्तिवेलायां पूर्वस्य मृत्पिण्डस्य सत एव हेतुत्वं दृश्यते। भवन्मते तु भावानां सर्वेषां क्षणिकत्वात् पूर्वक्षणस्य विनष्टत्वादुत्तरक्षणम्प्रति हेतुत्वं न घटते, तथा हि क्षणिकः पदार्थः क्षण इत्युच्यते(२), पूर्वस्तावद्घटक्षणः स्वसमकालमुत्तरं कार्य्यमुत्पादयति, अनुत्पन्नो वा, विनष्टो वा? नाद्यः पक्षः, तदपि स्वसमकालं(३) कार्यान्तरं तदप्यन्यमिति सर्वस्य युगपत्क्षणमात्रस्थायित्वापत्तेः, पूर्वोत्तरव्यवहारोच्छेदापत्तेश्च। न द्वितीयः पक्षः, असम्भवात्। किञ्चानुत्पन्नो नाम तदभाव एव, तस्य हेतुत्वे सर्वस्य सर्वत्रोत्पत्तिप्रसङ्गः स्यात्प्रतिबन्धकाभावात्। नापि तृतीयः, पुनः सर्वस्य सर्वत्रोत्पत्त्यापत्तेः पूर्वस्य विनष्टत्वात्। न च वाच्यमुत्तरक्षणोत्पत्तिपर्यन्तं पूर्वक्षणोऽवतिष्ठत इति, क्षणि-

---

(१) नाशात् इत्यधिक पाठः पुस्तकान्तरे।
(२) तन्मते कालाऽनङ्गीकारात। (३) स्वक्षणे पद्य।

कत्वहानिप्रसङ्गात् ॥ २० ॥

सू० असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २ । २ । २१॥

(वे०पा०सौ०) असति हेतौ कार्य्योत्पत्त्यभ्युपगमे चतुर्भ्यो हेतुभ्य इन्द्रियालोकमनस्कारविषयेभ्यो विज्ञानोत्पत्तिरित्यस्याः प्रतिज्ञाया बाधः स्यात्। सति हेतौ कार्योत्पादाङ्गीकारे पूर्वस्मिन् क्षणे स्थिते सति क्षणान्तरोत्पत्तिर्भवेदिदं यौगपद्यं भवतां क्षणिकवादिनां मते स्यात्२१

(वे०कौ०) निर्हेतुकोत्पत्तिं दूषयति।

ननु हेतुं विनैवास्तूत्तरोत्पाद, एवं सति नोक्तदोष इति चेत्। अत्रोच्यते। असत्यपि हेतौ यदि कार्योत्पादोऽभ्युपगम्यते तदा प्रतिज्ञोपरोधः स्यात्। तथाहि चक्षुरादीन्द्रियलक्षणोऽधिपतिप्रत्ययः, प्रकाशलक्षणः सहकारिप्रत्ययः, मनस्कार[१]लक्षणः समनन्तरप्रत्ययः, विषयलक्षण[२] आलम्बनप्रत्ययश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ भवतां कारणचतुष्टयप्रतिज्ञायाः उपरोधो हानिः स्यात्, किञ्च निर्हेतुककार्योत्पादाङ्गीकारेऽपि पूर्वोक्तः सर्वत्र सर्वोत्पत्तिदोषो दुर्वारः स्यात्। अथैतद्दोषपरिहारायान्यथाऽङ्गीकारे कार्य्यं सति हेतौ उत्पद्यते इत्यङ्गीकारे यौग[३]पद्यं स्यात्। हेतुहेतुमतोरेकस्मिन्काले युगपत्स्थितिः स्यात्। पूर्वोक्तो दोषस्तदवस्थः स्यादित्यर्थः। तथाहि किं पूर्वः घटक्षणः अपरस्य घटक्षणस्य स्वकाले हेतुर्भवति, किंवा जायमानस्योत्तरक्षणस्योत्पत्तिवेलायां स्थितः संस्तद्धेतुर्भवति? उभयथाऽपि यौगपद्यम्। आद्ये सर्वेषां क्षणानामेकस्मिन्काले उपलब्धिः प्रसज्येत, पूर्वापरव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गश्च। द्वितीये क्षणिकत्वहानिः, क्षणद्वयस्थायित्वात् एकत्र यौगपद्येन क्षणद्वयोपल-

(१) मनसा विषयसङ्कल्पः।

(२) विषयलक्षणो घटादिरालम्बनप्रत्ययश्चेत्यपि पाठः।

(३) कार्यकारणयोर्घटलक्षणयोर्यौगपद्यं स्यात्।

भिप्रसङ्गः स्यात् ॥ २१ ॥

सू० प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाऽप्राप्ति-
रविच्छेदात् ॥ २ । २ । २२ ॥

(वे०पा०सौ०) सहेतुकनिर्हेतुकयोर्निरोधयोरसम्भवः सन्तानविच्छेदस्यासम्भवात्सन्तानिनाश्च प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्च ॥ २२ ॥

[वे०कौ०] एवं तावत्पराभ्युपगत उद्भवो निराकृतस्तदभ्युपगतो विरोधोऽपि निरस्यते ।

बुद्धिपूर्वको निरोधः प्रतिसङ्ख्यानिरोधः, अतत्पूर्वको निरोधोऽप्रतिसङ्ख्यानिरोध इति द्विविधो निरोधस्तैरभ्युपेतः । तत्र मुद्गराभिघातादिहेतुकः सदृशसन्तानावसानरूप उपलब्ध्यर्हः स्थूलो भावविनाशो बुद्धिपूर्वक इत्युच्यते । उपलब्ध्यनर्हः सूक्ष्मो निर्हेतुकः सदृशसन्ताने प्रतिक्षणभावी भावविनाशोऽबुद्धिपूर्वक इत्युच्यते । तयोर्निरोधयोः सन्ताने सन्तानिषु चाप्राप्तिः असम्भवः । कुतः ? सन्तानस्याविच्छेदात् । नहि तावत्सहेतुको विनाशः सन्तानस्य सम्भवति । तथाहि भवद्भिः पूर्वस्मिन्सन्तानिनि प्रतिक्षणभाविभावविनाशाङ्गीकारात्, विनष्टेऽपि उत्तरस्य तद्धेतुकस्यासतो ह्येवोत्पादोऽङ्गीक्रियते । एवं मुद्गराभिघातादिना तत्क्षणे क्षणिके सन्तानिनि विनष्टेऽपि बाधकाभावादुत्तरसन्ता-[१]न्युत्पत्तिसिद्ध्या सन्तानसिद्धौ सन्तानस्य सहेतुकनिरोधो न सम्भवतीत्यर्थः । सिद्धान्ते तु सत एव मृदादेरवस्थाभेदो उत्पत्तिनिरोधौ[२] उच्येते । भवन्मते तु सर्वदा मुद्गरशताभिघा-

(१) सन्तानोत्पत्तिसिद्ध्या इत्यपि पाठः ।

(२) अवस्थाविषयकौ उत्पत्तिनिरोधौ, न तु सत्ताविषयकौ इति भावः । अतो नित्यप्रलयेऽपि अस्मन्मतेन वस्तुसत्ताहानिरिति बोध्यम् ।

तेनापि सन्तानविच्छेदानुपपत्तिरिति भावः । किञ्च चरमसन्तानिनो यदि हेतुना विनाशस्तर्हि हेतुं विनेतरेषामपि विनाशायोगात् घटस्थानेऽनेकघटोपलब्धिप्रसङ्गः । न च सदृशसन्ताने प्रतिक्षणभाविनिर्हेतुको विनाशस्तेषां जायतेऽतो नायं दोष इति वाच्यम् । चरमसन्तानिनोऽपि तादृशे विनाशे सिद्धे सहेतुकविनाशस्य वैयर्थ्यापत्तेः । न च मुद्गरादिनापि विसदृशसन्तानोत्पत्तिरस्तीति नोक्तदोष इति वाच्यम् । मुद्गरादिनापि विनष्टे पूर्वस्मिन्सन्तानिनि तत्सदृशोत्तरोत्पादे बाधकाभावात्प्राप्ते सति सिसदृशसन्तानासम्भवात् , विसदृशोत्पत्तौ हेत्वभावाच्च । सन्तानास्य निर्हेतुकविनाशोऽपि न सम्भवति, सर्वत्रपश्चाद्दर्शनप्रसङ्गात् । एवं सन्तानिषु तयोरप्राप्तिः, तत्र निर्हेतुके तत्तत्सन्तानिविनाशे स्वीकृते पुनः क्षणिकस्य सन्तानिनो मुद्गरादिना नाशासम्भवात् । निर्हेतुकोऽपि विनाशो वस्तूच्छेदको न सम्भवति, सन्तानिनां घटादीनां प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् ॥ २२ ॥

सू० उभयथा च दोषात् ॥ २ । २ । २३ ॥

(वे०पा०सौ०) सन्तानस्य सन्तानिव्यतिरिक्तवस्तुत्वाभावात्सन्तानिनाञ्च क्षणिकत्वादविद्यादिनिरोधो मोक्ष, इत्यपि तन्मतमसङ्गतम् ॥२३॥

[वे०कौ०] इतोऽपि सौगतमतमसङ्गतम् । कुतः ? तदभिमतेऽपवर्गे उभयथाऽपि दोषात् । तथाहि अविद्यादिनिरोधस्तैर्मोक्षोऽभ्युपेतः, स सन्तानस्य सन्तानिनां वा ? नाद्यः, सन्तानिव्यतिरिक्तस्य सन्तानस्यावस्तुत्वेन मोक्षानर्हत्वात् । न द्वितीयः, सन्तानिनां क्षणिकत्वात् । किञ्च स अविद्यादिनिरोधलक्षणो मोक्षः सहेतुको निर्हेतुको वा ? आद्ये अर्यसत्यचतुष्टयाभ्यासान्मुक्तिः-समुदायसत्यं, निरोधसत्यं, दुःखसत्यं, मार्गसत्यं, चेति । सर्वमुत्पत्तिमदिति यन्निर्णयज्ञानं तत्समुदायसत्यं, सर्वं क्षणि-

कमिति निरोधसत्यम्, सर्वं दुःखात्मकमिति दुःखसत्यम्, सर्वं शून्यं, सर्वं निरात्मकमिति मार्गसत्यमित्येवं भावयतो रागादिनिवृत्तावभ्युपगम्यमानायां निर्हेतुको विनाश इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। द्वितीये साधनोपदेशानर्थक्यप्रसङ्ग इत्युभयथा दोषः ॥ २३ ॥

सू० आकाशे चाविशेषात् ॥ २ । २ । २४ ॥

(वे०पा०सौ०) आकाशे च तैरभावप्रतिज्ञा कृता, सा न युक्ता, पृथिव्यादिभिरविशेषात् ॥ २४ ॥

(वे०कौ०) ते च बुद्धिपूर्वकनाशो भावानामबुद्धिपूर्वकनाश आकाशश्चेति त्रयमवस्तु सन्निरूपाख्यं निर्हेतुकं तुच्छमित्याहुः। तत्रोभयप्रकारको निरोधो निराकृतः। प्रसङ्गादविद्यादिनिरोधलक्षणो मोक्षो दूषितोऽवशिष्टमाकाशस्य निरुपाख्यत्वं दूषयति श्रुत्युक्तसिद्धान्तवादी भगवान्सूत्रकारः।

आकाशेऽवस्तुत्वप्रतिज्ञा न(१)युक्ता, आकाशस्य भूम्यादिभिर्वस्तुत्वाविशेषात् भूचरा भुवि यथा, जलचरा जले यथा धावन्ति, तथा खगमाः खे धावन्ति। चशब्दाद्वस्त्वन्तरवदाकाशस्यापि जन्यत्वश्रवणात् "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी"ति। "आकाशस्य स्थितिर्यावद्यावच्च जगतः स्थितिः। तावन्मम स्थितिर्भूयाज्जगद्दुःखानि निघ्नतः" इति दयापरेण वदता बुद्धेनाप्याकाशस्य भावत्वमभ्यनुज्ञातम् ॥ २४ ॥

सू० अनुस्मृतेश्च ॥ २ । २ । २५ ॥

(वे०पा०सौ०) इदं तदिति प्रत्यभिज्ञया च तद्दर्शनमसत् ॥२५॥

(वे०कौ०) इतोऽपि क्षणिकवादो न युक्तः। कुतः? "अनुस्मृतेः"। स्वानुभूतवस्तुविषयकानुस्मरणात्। अतो नित्यानु-

(१) नासतो दृष्टत्वादिति वक्ष्यमाणात् नकारः आकृष्यते।

भवितात्मावश्यमाश्रयणीयः, अन्यथा सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः॥२५॥

सू॰ नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २ । २ । २६ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) अभावाद्भावो न जायतेऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

[वे॰कौ॰] सौगतैरभावाद्भावोत्पत्तिरभ्युपेता, सा न युक्ता, कस्मात्? असतः मृदाद्यभावात् घटाद्युत्पत्तेरदृष्टत्वात्, सतस्तु मृत्पिण्डादेस्तदुत्पत्तेर्दृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

सू॰ उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २ । २ । २७ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) अन्यथाऽनुपाद्यतो विद्यार्थसिद्धिः स्यात् ॥२७॥

[वे॰कौ॰] अपि च भवद्भिर्यथाऽभावाद्भावोत्पत्तिरङ्गीकृता, एवमुदासीनानां स्वाभिमतकार्यसाधकोपकरणत्यागिनामुपकरणाभावमात्रतः स्वाभिमतकार्यसिद्धिः प्रसज्येत, न च निर्यत्नस्य विद्यादिलाभः, न चाकृतदारो नैष्ठिकः पुत्रमौरसं प्राप्नोति । तस्माद्वैभाषिकसौत्रान्तिकमतेन युक्त्याभासमूलेन श्रुतिसिद्धान्तस्य न विरोध इति सिद्धम् ॥ २७ ॥ इति समुदायाधिकरणम् ॥ ३ ॥

सू॰ नाऽभाव उपलब्धेः ॥ २ । २ । २८ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) विज्ञानमात्रास्तित्ववाद्यभिमतो बाह्यस्याभावो न, किन्तु भाव एव, कुतः? उपलब्धेः ॥ २८ ॥

(वे॰कौ॰) इदानीं योगाचारपक्षो निरस्यते ।

विज्ञानमात्रास्तित्ववादी योगाचारबौद्धो विज्ञानव्यतिरिक्तानां भावानामभावं मन्यते । तथाहि विचित्रो बाह्योऽर्थोऽस्तीति भ्रमः, क्षणिकं विचित्रं विज्ञानं साकारं प्रत्यक्षश्चास्ति, नीलं पीतमिति साकारं विज्ञानमेव प्रकाशते । बहिष्ठार्थास्तित्ववादिभिरपि तत्तद्विचित्रविषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्यस्य ज्ञानस्य तत्तद्विषया-

कारत्वमवश्यमङ्गीकरणीयं, एवंसति तेनैवाकारेण सर्वव्यवहार सिद्धौ किं बहिष्ठार्थकल्पनया । प्रदीपवत्स्वप्रकाशकत्वात्प्रत्यक्षञ्च तत्, अप्रत्यक्षस्योपलम्भे तस्य स्वपरोत्पन्नयोर्विज्ञानयोरविशेष-प्रसङ्गः स्यात् । अस्ति च विशेषः खलु स्वोत्पन्नेन विज्ञानेन पुरुषः प्रवृत्तौ निवृत्तौ च प्रवर्त्तते निवर्त्तते च । उक्तञ्च विप्रभिक्षुणाऽपि "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति । अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः[१] । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते" इति । तत्र ग्राह्याकारः प्रमेयं, ग्राहकाकारः प्रमाणं, स्वसंवित्तिः फलमिति त्रयमेकस्मिन्विज्ञानेऽवकल्पते, तस्मान्नास्ति बाह्यार्थः । इतश्च सहोपलम्भनियमान्न भेदो नीलतद्धियोः, यदैव नीलज्ञानं तदैव नीलमुपलभ्यते, तस्मादनयोरभेदः इति । इतश्च बाह्यार्थशून्यो जाग्रत्प्रत्ययः प्रत्ययत्वात्स्वप्नादिप्रत्ययवत् । ननु कथं बाह्यार्थाभावे प्रत्ययवैचित्र्यमिति । अत्रोच्यते । वासनावैचित्र्यात् बीजाङ्कुरवद्विज्ञानानां वासनानाञ्चान्योऽन्यं निमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यस्योपपन्नत्वादिति प्राप्ते, ब्रूमः । बाह्यार्थस्याभावो न घटेत । कस्मात्? "उपलब्धेः" । विज्ञानव्यतिरिक्तस्य बाह्यार्थस्य प्रत्यक्षत उपलब्धेः । यद्यपि उक्तलक्षणो जीवो नित्यज्ञानस्वरूपः सूर्यस्य प्रभेव तद्धर्मभूतं ज्ञानञ्च नित्यमेव । तथापि अनादिमायानिबन्धनेनाज्ञानेनावृतज्ञानत्वाज्जन्मनि जन्मनि एकस्मिन्नपि जन्मनि च पदार्थावधारणे मुह्यति । तत्र परमात्मना स्थापितान्सूर्यादीन् पितृपितामहादिसञ्चितांश्चार्थान् पूर्वसिद्धान्पुनः परिजनवचनाद्वेत्ति च । अतो नाभावोऽस्ति ज्ञानभिन्नस्य पदार्थस्य, सूर्याचन्द्रमसौ पावकः पर्वतः पृथिवी जलं गौरश्व इत्याद्यनुभवसिद्धत्वादित्यर्थः । यदुक्तं बहिष्ठार्थास्तित्व-

(१) विपर्यस्तदर्शनैः इत्यपि पाठः ।

वादिभिरपि तत्तद्विचित्रविषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्यस्य ज्ञानस्य तत्तद्विषयाकारत्वमवश्यमङ्गीकरणीयमेवं सति तेनैवाकारेण सर्वव्यवहारसिद्धौ किम्बहिष्ठार्थकल्पनयेति । तन्न । विषयं विना विषयिनस्तत्सारूप्यात्मकतदाकारत्वासिद्धेः । एवं ज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्यार्थस्तद्व्यतिरिक्तं तद्विषयकं ज्ञानम् । यच्चोक्तं सहोपलम्भनियमान्न भेदो नीलतद्धियोरिति, तदपि न, सहोपलम्भकथनमात्रेणैव भेदाङ्गीकारात् ॥ २८ ॥

सू० वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २ । २ । २९ ॥

(वे०पा०सौ०) स्वप्नादिप्रत्ययदृष्टान्तेनापि न जाग्रत्प्रत्ययार्थाभावः प्रतिपादयितुं शक्यः, दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोर्वैधर्म्यात्स्वप्नज्ञानस्यापि सालम्बनत्वाच्च ॥ २९ ॥

(वे०कौ०) यदुक्तं बाह्यार्थशून्यो जाग्रत्प्रत्ययः प्रत्ययत्वात् स्वप्नादिप्रत्ययवदिति, अत्रोच्यते ।

स्वप्नादिवत्स्वप्नप्रत्ययवत् मनोरथप्रत्ययवच्च जाग्रत्प्रत्ययो निरालम्बन, इति न वक्तव्यम् । कुतः ? "वैधर्म्यात्" । जागरितस्वप्नप्रत्यययोरबाहितकरणजन्यत्वानबहितकरणजन्यत्वरूपवैधर्म्यात् । चकारात्स्वप्नप्रत्ययस्यापि सालम्बनत्वात् ॥ २९ ॥

सू० न भावोऽनुपलब्धेः ॥ २ । २ । ३० ॥

(वे०पा०सौ०) किञ्च ज्ञानवैचित्र्यार्थो वासनानाम्भावोऽभिप्रेतः, स न सम्भवति, तव मते बाह्यार्थानामनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

[वे०कौ०] किञ्च ज्ञानस्य निरालम्बनत्वे घटज्ञानं नीलज्ञानं पीतज्ञानमित्यादिवैचित्र्यं न घटेत । वासना ज्ञानवैचित्र्यकारणमिति चेत् । वासनानां भावो हि तव मते न सम्भवति । कुतः ? "अनुपलब्धेः" वासनाकारणानुपलब्धेः । बाह्यार्थानुभवः वासनाहेतुः, स न सम्भवति, बाह्यार्थानभ्युपगमात् ॥३०॥

सू० क्षणिकत्वात् ॥ २ । २ । ३१ ॥

(वे०पा०सौ०) न वासनाभाव, आश्रयस्य तव मते क्षणिकत्वात् ३१

(वे०कौ०) इतोऽपि वासनाभावो न सम्भवति, कुतः ? आश्रयस्य अहमित्यालयविज्ञानस्य सन्तानिनाश्च क्षणिकत्वात् । अतोऽर्थवैचित्र्यकृतं ज्ञानवैचित्र्यम् । तस्माद्योगाचारमतेन बालभाषितेन न श्रुतिसिद्धान्तस्य विरोध इति सिद्धम् ॥ ३१ ॥ इत्युपलब्ध्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

सू० सर्वथाऽनुपपत्तेश्च ॥ २ । २ । ३२ ॥

(वे०पा०सौ०) शून्यवादोऽपि भ्रान्तिमूलकः, सर्वथाऽनुपपन्नत्वात् प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधात् ॥ ३२ ॥

(वे०कौ०) इदानीं माध्यमिकाभिमतः सर्वशून्यवादो निरस्यते ।

शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थाः सर्वज्ञप्रोक्तागमस्थाः सर्वेऽर्थाः नतु वस्तुतः सन्ति, उत्पत्तिनाशासम्भवात् । अभावाद्भावोत्पत्तिर्न सङ्गच्छते, भावाद्भावो हि विलक्षणः सदृशो वा जायते ? आद्ये, सर्वतः सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गः । द्वितीये पिष्टपेषणवन्नैष्फल्यं स्यादुत्पत्तेर्दुर्निरूप्यत्वाद्विरोधो दुर्निरूप्यः । तस्माच्छून्यवादो बरीयानतो हि शून्यापत्तिर्मोक्षः, इत्येव बुद्धाभिप्रायः । युक्तश्चैतत्, शून्यस्यानन्यासिद्धत्वात् । द्रष्टृदृश्यादिव्यवहारस्तु भ्रममात्रमिति । अत्र ब्रूमः । सर्वशून्यवादो न युक्तः । कुतः ? सर्वशून्यवादिनोऽसत्यत्वे सर्वस्य सत्यत्वप्रसङ्गात्सत्यत्वे प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात् । शून्यवादस्य सर्वथाऽनुपपत्तेश्चानुपपन्नं सर्वं शून्यमिति दर्शनम्, वादिप्रतिवादिभ्यां सर्वस्य जगतः सत्यत्वेनोपलम्भात्, शून्यत्वे प्रमाणाभावाच्च, क्षणिकत्वादिभावप्रतिपादकबुद्धागमविरोधाच्च । सर्वं शून्यमिति वदतो माध्यमिकस्य कार्योत्पत्तिविना-

ज्ञानभिज्ञस्य चक्षुर्दर्पेण भास्कारमपश्यत उलूकस्येव मतं सर्वथा दुष्टमिति भावः। तन्मतेन श्रुतिमार्गस्य न विरोधगन्धोऽपीति सिद्धम् ॥ ३२ ॥ इति सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू० नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥ २ । २ । ३३ ॥

(वे०पा०सौ०) जैना वस्तुमात्रेऽस्तित्वनास्तित्वादिना विरुद्धधर्मद्वयं योजयन्ति। तन्नोपपद्यते, एकस्मिन्वस्तुनि सत्त्वासत्त्वादेर्विरुद्धधर्मस्य छायाऽऽतपवद्युगपदसम्भवात् ॥ ३३ ॥

(वे०कौ०) मुक्तकच्छबौद्धमतं निरस्तमिदानीं विवसनानां जैनानां मतं निराक्रियते।

ते हि जीवाऽजीवात्मकं निरीश्वरं जगदाहुः। परमाणूनाञ्जगत्कारणत्वञ्चाहुः। अस्तित्वनास्तित्वादिविरुद्धधर्मद्वयं पदार्थेषु कल्पयन्ति। तथाहि जीवाऽजीवाश्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा इति तेषां शास्त्रसङ्कद्धभूताः सप्त पदार्थाः। तत्र जीवाश्चेतनाः ज्ञानदर्शनसुखवीर्य्यगुणैर्युक्ताः। तत्र जीवाऽजीवविवेकेन पदार्थावगमो ज्ञानम्। रागद्वेषशून्यतया पदार्थावलोकनं दर्शनम्। बद्धानां वैषयिकं, मुक्तानां स्वात्मभूतं सुखम्। एवं वीर्य्यञ्च यथायथमूह्यम्। ते च जीवाः सावयवाः देहपरिमाणाः, तत्र केचिद्बद्धात्मानः, केचिन्मुक्तात्मानः, केचिन्नित्यसिद्धाः। ये मुक्तात्मानस्ते सर्वज्ञाः निरतिशयसुखाश्चासते। जीवभोग्यवस्तुजातमजीवः, स च धर्माधर्मपु(१)द्गलकालाकाशभेदभिन्नः। तत्र च सम्यक्प्रवृत्त्यनुमेयो द्रव्यविशेषो धर्मः, अमुक्तानां स्थितिहेतुरधर्मः, वर्णगन्धरसस्पर्शवद्द्रव्यं पुद्गलः। स द्विधा परमाणुतत्सङ्घातभेदात्। पृथिव्यादिहेतवः परमाणवस्ते च न तार्किकादीनामिव चतुर्द्धा, किन्त्वेकस्वभावाः। पृथिव्यादिभेदस्तु परिणाम-

(१) शरीरम्।

कुतः । पृथिव्यादिचतुष्टयं तनुभुवनादिकश्च तत्सङ्घातः । कालस्तु चिरक्षिप्रभूतादिव्यवहारहेतुरणुरूपो द्रव्यविशेषः । आवरणाभाव आकाशः । स द्विधा लोकाकाशः, सांसारिकः । अलोकाकाशो मुक्ताश्रयः । आश्रावयति पुरुषं विषयेष्विन्द्रियप्रवृत्तिराश्रवः, कर्त्तारमभिव्याप्याश्रवत्यनुगच्छतीत्याश्रवं कर्मेति वा । इन्द्रियवृत्तीः संवृणोतीति संवर इन्द्रियनिरोधः समाधिरूपः । पूर्वसञ्चितं कल्मषं निर्जरयतीति निर्जरो नामास्नानमौनवीरासननिष्ठ्यूतभोजनतप्तशिलारोहणकेशोपलुञ्चनादिलक्षणमर्हदुपदेशावगतं तपः । बन्धस्त्वष्टविधः कर्मलक्षणः । तत्र ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं मोहनीयमन्तरीयमिति चत्वारि घातिकर्माणि जीवगुणानां ज्ञानदर्शनसुखवीर्याख्यानां प्रतिघातकराणि, वेदनीयं नामिकं गोत्रिकम् आयुष्कमिति चत्वार्यघातिकर्माणि शरीरतदभिमानतन्नियन्धनसुखाद्यपेक्षोपेक्षाहेतुभूतानि । बन्धनिवृत्तौ नित्यसिद्धार्हदनुग्रहात्स्वाभाविकात्मस्वरूपाविर्भावो मोक्षो भवतीति । तेषामेवापरः प्रपञ्चः पञ्चास्तिकायो नाम । तथा हि जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायः धर्मास्तिकायः अधर्मास्तिकायः आकाशास्तिकायश्चेति । अनेकदेशवर्त्तिसाङ्केतिकपदार्थवाची अस्तिकायशब्दः, जीवश्चासावस्तिकायश्चेत्येवं सर्वत्र कर्मधारयः । इमञ्च सप्तभङ्गिनयं सर्वत्र योजयन्ति—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति । अस्तित्वादिसप्तभङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गी तन्नयो युक्तिः । स्यादिति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम्, किञ्चिदर्थे वर्त्तमानं बोध्यम् । किञ्चिदस्ति किञ्चिन्नास्तीत्येवं योजनीयम् । अयमभावः । सर्वं वस्तुजातं द्रव्यपर्यायात्मकमनैकान्तिकं द्रव्यरूप-

स्य चैकत्वात्स्थिरत्वात्सद्बुद्धिबोध्यत्वाच्चदात्मना सत्त्वैकत्वनित्यत्वादुपपद्येत । पर्यायाश्च द्रव्यस्यावस्थाविशेषाः घटत्वपटत्वादिरूपास्तेषां चानेकत्वादस्थिरत्वादसद्बुद्धिबोध्यत्वात्तदात्मना हि असत्त्वानित्यत्वादिकमुपपद्येतेति । अत्र ब्रूमः, नैवं वाच्यम् । कस्मात् ? एकस्मिन्पदार्थे किञ्चिदस्ति किञ्चिन्नास्तीत्यादिसप्तभङ्ग्युक्तेरसम्भवात् । नहि तमःप्रकाशयोर्युगपदेकत्रोपलम्भो दृष्टः श्रुतो वा । एवमेकत्रास्तित्वनास्तित्वादिविरुद्धधर्मद्वयस्यासम्भव एव । ननु भवन्मतेऽपि एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धधर्मद्वयाङ्गीकारोऽस्ति, तथा "सर्वं खल्विदम्ब्रह्मे"त्यादिषु एकत्वम्प्रतिपाद्यते "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, द्वा सुपर्णे"त्यादावनेकत्वञ्च प्रतिपाद्यत इति चेन्न । अस्यार्थस्य युक्तिमूलत्वाभावात् , श्रुतिभिरेव परस्पराविरोधेन यथार्थं निर्णीतत्वात् । तथा सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः स्वरूपतो ब्रह्माभिन्नत्वासम्भवात्तज्जत्वादिना तदधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्तयैव खलु ब्रह्माभिन्नत्वम् । स्वरूपतस्तु चिदचिद्ब्रह्मपदार्थानां भेद एव, द्वैतश्रुतिप्रामाण्यात् , यथा पत्रपुष्पादीनां स्वरूपतो भिन्नानां पृथक्प्रवृत्त्याद्यभावात् वृक्षाभिन्नत्वं, यथा चेन्द्रियाणां स्वरूपतः प्राणभिन्नानामपि प्राणायत्ततया प्राणाभिन्नत्वमविरुद्धम् । इत्थं जगद्ब्रह्मणोर्भेदाभेदौ स्वाभाविकौ श्रुतिस्मृतिसूत्रसाधितौ भवतः, कोऽत्र विरोधः । एवमेव भिन्नाभिन्नलक्षणं जगद्ब्रह्मसम्बन्धं वाक्यशेषो द्रढयति । "तज्जलानिती"ति इतिशब्दो हेतुवचनः, यतस्तस्मात्परमकारणाज्जायत इति तज्जं, तस्मिल्लीयत इति तल्लं, तस्मिन्ननिति चेष्टत इति तदनं, तज्जञ्च तल्लञ्च तदनञ्च तज्जलान् । अवयवलोपश्छान्दसः । किञ्च एकस्मिन जगत्कारणे प्रमाणप्राप्ते बहूनां परमाणूनां कारणत्वं नोपपद्यते, गौरवात्तेषां जडत्वेन कारणत्वा-

सम्भवाच । एकस्मिन्वेदवेद्ये मोक्षप्रदे सति सिद्धानुग्रहान्मोक्षो दुर्घटः, असम्भवात् । सिद्धानुग्रहः आराधनसापेक्षः न वा ? आद्ये, सिद्धानां समानस्वभावानामेकतमस्याराधनेन मोक्षो न भवेत् , बहूनां सिद्धानामुपेक्षादोषात्सर्वेषामाराधने गौरवं स्यात् , अस्ति चेदेको महान् तर्हि सेश्वरपक्षे प्रविष्टो भवान् । द्वितीये, सर्वमोक्षप्रसङ्गः । किञ्च सिद्धसत्त्वे प्रत्यक्षादिप्रमाणाभावात्सिद्धानुग्रहान्मोक्षो दुर्घटः ॥ ३३ ॥

सू० एवञ्चाऽऽत्माऽकार्त्स्न्यम् ॥ २ । २ । ३४ ॥

(वे०पा०सौ०) एवं शरीरपरिमाणत्वेनाङ्गीकृतस्यात्मनो बृहद्देहमासावपूर्णता स्यात् ॥ ३४ ॥

(वे०कौ०) तन्मते यथैकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धधर्मासम्भवरूपो दोषः, एवं तदभिमते देहपरिमाणे जीवेऽपि दोषोऽस्ति । को दोषः ? शृणु ! देहपरिमाण आत्मा कर्मवशात्पिपीलिकाशरीरं विहाय गजशरीरं यदाऽऽप्नोति तदा तस्याऽकार्त्स्न्यं स्यात् । गजशरीरानुरूपं परिपूर्णत्वं न स्यात् । गजाकारादेहान्निर्गतस्य चात्मनः सूक्ष्मशरीरे प्रविष्टस्य तदनुरूपं सूक्ष्मत्वञ्च न स्यादित्यर्थः ३४

सू० न च पर्य्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः॥ २ । २ । ३५॥

(वे०पा०सौ०) उपचयापचयाहीवयववानात्माऽतो न विरोधः, इति न न वक्तुं शक्यम्, विकारित्वादिदोषप्रसक्तेः ॥ ३५ ॥

(वे०कौ०) न च वाच्यं सावयवो हि खल्वस्माकमात्मा, तस्यावयवानां गजशरीरे उपचयः सूक्ष्मशरीरे उपचयश्चेत्येवं पर्य्यायादविरोध इति । कुतः ? "विकारादिभ्यः ।" विकारादिदोषप्रसङ्गात् । यदि भवन्मते आत्मा सावयवस्तर्हि देहादिव द्विकारी स्यादनित्यश्च स्यात् , एवमादयो दोषाः स्युः ॥ ३५ ॥

सू० अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ २ । २ । ३६॥

(वे०पा०सौ०) अन्त्यस्य परिमाणस्य नियततामङ्गीकृत्यादिमध्ययोरपि नित्यत्वमस्तीति चेत्तर्हि सर्वत्राविशेषः स्याद्भिनष्टो देहपरिमाणवादः ॥ ३६ ॥

(वे०कौ०) चरमदेहविनाशानन्तरं यन्मोक्षदशायां परिमाणं स्वरूपञ्च तद्धि नित्यम्भवति । तदा सूक्ष्मस्थूलशरीरपरिग्रहाभावात्तस्य सङ्कोचविकाशाभावो भवति । एवम्भूतस्यान्त्यस्य परिमाणस्य स्वरूपस्य चावस्थितेरुभयोराद्यमध्ययोरवस्थयोरपि नित्यत्वमिष्यते आर्हतैस्तस्माच्च सर्वत्राविशेषः स्यादित्यर्थः । स्थूलशरीरे सूक्ष्मशरीरे बद्धावस्थायां मोक्षावस्थायाञ्च नित्यनियतपरिमाण आत्मा स्यात्, शरीरपरिमाणप्रतिज्ञा बालभाषिता स्यादिति संक्षेपः। अतो भ्रान्तिमूलेन दिगम्बरपक्षेणापि नास्मत्सिद्धान्तस्य विरोध इति सिद्धम् ॥३६॥ इत्येकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम्॥६॥

सू० पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ २ । २ । ३७ ॥

(वे०पा०सौ०) पाशुपतं शास्त्रमुपेक्षणीयम्, जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणप्रतिपादकवेदविरोधित्वादुपधर्मप्रवर्त्तकत्वाच्च ॥ ३७ ॥

(वे०कौ०) इदानीं पशुपतिमतं निरस्यते ।

वेदविरुद्धवादिनः पूर्वत्र निराकृता, माहेश्वरा अपि तादृशा एव । ते चतुर्विधाः कापालाः कालामुखाः पाशुपताः शैवाश्चेति । तत्प्रवृत्तिकारणं पशुपतिप्रणीतं शास्त्रम् । महेश्वरेण पशुपतिना प्रणीता पञ्चाध्यायी प्रसिद्धा । तत्र पञ्च पदार्थाः सन्ति कारणं कार्य्यं योगो विधिर्दुःखान्त इति। कारणं प्रधानमीश्वरश्च, तत्र प्रधानमुपादानकारणमीश्वरं निमित्तकारणं मन्यन्ते। कार्यं महदादि । योगः "ओङ्कारमभिध्यायात्सकृदिति कुर्योद्धारणमि"त्येवमुक्तः । विधिस्त्रिषवणस्नानादिगूढचर्यावसानः । मोक्षो दुःखा-

न्त इति । तत्र पाशुपताः कापालाश्च मोक्षावस्थायामात्मा पाषाणकल्पो भवतीत्याहुः । शैवाश्चैतन्यमात्मानं मुक्तमाचक्षते । तेषामन्येप्युपनिबन्धाः सन्ति तत्तद्विशेषबोधकाः । ते च माहेश्वराः भगवन्मायामोहितबुद्धयो वेदविरुद्धं श्रेयःसाधनं शिष्टैरनाचरितं यथेच्छं वदन्ति कुर्वन्ति च । यथाहुः कापालाः "मुद्रिकापट्कतत्त्वज्ञः परमुद्राविशारदः । भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वा निर्वाणमृच्छति । कण्ठिका रुचकश्चैव कुण्डलञ्च शिखामणिः । भस्म यज्ञोपवीतञ्च मुद्रापट्कम्प्रचक्षते । आभिर्मुद्रितदेहस्तु न भूय इह जायते" इत्यादि । तथा कालामुखाः "कपालपात्रशवभस्मस्नानतत्प्राशनलगुडधारणसुराकुम्भस्थापनतदाधारदेवतापूजादिकमैहिकामुष्मिकसकलफलसाधनमि"त्याचक्षते । शैवागमेऽपि "रुद्राक्षं कङ्कणं हस्ते जटा चैका च मस्तके । कपालं भस्मना स्नान"मित्यादि । किञ्च गर्दभीवाग्बाणपीडितमतङ्गाद्युपाख्याने महाभारते इतरजातीयस्य ब्राह्मण्यं सम्वत्सरसहस्रसञ्चितैरपि तपोभिर्दुर्लभमिति निपुणं प्रपञ्चितम् । तदितरजातीयस्य "दीक्षाप्रवेशमात्रेण ब्राह्मणो भवति क्षणात् । कापालं व्रतमास्थाय यतिर्भवति मानवः ॥" इत्यादिना सुलभं वदन्ति । तत्रेदमुच्यते पत्युरित्यादि । नेत्यनुवर्तते । पत्युः पशुपतेर्मतं नोपपद्यते । कुतः ? असामञ्जस्यात् , "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति", "सच्च त्यच्चाभवदे"तदात्म्यमिदमि"त्यादिश्रुतिविरुद्धकारणद्वयप्रतिपादनाच्चन्मतस्यासामञ्जस्यात् । किञ्च प्रणवपूर्वकध्यानशवभस्मस्नानादेः परस्परविरुद्धत्वादसामञ्जस्यमेव तन्मतस्य ॥ ३७ ॥

सू० सम्बन्धानुपपत्तेश्च । २ । २ । ३८ ॥

(वे०पा०सौ०) पशुपतेरशरीरस्य प्रेरकस्य प्रेर्यप्रधानादिभिः सम्बन्धानुपपत्तेश्च न पशुपतिर्जगद्धेतुः ॥ ३८ ॥

(वे०कौ०) इतोऽपि पशुपतेर्मतं नोपपद्यते । कुतः ? पशुपतेर्निमित्तकारणस्य प्रेरकस्य प्रेर्यप्रधानादिभिः सम्बन्धो वाच्यस्तदनुपपत्तेः । तथाहि माहेश्वराः प्रष्टव्याः ! किं भवन्तः श्रुत्यनुसारिणः दृष्टानुसारिणो वा ? आद्ये उक्तसिद्धान्तपरित्यागप्रसङ्गस्तस्य श्रुतिविरुद्धत्वात् । द्वितीये सशरीरस्यैव कुलालादेर्मृदादिसम्बन्धो दृष्टस्ततो न भवद्भिर्दृष्टानुसारिभिरशरीरस्य पशुपतेः प्रधानादिसम्बन्धः प्रतिपादयितुं शक्यः । तस्मादशरीरस्य प्रधानादिसम्बन्धतत्प्रेरकत्वाद्यसम्भवान्न जगद्धेतुत्वम् ॥ ३८ ॥

सू० अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ २ । २ । ३९ ॥

(वे०पा०सौ०) दृष्टविरुद्धत्वान्नित्यस्योत्तरभावित्वादनित्यस्य न शरीरस्यानुपपत्तेश्च न पशुपतिर्जगद्धेतुः ॥ ३९ ॥

(वे०कौ०) ननु सशरीरस्तर्हि स भवतु, नात्रोक्त दोष इत्यत्राह । सर्वव्यवहाराधिष्ठानं शरीरं तदनुपपत्तेस्तन्मतं नोपपद्यते । तथाहि पशुपतिशरीरस्य न तावन्नित्यत्वं सम्भवति, दृष्टविरोधात्, अन्यथा कुलालादिशरीराणामपि नित्यत्वापत्तिः स्यात् । न चानित्यत्वं तच्छरीरस्य सम्भवति, जगत्कारणस्यानित्यशरीरानर्हत्वात् । निखिलस्यानित्यपदार्थस्य कार्यत्वेनोत्तरभावित्वात्कारणस्य पशुपतेः पूर्ववर्त्तित्वाच्च ॥ ३९ ॥

सू० करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ २ । २ । ४० ॥

(वे०पा०सौ०) जीववत्करणकलेवरकल्पनाऽपि न सम्भवति, भोगादिप्रसक्तेः ॥ ४० ॥

(वे०कौ०) ननु यथाऽनादिसिद्धस्य जीवस्याशरीरस्य पूर्वपूर्वकरणकलेवरनिबन्धनः उत्तरोत्तरकरणकलेवरसम्बन्धोऽस्ति, तद्वत्पशुभर्तुरपि भवतु नेह कश्चिद्दोष इति चेन्न । भोगादिभ्यो दोषेभ्यः । अयमर्थः । यदि जीववदीश्वरस्य तादृशशरीरसम्बन्ध-

स्तर्हि सुखदुःखभोक्तृत्वतन्निदानपुण्यापुण्यकर्मकर्तृत्वादयो दोषाः सर्वे तस्यापि भवेयुरिति ॥ ४० ॥

सू० अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ २ । २ । ४१ ॥

(वे० पा० सौ०) तस्य पुण्यादिरूपादृष्टयोगेऽन्तवत्त्वमज्ञत्वञ्च स्यात् ॥ ४१ ॥

(वे०कौ०)नच वाच्यमीश्वरस्य भोगादिप्रसङ्गेऽपि को दोषः, भास्करस्योपरि प्रपतितो हिमकणः किं करिष्यतीति । अयुक्तत्वात् । अज्ञाननिबन्धनसंसारहेतुभूतपुण्यापुण्यकर्माचरणतद्विपाकभोगयोगादन्तवत्त्वं सृष्ट्यन्तःपातित्वमज्ञत्वञ्चेश्वरस्याप्यवश्यं स्यात्, इतरथा जीवानामप्यसंसारित्वं प्रसज्येतेति संक्षेपः । तस्मान्माहेश्वरैर्नोक्तसिद्धान्तस्य विरोध इति सिद्धम् ॥ ४१ ॥ इति पशुपत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

सू० उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ २ । २ । ४२ ॥

(वे०पा०सौ०) पुरुषमन्तरेण शक्तेः सकाशाज्जगदुत्पत्त्यसम्भवान्न तत्कारणवादोऽपि साधुः ॥ ४२ ॥

(वे०कौ०) इदानीं प्रसङ्गाच्छक्तिरेव जगज्जनयित्रीति शाक्तानां भ्रान्तिं निराकरोति ।

नेत्यनुवर्त्तते । शक्तिर्न विश्वस्य कारणम् । कुतः ? पुरुषसंसर्गं विना शक्तेः सकाशाद्विश्वोत्पत्तेरसम्भवात् । शक्तीनां सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गः प्रसज्येत, तासां पुरुषतन्त्रत्वाभावात् ।

यद्वा जगतो नित्यत्वेनोत्पत्त्यसम्भवाच्च शक्तेस्तद्धेतुत्वम्, जगतो जन्यत्वे प्रमाणाभावात् । वेदः प्रमाणं चेत्तर्हि तत्प्रमाणकं जगत्कारणं ब्रह्माप्यस्त्येव, निर्मूलः शक्तिकारणवाद उपेक्षणीयः ४२

सू० न च कर्त्तुः करणम् ॥ २ । २ । ४३ ॥

(वे०पा०सौ०) पुरुषसंसर्गोऽस्तीति चेत्, पुरुषस्य करणं नास्ति तदानीम् ॥ ४३ ॥

(वे०कौ०) शक्त्यनुग्राहकः कर्त्ताऽस्ति, जगतो जन्यत्वमपि दृष्टानुसारेणानुमीयतेऽतो नोक्तदोषः, तर्हि कर्त्तुः करणं न सम्भवति, सृष्टेः प्राक्करणाभावात् । तदभावे पुरुषस्यानुग्राहकत्वं न सम्भवति । आकाशादेर्घटादिसादृश्याभावेन जन्यत्वञ्च न सिध्यति । चकारादसति पुरुषे कर्त्तरि, न शक्तेः कारणत्वम् ॥ ४३ ॥

सू० विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ २ । २ । ४४ ॥

(वे०पा०सौ०) स्वाभाविकविज्ञानादिभावे खलु जगत्कर्तृत्वे कः प्रतिषेधः ? स्वतो विनष्टः शक्तिवादः, ब्रह्मस्वीकारात् ॥ ४४ ॥

(वे०कौ०) वाशब्दस्त्वर्थे । स्वाभाविकज्ञानबलादिगुणगणनिकेतभूताऽन्यनिरपेक्षस्वभावा स्वाश्रया शक्तिरित्येवम्भूते विज्ञानादिभावेऽङ्गीकृते तु, तदप्रतिषेधः विश्वहेतुत्वं न प्रतिषिध्यते । "सर्वोऽपिता चे"त्यत्र सर्ववेदान्तवेद्या देवतोक्ता सा भवद्भिः स्वीकृता, न सा कस्याचिच्छक्तिः, स परा देवता ब्रह्मादिपदाभिधेया । स्वत एव परास्तः शक्तिवाद इति भावः ॥ ४४ ॥

सू० विप्रतिषेधाच्च ॥ २ । २ । ४५ ॥

(वे०पा०सौ०) श्रुतिस्मृतिविप्रतिषेधाच्च शक्तिपक्षोऽप्रामाणिकः ४५

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वे० पा० सौरभे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

(वे०कौ०) "पुरुष एवेदं सर्वं, परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वम्प्रवर्त्तते"इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधाच्च शक्तिकारणवादो न मुमुक्षुभिरादरणीयः । तस्मात्सर्वेश्वरे सर्वात्मनि ब्रह्मणि श्रीकृष्णे श्रु

नियमन्वयो न कुतोऽपि विरुद्ध्यत इति सिद्धम् ॥ ४५ ॥ इत्युत्प-त्त्यसम्भवाधिकरणम् ॥ ८ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्तति० श्रीश्रीनिवासाचार्य्येण विरचिते शा० मी० भाष्ये द्वि० द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

द्वितीयाध्याये तृतीयपादारम्भः ।

(वे०पा०सौ०) परपक्षेण स्वपक्षस्याविरुद्धत्वं निरूपितमधुना श्रुतीनामन्योन्यविरोधाऽभावो निरूप्यते ।

सू० न वियदश्रुतेः ॥ २ । ३ । १ ॥

वियन्नोत्पद्यते । कुतः ? छान्दोग्ये तदुत्पत्त्यश्रवणादिति पूर्वपक्षः ॥ १ ॥

(वे०कौ०) एवं परपक्षाणां युक्त्याभासमूलत्वं प्रदर्श्येदानीं मुमुक्षूणां ब्रह्मणि जगत्कारणे श्रद्धातिशयसिद्धये तत्कार्यभूतवियदाद्युत्पत्तिं श्रुतीनामन्योन्यतोऽविरोधञ्च दर्शयति ।

वियदुत्पद्यते न वा ? इति संशये, पूर्वपक्षः[१] वियदाकाशं नोत्पद्यते, कुतः ? "अश्रुतेः" । तथा हि छान्दोग्ये सृष्टिप्रकरणे आकाशवायू विना "तत्तेजोऽसृजत"इत्यादिना तेजोऽबन्नानां त्रयाणामेव सृष्टिः श्रूयते इति ॥ १ ॥

(वे०पा०सौ०) तत्रोच्यते—

सू० अस्ति तु ॥ २ । ३ । २ ॥

"आत्मन आकाशः सम्भूतः" इति तैत्तिरीयकेऽस्ति वियदुत्पत्तिरिति ॥ २ ॥

(वे०कौ०) तत्राह—

तुशब्दः सिद्धान्तपक्षपरिग्रहे । छान्दोग्ये आकाशो-

---

(१) एकसूत्रेण ।

त्पत्तिश्रुत्यभावश्चेत्तैत्तिरीयके आकाशस्योत्पत्तिश्रुतिरस्ति "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इति ॥२॥

(वे०पा०सौ०) शङ्कते—

सू० गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च ॥ २ । ३ । ३ ॥

निरवयवस्याकाशस्योत्पत्त्यभावात्, "वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतमि"ति शब्दाच्च "आकाशः सम्भूतः" इति श्रुतिर्गौणी ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) एवं वियदुत्पत्त्यनुत्पत्तिश्रुत्योः प्राप्तं विरोधाभावं निराचिकीर्षुर्भगवान् ये केचिदाकाशोत्पत्तिं न मन्यन्ते तन्मतमाश्रित्य शङ्कते(१) ।

ननु "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्याकाशोत्पत्तिवादिनी श्रुतिर्गौणी भवितुमर्हति, यथा लोके "आकाशं करोती"त्यादिप्रयोगो गौणस्तद्वत् । तत्र हेतुः उत्पत्त्यसम्भवादिति, निरवयवस्याकाशस्योत्पत्तेरसम्भवात् । समानजातीयैः परमाणुभिः सावयवस्य भूम्यादेरुत्पत्तेरेव सम्भवात् । द्वितीयो हेतुः शब्दादिति । "वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतमि"त्याकाशेऽमृतशब्दाच्च ॥ ३ ॥

सू० स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् । २ । ३ । ४ ॥

(वे०पा०सौ०) एकस्य सम्भूतशब्दस्याकाशे गौणत्वमुत्तरत्र मुख्यत्वं तु "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मे"तिवत् स्यात् ॥ ४ ॥

(वे०कौ०) नन्वेकस्य सम्भूतशब्दस्याकाशे गौणत्वमुत्तरत्र मुख्यत्वञ्च कथं सम्भवतीत्यत्राह ।

यथा "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मे"तिब्रह्मशब्दस्य तपसि गौणत्वं जिज्ञास्ये मुख्यत्वम्, तथा सम्भूतशब्दस्याकाशे गौणत्वमुत्तरत्र मुख्यत्वमेकस्यैव स्यात् ॥ ४ ॥

(१) द्वाभ्यां सूत्राभ्याम् ।

(वे०पा०सौ०) शङ्का निराक्रियते—

सू० प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ २ । ३ । ५ ॥

आकाशादिवस्तुजातस्य ब्रह्माऽव्यतिरेकाद्ब्रह्मविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः अनुपरोधो भवति, आकाशस्यानुत्पन्नत्वे तु सविशेषव्यतिरेकः स्यात्, तस्मात्सा बाध्येत । सर्वस्य ब्रह्मापृथक्त्वञ्च "ऐतदात्म्यमिदमि"-त्यादिशब्देभ्यः ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) समाधानमाह ।

आकाशोत्पत्तिवादिनी तैत्तिरीयादिश्रुतिर्मुख्या भवति, न तु गौणी, यतः आकाशादेः प्रपञ्चस्योत्पत्त्यभ्युपगमे उपादानभूताद्विज्ञेयाद्ब्रह्मणः उपादेयभूतस्य कृत्स्नस्याकाशादेः प्रपञ्चस्याव्यतिरेकाद्घटात्पर्णादेरिवापृथक्त्वात् । "येनाश्रुतं श्रुतम्भवत्यमतम्मतमि"त्यादि एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः अहानिर्भवति, अन्यथा(१) प्रतिज्ञा हीयेत । अव्यतिरेकत्वे हेतुः "शब्देभ्यः" इति । "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"त्यादिशब्देभ्यः । यच्चोक्तं "गौण्यसम्भवाच्छब्दा"च्चेत्यत्र निरवयवस्योत्पत्त्यसम्भवादाकाशोत्पत्तिवादिनी श्रुतिर्गौणीति । तन्न । श्रुतिनिर्णीतेऽतीन्द्रियेऽर्थे तर्काप्रवृत्तेः । कथं तर्हि "वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतमि"त्यमृतत्वं सङ्गच्छते ? "अमरा देवाः" (२)इत्यादिवत् आकाशस्य चिरकालस्थायित्वं प्रतिपाद्यतेऽतोऽमृतत्वं सङ्गच्छते । यदप्युक्तं स्याच्चैकस्यापि ब्रह्मशब्दवदिति । तदपि न, ब्रह्मशब्दस्य द्विप्रयुक्तत्वेन दृष्टान्तस्य वैषम्यात् ॥ ५ ॥

(वे०पा०सौ०) उपसंहरति—

---

(१) आकाशादेः प्रपञ्चस्योत्पत्त्यनभ्युपगमे ।
(२) "अमरा निर्जरा देवाः" इत्यमरः ।

सू० यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् । २ । ३ । ६ ॥

"ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"त्यादिवाक्यैराकाशादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनेन विकारत्वं निश्चीयते, तथा च यावद्विकारमुद्भव एव गम्यते । "तत्तेजोऽसृजते"त्याद्याकाशस्यानुक्तिस्तेजआदेः सृज्यत्वेनोक्तिश्च लोकवदुपपद्यते । लोके देवदत्तपुत्रपूगं निर्दिश्य तत्र कतिपयानामुत्पत्तिकथनेन सर्वेषामुत्पत्तिरुक्ता भवति ॥ ६ ॥

(वे०कौ०) ननु छान्दोग्ये "आकाशस्योत्पत्त्यभावादुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी भवितुमर्हतीत्यत्राह ।

तु शङ्कानिवृत्तये । यावद्विकारं प्रपञ्चस्य विभाग एव गम्यते । "सदेव सौम्येदमग्र आसीदि"तीदम्पदवाच्यमाकाशादिकं सर्वं सृष्टेः प्राक्कारणात्मकं, "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमि"तिकारणविज्ञानेन विज्ञेयञ्च छान्दोग्यश्रुतयो वदन्ति । तस्मादाकाशादिप्रपञ्चस्य छान्दोग्ये कारणाद्विभाग उद्भव उक्त एव । कथं तर्हि आकाशं वायुञ्चानुक्त्वा तेजआद्युद्भव उक्तः ? तत्रोच्यते "लोकवत्" । लोके यथा कस्यचित्पुत्राणां मध्ये केषाञ्चिदुत्पत्त्युक्त्या सर्वेषामुत्पत्त्युक्तिः स्यात्तथा तेजआद्युत्पत्तिवचनेनाकाशाद्युत्पत्तिरुक्तैव । तस्माद्ब्रह्मोपादानकं वियदिति सिद्धम् ॥६॥

इति वियदधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ २ । ३ । ७ ॥

(वे०पा०सौ०) अनेन वियदुत्पत्तिन्यायेन वायुरपि व्याख्यातः ॥७॥

(वे०कौ०) इदानीं "वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतं सैषा अनस्तमिता देवता यद्वायुरि"त्यादिवाक्यैर्वायोः नित्यत्वबुद्धिः कस्यचित्स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमाह ।

एतेन वियदुत्पत्तिप्रतिपादनेन मातरिश्वनो वायोरप्युत्पत्तिर्व्याख्याता वेदितव्या, पूर्वपक्षसमाधानयोस्तुल्यत्वात् । अन-

स्तमितेतिलयप्रतिषेधस्त्वापेक्षिकः । अतो वायुरुत्पत्तिमानिति सिद्धम् ॥ ७ ॥ इति मातरिश्वाधिकरणम् ॥ २ ॥

सू॰ असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ २ । ३ । ८ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) सतो ब्रह्मणोऽसम्भवोऽनुत्पत्तिरेव, जगत्कारणेऽत्यन्तानुपपत्तेः ॥ ८ ॥

(वे॰कौ॰) ननु अमृतत्वेन श्रुत्युक्तयोर्वियद्वाय्वोरपि जनिर्यदस्ति तर्हि ब्रह्मणोऽप्युत्पत्तिरस्त्वित्यमां शङ्कामिदानीं निराकरोति ।

सतो ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य असम्भव एव जन्माभाव एव । कुतः ? अनुपपत्तेः । सर्वकारणस्योत्पत्त्यनुपपत्तेरन्यथा तस्यापि कारणान्तरं तस्यान्यत्कारणमित्यनवस्था स्यात्, "स कारणं कारणाधिपाधिपः" इति सर्वकारणत्वश्रवणात्, "न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" इति कारणान्तरस्य निषेधाच्च । अत एवा "जायमानो बहुधा व्यजायत" इति नित्यसिद्धस्याजस्यैव परमपुरुषस्य कार्यार्थं बहुधा प्रादुर्भावे श्रूयमाणेऽपि सम्भवाभाव इति सिद्धम् ॥ ८ ॥ इत्यसम्भवाधिकरणम् ॥ ३ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) पूर्वपक्षयति—

सू॰ तेजोऽतस्तथा ह्याह । २ । ३ । ९ ॥

मातरिश्वनस्तेजो जायते "वायोरग्निरि"तिश्रुतेः ॥ ९ ॥

(वे॰कौ॰) पूर्वत्र ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्योत्पत्तिमत्त्वं, ब्रह्म च जन्यत्वादिदोषास्पृष्टमित्युक्तमिदानीं क्रमतः उत्पद्यमानस्य वस्तुनस्तत्पूर्ववर्त्ति वस्तु कारणमुत तदन्तरात्मभूतं ब्रह्मेति विचार्य्यते ।

तेजः वायोरुत्पद्यते किं वा तदन्तरात्मभूताद्ब्रह्मण ? इति संशये[१], पूर्वः पक्षः तेजः कार्यम्, अतः सन्निहितात् कारणा-

(१) चतुर्भ्यः सूत्रेभ्यः ।

द्वायोरुत्पद्यते । तत्र प्रमाणमाह पूर्वपक्षी "वायोरग्नि"रिति तैत्तिरीयकश्रुतिस्तथैवाह ॥ ९ ॥

सू० आपः । २ । ३ । १० ॥

(वे०पा०सी०) तेजस आपो जायन्ते, "अग्नेराप" इतिश्रुतेः ॥१०॥

(वे०कौ०) अतस्तथा ह्याहेत्यनुवर्ततेऽतः सन्निहितादेव तेजस आपो जायन्ते, "अग्नेराप" इतिश्रुतिस्तथैवाह ॥ १० ॥

सू० पृथिवी । २ । ३ । ११ ॥

(वे०पा०सी०) अद्भ्यो भूर्भवति, "ता अन्नमसृजन्ते"तिश्रुतेः ११

(वे०कौ०) अद्भ्यः पृथिव्युत्पद्यते "ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः प्रजायेमही"ति "ता अन्नमसृजन्त" इतिश्रुतिस्तथाह । एवं सर्वत्राव्यवहितात्कारणात्कार्योत्पत्तिर्ज्ञेयेति ॥ ११ ॥

सू० पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ २ । ३ । १२ ॥

(वे०पा०सी०) अन्नपदेन भूरुच्यते, महाभूताधिकारात् । "यत्कृष्णं तदन्नस्ये"ति रूपश्रवणात्, "अद्भ्यः पृथिवी"ति शब्दान्तराच्च ॥१२॥

(वे०कौ०) "ता अन्नमसृजन्ते"ति श्रुतिगतस्यान्नशब्दस्य प्रयद्ङ्गात्पूर्वपक्षिमुखेनैवार्थः प्रकाश्यते । "यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवती"ति वाक्यशेषाद्व्रीहियवादि प्रकृतेनान्नशब्देन नोच्यते, किन्तु पृथिव्येवान्नशब्दवाच्या । कुतः ? "अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः" । तत्र "तत्तेजोऽसृजत तदपोऽसृजते"ति महाभूतोत्पत्त्यधिकारात् । वाक्यशेषे "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्ये"ति पृथिव्या[दि]रूपाच्च । समानप्रकरणे "अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी"ति च "तद्यदपां शरः आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभव"दिति शब्दान्तराच्च ॥ १२ ॥

(वे०पा०सी०) सिद्धान्तयति,

सू० तदभिध्यानात्तु तल्लिङ्गात्सः ॥ २ । ३ । १३ ॥

"बहुस्यामि"ति तदभिध्यानात्, "तदात्मानं स्वयमकुरुते"त्यादितज्ज्ञापकात् शास्त्राच्च परमपुरुषस्तदन्तरात्मा तत्कार्य्यस्रष्टेति ॥ १३ ॥

(वे०कौ०) सिद्धान्तमाह ।

तुशब्दात्पूर्वपक्षो व्यावृत्तः । स एव तेजआदिकार्य्याणां वाय्वाद्यन्तरात्मा परमकारणः सर्वेश्वरः श्रीवासुदेवः स्रष्टा । कुतः? "तदभिध्यानात्" । तस्य पुरुषोत्तमस्याभिध्यानात् "बहु स्यामि"ति सङ्कल्पात् । "तल्लिङ्गात्" तज्ज्ञापकाद्वाक्यकदम्बात्, "पृथिव्यां तिष्ठन् योऽप्सु तिष्ठन् यस्तेजसि तिष्ठन्यो वायौ तिष्ठन् य आकाशे तिष्ठन् तदात्मानं स्वयमकुरुते"त्यादेः । एतेन "तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्ते"त्यादावपि परस्यैवेक्षणं ज्ञेयम् । तस्मान्नान्यस्य वस्तुनः स्वातन्त्र्येण कर्त्तृत्वम् । सर्वत्र मुख्यो हेतुः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥१३॥ इति तेजोऽधिकरणम् ॥४॥

सू० विपर्य्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ २ । ३ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) अत उक्तसृष्टिक्रमात्प्रातिलोम्येन प्रलयक्रमोऽस्ति "पृथिव्यप्सु प्रलीयते" इत्यादिश्रुतेः, जललवणन्यायेनोपपद्यते च ॥ १४ ॥

(वे०कौ०) एवं भूतानामुत्पत्तिक्रमः संक्षेपतो निरूपितः । अथेदानीं प्रसङ्गात्तेषां प्रलयक्रमो निरूप्यते ।

किमुत्पत्तिक्रमेण लयक्रमः, आहोस्विदुत्पत्तिक्रमाद्विपर्य्ययेण? इति सन्देहे, पूर्वजस्य पदार्थस्य नाशेऽपि पाश्चात्यासम्भवादुत्पत्तिक्रमेणैवेति प्राप्ते, सिद्धान्तमाह "विपर्य्ययेण तु क्रमोऽत" इति । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत, आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी किं तदासीत्तस्मै सहोवाच न सच्चासच्च सदसदिति तस्मात्तमः सञ्जायते तमसो भूतादि-

भूतादेराकाशमाकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी तदण्डमभवदि"त्यादिश्रुतिप्रोक्तात्, "अनादिनिधनो देवस्तथाऽभेद्योऽजरामरः । अव्यक्त इति विख्यातः शाश्वतोऽथाक्षयोऽव्ययः । यतः सृष्टानि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ति च । सोऽसृजत्प्रथमं देवो महान्तं नाम नामतः । महान्ससर्जाहङ्कारं स चापि भगवानथ । आकाशमिति विख्यातं सर्वभूतधरः प्रभुः । आकाशादभवद्वारि सलिलादग्निमारुतौ । अग्निमारुतसंयोगात्ततः समभवन्मही"त्यादिस्मृतिसहस्रप्रतिपादिताच्च अतस्तत्त्वानामुत्पत्तिक्रमात् विपर्ययेण प्रातिलोम्येन प्रलयक्रमो बोध्यः । "पृथिव्यप्सु प्रलीयते आपस्तेजसि प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते आकाशमिन्द्रियेषु इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ भूतादिर्महति महानव्यक्ते" इत्यादिश्रुतेः, "जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे ! पृथिव्यप्सु प्रलीयते । ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ विलीयते ॥"इत्यादिस्मृतेश्च, लवणहिमादेर्जलभावदर्शनाच्चोपपद्यते । प्रकृतिमहदहङ्काराकाशाद्युत्पत्तिक्रमे सृष्टिवाक्येष्वयदनुक्तं तत्प्रलयवाक्यादनुसन्धेयम् । "आकाशमिन्द्रियेषु इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादा"वित्यस्येयं योजना । आकाशस्तन्मात्रेषु लीयते, तन्मात्राणि भूतादौ तामसाहङ्कारे लीयन्ते, इन्द्रियाणीन्द्रियेषु राजसाहङ्कारे, कार्यकारणयोरभेदविवक्षयेन्द्रियशब्देनाहङ्कारस्य ग्रहणात् । पृथिव्यादीनां गन्धादितन्मात्रद्वारा लयप्रदर्शनार्थं तन्मात्रेष्विति बहुवचनम् । अहङ्कारस्य त्रिविधत्वादिन्द्रियेष्विति बहुवचनमिति । इति व्युत्क्रमेण प्रलयो न कुतोऽपि विरुध्यते इति सिद्धम् ॥१४॥

इति विपर्ययाधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू० अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥ २ । ३ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) विज्ञानमनसी "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे"त्यादिलिङ्गात्परमात्मनः भूतानां चान्तराले स्यातामेवं प्राप्तेन क्रमेण पूर्वोक्तस्य क्रमस्य विरोध इति चेन्न। वाक्यस्य क्रमविशेषपरत्वाभावात्, "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे"त्यनेन ब्रह्मणः सकाशादेव विज्ञानमनसोः खादीनाञ्चोत्पत्तेरविशेषात्। प्रकृते भूतोत्पत्तिक्रमप्रतिपादके वाक्ये "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायु"रित्यादौ आत्मन आकाशस्य चान्तराले सृष्टिसंहारक्रमबोधकवाक्यान्तरप्रसिद्धानि विज्ञानमनसीत्यनेनोपलक्षितानि अव्यक्तमहदहङ्कारादीनि तत्त्वानि ज्ञेयानीति संक्षेपः ॥ १५ ॥

(वे०कौ०) जगन्निर्गमप्रवेशस्थानभूते ब्रह्मणि श्रीवासुदेवे ध्यानश्रद्धोत्पादनाय जगद्विरागाय च जगत्सृष्टिसंहारक्रमौ निरूपितौ। इदानीं ध्यानप्रयोजकयोर्विज्ञानमनसोरुत्पत्तिक्रमो भूतक्रमाविरोधेन निरूप्यते।

ननु पूर्वोक्तो भूतोत्पत्तिक्रमः विज्ञानमनसोरुत्पत्तिक्रमेण विरुध्यते। तथाहि विज्ञायते अनेनेति विज्ञानमिन्द्रियाणि, विज्ञानमनसी ब्रह्मणो भूतानाञ्चान्तराले स्याताम्, कुतः? "तल्लिङ्गात्" लिङ्ग्यते ज्ञायते येनेति लिङ्गं तस्यास्तयोः सृष्टेर्लिङ्गं तल्लिङ्गं तस्मात्, "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी"ति तत्सृष्टिगमकाद्वाक्यात्, अत अनेनक्रमेणोक्तक्रमस्य विरोध इति चेन्न। कुतः? "अविशेषात्"। ब्रह्मणः सकाशादेव विज्ञानमनसोः खादीनाञ्चोत्पत्तेरविशेषात्। "एतस्माज्जायते प्राण" इत्यादिवाक्यं ब्रह्मणः सकाशात्सर्वेषामुत्पत्तिमात्रं ब्रूते, न पूर्वोक्तेन क्रमेण विरुध्यते। तथैव "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियमनोऽन्नमि"त्यादयः श्रुतयोऽपि सर्वस्य ब्रह्मजन्यत्वं

वदन्ति, नतु क्रमविशेषम् । "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे"ति वाक्यस्थप्राणशब्दार्थस्त्वग्रे स्फुटीभविष्यति । एवञ्चास्ति त्वित्यनेन सूत्रकारैरेकदेशग्रहणेन संगृहीते "ध्यात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिषु भूतोत्पत्तिक्रमवादिवाक्येषु सृष्टिसंहारविषयकवाक्यान्तरसिद्धस्य "विज्ञानमनसी"त्यनेनोपलक्षितस्य प्रकृतिमहदादेरनुक्तांशस्यावश्यकत्वाद्योगोऽस्ति, नतु भूतोत्पत्तिक्रमवादिवाक्यानां वाक्यान्तरेण कोऽपि विरोधोऽस्तीति सिद्धम् ॥ १५ ॥ इत्यन्तराविज्ञानाऽधिकरणम् ॥ ६ ॥

सू० चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ २ । ३ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) जीवात्मा निर्णीयते । देवदत्तो जातो मृतः" इति व्यपदेशो गौणोऽस्ति, यतः "चराचरव्यपाश्रयः", शरीरभावे जन्ममरणयोर्भावित्वात् ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) अजात्परस्माद्ब्रह्मणो वियदादेर्जनिरुक्ता, तद्वज्जीवस्य जन्यत्वमस्ति न वेति इदानीं चिन्त्यते ।

अग्रिमसूत्रादात्मेतिपदं लभ्यते । आत्मा जीवात्मोत्पद्यते न वेति संशये, "देवदत्तो जातो मृत" इति व्यपदेशादात्मा जायते विनश्यति चेति पूर्वः पक्षस्तुशब्देनापनीयते । योऽयमात्मन उत्पत्तिविनाशयोर्व्यपदेशो लौकिकः स भाक्तः स्यात्, जीवविषये गौणोऽस्तीत्यर्थः । क तर्हि मुख्य इत्यत आह "चराचरव्यपाश्रयः" इति । जङ्गमाजङ्गमशरीरविषय इत्यर्थः । कुतः? "तद्भावभावित्वात्" । तद्भावे शरीरभावे उत्पत्तिविनाशयोर्भावित्वात्, "अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः" इतिश्रुतेः ॥ १६ ॥

सू० नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ २ । ३ । १७ ॥

(वे०पा०सौ०) जीवात्मा नोत्पद्यते । कुतः ? स्वरूपतस्तदुत्पत्तिवचनाभावात्, "न जायते म्रियते वा विपश्चित्, नित्यो नित्यानां, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते" इत्यादिश्रुतिभ्यो जीवस्य नित्यत्वावगमाच्च॥ १७ ॥

(वे०कौ०) ननु "स्वर्गकामो यजेते"त्यादिवाक्यात् लोकान्तरगतैश्वर्योपायादिलक्षणात् "देवदत्तो जातो मृतः" इति व्यपदेशः शरीरजन्मनाशविषयो भवतु, किन्तु सृष्टिसंहारकालिकौ किलाऽऽकाशादेरिव जीवस्यापि जन्मनाशौ स्यातां, न तथा केनापि वाक्येन कश्चिद्विरोध इति। अत्र ब्रूमः नाऽऽत्माश्रुतेरिति । आत्मेत्येकवचनं जात्यभिप्रायम् । "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामि"ति जीवबहुत्वबोधकश्रुतेः, "असन्ततेश्चाव्यतिकर" इति वक्ष्यमाणाच्च आत्मा न जायते न च म्रियते । कुतः ? "अश्रुतेः" । सृष्टिसंहारकालिकात्मजन्मनाशविषयकश्रुत्यभावात् । प्रत्युत ताभ्यः "अविनाशी वा अरे ! अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा, न जायते म्रियते वा विपश्चित्, नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्, ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इत्यादिभ्यः श्रुतिभ्य आत्मनो नित्यत्वावगमाच्च । "न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः । न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् । कथं स पुरुषः पार्थ ! कं घातयति हन्ति कम् ॥" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च। ननु "सर्वे एते आत्मानो व्युचरन्ति, यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिस्तोयेन जीवान्विससर्ज भूम्याम्, प्रजापतिः प्रजा असृजत, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वा प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसं-

विशन्ति" इत्याद्याः सचेतनजगदुत्पत्तिवादिन्यः श्रुतयः सन्ति, तस्माज्जीवस्य जन्मनाशनिषेधो न युक्तः, अत एवैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धिरिति चेन्न । उक्तश्रुतीनां प्रलयकालिकस्वास्थ्यपरित्यागपूर्वकदेहादिसंयोगहेतुकज्ञानविकाशलक्षणजीवोद्भवबोधकत्वादेवं सति जीवस्यापि ब्रह्मकार्यत्वात्तादृशप्रतिज्ञासिद्धेश्च "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमि"त्यविभक्तनामरूपशक्तिकं स्वसमानातिशयशून्यं कारणावस्थं ब्रह्म कार्यकालेऽभिव्यक्तनामरूपशक्तिमत्तया स्वयमेव भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपेण त्रिधाऽवस्थितं भवतीति, नेह केनचिद्वाक्येन विरोध इति सिद्धम् ॥ १७ ॥ इत्यात्माधिकरणम् ॥ ७ ॥

सू० ज्ञोऽत एव ॥ २ । ३ । १८ ॥

(वे०पा०सौ०) अहमर्थभूत आत्मा ज्ञाता भवति ॥ १८ ॥

(वे०कौ०) एवं वियदादिवज्जीवो नोत्पद्यते श्रुतिभ्यो नित्यत्वादिरयुक्तमिदानीं प्रसङ्गात्तत्स्वरूपादि निर्णीयते ।

पूर्वसूत्रादात्मेत्यनुवर्त्तते । अत इत्यनेन ताभ्य इति हेतुः परामृश्यते । किमात्मा ज्ञानगुणको जडस्वरूपः, किंवा चिन्मात्रमथवा ज्ञानस्वरूपो ज्ञातृत्ववानिति संशये, वैशेषिकादयश्चाहुः—ज्ञानगुणको जड—इति । साङ्ख्यादयश्चिन्मात्रमात्मेति वदन्तीति । अत्रोच्यते "ज्ञ" इति । जीवात्मा ज्ञ एव ज्ञानस्वरूपत्वे सति ज्ञातृत्ववानेव । कुतः ? "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्, विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्, जानात्येवायं पुरुषः, एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मे"त्यादिश्रुतिभ्यः । जडात्मवादस्तु गुणभूतस्य ज्ञानस्यैव सर्वव्यवहारनिर्वाहकत्वेन प्राधान्यप्रसङ्गा-

जडस्य गुणिनो मोक्षबन्धगुणदोषानर्हत्वेनाजागलस्तनवद्प्राधान्यप्रसङ्गात्, श्रुतिविरुद्धत्वाच्चोपेक्षणीयः । चैतन्यमात्रवादोऽपि चैतन्यमात्रस्य सर्वगत्वे सर्वशरीरगतसुखाद्यनुभवानुपलम्भात्, अणुपरिमाणत्वे च करचरणादिगतसुखाद्यनुभवाभावप्रसङ्गाच्चोपेक्षणीयः । तस्मादहम्प्रत्ययगोचरोऽयमात्मा ज्ञानस्वरूपो ज्ञातेति सिद्धम् ॥ १८ ॥ इति ज्ञाधिकरणम् ॥ ८ ॥

सू० उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ २ । ३ । १९ ॥

(वे०पा०सौ०) जीवोऽणुः अनेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः, ये वै केचनास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति, तस्माल्लोकात् पुनरेत्याऽस्मै लोकाय कर्मणे" इत्युत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात् ॥ १९ ॥

(वे०कौ०) एवञ्जीवात्मनो नित्यत्वं ज्ञातृत्वञ्च निरूपितमिदानीं तत्परिमाणं निरूप्यते ।

अयमात्मा मध्यमपरिमाणकः, उत विभुपरिमाणकः, आहोस्विदणुपरिमाणकः ? इति संशये, मध्यमपरिमाणको भवतु, शरीरे सर्वत्र सुखाद्युपलब्धेः, अथवा विभुपरिमाणकः, इति प्राप्तेऽभिधीयते "जीवात्मोत्क्रान्तिगत्यागतीनां योग्योऽस्ति, एतत्त्रयं तस्य विभुत्वे नोपपद्यते । किञ्च विभुत्वे सर्वत्र सुखाद्युपलब्धिः प्रसज्येत, मध्यमपरिमाणकत्वे त्वनित्यता स्यात्तस्मादात्मनोऽणुत्वं परिशिष्यते । "स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामती"त्युत्क्रान्तिः श्रूयते । "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते गच्छन्ती"ति गतिः श्रूयते । "तस्माल्लोकात्पुनरेत्याऽस्मै लोकाय कर्म्मणे" इत्यागतिः श्रूयते ॥ १९ ॥

सू० स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २ । ३ । २० ॥

(वे०पा०सौ०) उत्क्रान्तिः कदाचित् स्थिरस्यापि ग्रामस्वाम्यनि-

वृत्तिवत्स्यादुत्तरयोः स्वात्मनैव सम्भवाज्जीवोऽणुः ॥ २० ॥

(वे०कौ) ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिवदुत्क्रान्तिर्देहस्वाम्यनिवृत्ति-रूपा कदाचित् स्थितस्याप्यात्मनः स्यात् , उत्तरयोर्गत्याऽऽगत्योस्तु आत्मना स्वरूपेणैव साध्यत्वाज्जीवोऽणुरिति गम्यते॥२०॥

सू० नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २।३।२१ ॥

(वे०पा०सौ०) जीवम्प्रस्तुत्य, "स वा एष महानि"त्यतद्वचनात् न जीवोऽणुरिति चेन्न । मध्ये परमात्मनोऽधिकारात् ॥ २१ ॥

(वे०कौ०) ननु जीवो नाणुः, कुतः ? अतच्छ्रुतेः । तदणुत्वमतदनणुत्वं तस्य श्रुतेः "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिरि"ति जीवप्रस्तावे "स वा एष महानज आत्मे"ति महत्त्वश्रुतेरिति चेन्न । कस्मात् ? इतराधिकारात् । उपक्रमे प्रस्तुताज्जीवादितरस्य "यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मे"ति मध्ये प्रतिपाद्यस्य परमात्मनोऽधिकारात् ॥ २१ ॥

सू० स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च ॥ २ । ३ । २२ ॥

(वे०पा०सौ०) एषोऽणुरात्मा,"वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च, भागो जीव" इति स्वशब्दोन्मानाभ्यां जीवोऽणुः ॥ २२ ॥

(वे०कौ०) स्वस्याणुत्वस्य वाचकः शब्दः स्वशब्दः, सर्वेभ्यः स्थूलपरिमाणेभ्य उद्धृत्य मानमुन्मानमत्यल्पं परिमाणम् , ताभ्यां च जीवोऽणुः । "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेशे"ति स्वशब्दः । बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥" इति, "आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" इति चोन्मानम् ॥ २२ ॥

सू० अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २ । ३ । २३ ॥

(वे०पा०सौ०) देहैकदेशस्थोऽपि कृत्स्नं देहं चन्दनबिन्दुर्यथाऽऽ-

ल्हादयति तथा जीवोऽपि प्रकाशयति, अतः कृत्स्नशरीरे सुखाद्यनुभवो न विरुध्यते ॥ २३ ॥

(वे०कौ०) नन्वात्मनोऽणुपरिमाणकत्वे कृत्स्नदेहव्यापिसुखाद्यनुभवः कथमुपपद्यते इति। अत्रोच्यते। नायं विरोधः, यथा हरिचन्दनबिन्दुर्देहैकदेशस्थः स्वगुणेन सकलदेहाह्लादञ्जनयति, तथा जीवोऽपि देहैकदेशस्थः स्वगुणेन कृत्स्नदेहव्यापिसुखादिकमनुभवति, "अणुमात्रोऽप्ययञ्जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति । यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविप्लुषः॥" इति स्मृतेः। अतएव भगवताऽप्युक्तम् "यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नम्प्रकाशयति भारत ॥" इति ॥ २३ ॥

सू० अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाऽभ्युपगमात् हृदि हि ॥ २ । ३ । २४ ॥

(वे०पा०सौ०) अवस्थितिविशेषभावाद्दृष्टान्तवैषम्यमिति चेन्न। देहैकदेशे हरिचन्दनवत् हृदि ह्ययमात्मेति जीवावस्थित्यभ्युपगमात ॥२४॥

(वे०कौ०) ननु चन्दनदृष्टान्तो न युक्तः, अवस्थितिवैशेष्यात् , चन्दनबिन्दोरवस्थितिर्देहैकदेशे प्रत्यक्षतो दृश्यते, जीवस्यावस्थितिस्तु देहैकदेशे न ज्ञायते, सर्वत्र चैतन्योपलब्धेरित्येवमुभयोरवस्थितिवैलक्षण्यादिति चेन्न । कुतः ? अणुपरिमाणस्य जीवस्यावस्थितिर्देहैकदेशे हृदि "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिरि"त्यादिश्रुतिभिरभ्युपगमात्। सकलशरीरेऽवस्थितिस्तु धर्मभूतस्य ज्ञानस्येति हिशब्दार्थः ॥ २४ ॥

सू० गुणाद्वालोकवत ॥ २ । ३ । २५ ॥

(वे०पा०सौ०) देहप्रकाशो जीवगुणादेव, कोष्ठे दीपालोकादिवत ॥ २५ ॥

(वे०कौ०) ननु धर्म्मधर्म्मिवादो न युक्तः । स्वरूपमात्रेणै-वेष्टसिद्धिरत्राह ।

वाशब्दः शङ्कानिराकरणार्थः । देहैकदेशस्थस्याणुपरिमा-णकस्यात्मनो व्यापकात् ज्ञानलक्षणाद्गुणात्सकलशरीरगतसुखा-द्युपलब्धिसिद्धिर्नान्यथेत्यर्थः । "लोकवत्" लोके मणिद्युमणि-दीपादयः एकदेशस्था अपि गुणैरेव स्वस्वानुरूपान्बहून्देशान्प्र-काशयन्ति । "आलोकवदि"ति वा छेदः, मण्यादीनामालोकवत् । साङ्ख्याद्यभिमतो निर्धर्म्मकात्मवादः शङ्किराकृत एव ॥ २५ ॥

सू० व्यतिरेको गन्धवत्तथा हि दर्शयति ॥ २ । ३ । २६ ॥

(वे०पा०सौ०) गुणभूतस्य ज्ञानस्य व्यतिरेकस्तु गन्धवदुपपद्यते, एतादृशगुणाश्रयजीवं "स एष प्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यः" इति श्रुतिदर्शयति ॥ २६ ॥

(वे०कौ०) इद्धतर्जीवाद्गुणिनस्तद्गुणभूतस्य ज्ञानस्य व्य-तिरेकः अधिकदेशवृत्तित्वं गन्धवत्, अल्पदेशस्थात्पुष्पाद्गन्धस्या-धिकदेशवृत्तित्ववदित्यर्थः । अधिकदेशवृत्तिज्ञानगुणेन सकलश-रीरवृत्तित्वमात्मनो दर्शयति श्रुतिः "स एष प्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यः" इति ॥ २६ ॥

सू० पृथगुपदेशात् ॥ २ । ३ । २७ ॥

(वे०पा०सौ०) जीवतज्ज्ञानयोर्ज्ञानत्वाविशेषेऽपि धर्मधर्म्मिभावो युक्त एव । कुतः ? "प्रज्ञया शरीरमारुह्ये"त्यादिपृथगुपदेशात् ॥ २७ ॥

(वे०कौ०) ननु ज्ञानमात्मतत्त्वमस्तु, तत्राणुर्धर्मी व्यापको धर्म इति भेदो न युक्त इत्याशङ्क्याह ।

धर्मिणो जीवाद्धर्मस्य "प्रज्ञया शरीरं समारुह्ये"ति "तदेषां प्रा-णानां विज्ञानेन विज्ञानमादाये"ति च पृथगुपदेशात् ज्ञान-त्वाविशेषेऽपि श्रुत्युक्तत्वात् धर्म्मधर्म्मिणोर्भेदो युक्त इत्यर्थः । नहि

साजात्यमभेदे नियामकम्, प्रभातद्वतोस्तैजसत्वाविशेषेऽपि भेददर्शनात् ॥ २७ ॥

सू॰ तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २।३।२८॥

(वे०पा०सौ०) बृहन्तो गुणा अस्मिन्निति ब्रह्मेति प्राज्ञवदात्मा विभुगुणत्वा"न्नित्यं विभुमि"ति व्यपदिष्टः, दृष्टान्ते बृहदेव प्राज्ञो गुणैरपि बृहद्भवति, दार्ष्टान्ते तु जीवोऽणुपरिमाणको गुणेन विभुरिति विशेषः ॥२८॥

(वे०कौ०) ननु जीवो यदि स्वरूपतोऽणुस्तर्हि "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं, नित्यः सर्वगतः स्थाणुः" इत्यादिविभुत्वप्रतिपादकवाक्यव्याकोपः स्यात्, नेत्याह ।

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । विभुगुणसारत्वाज्जीवस्य तद्व्यपदेशः "नित्यं विभुमि"त्यादिविभुत्वव्यपदेश उपपद्यते । "प्राज्ञवत्" प्राज्ञस्य बृहन्तो गुणा अस्मिन्निति ब्रह्मेतिश्रुत्या गुणयोगादपि बृहत्त्वमुच्यते । प्राज्ञस्य स्वतोऽपि बृहत्त्वादेकदेशिदृष्टान्तः । एवं विभुगुणत्वाद्विभुत्वव्यपदेशो न तु स्वरूपेण । अत्रेदं बोध्यम् । समानातिशयशून्यो विभुः श्रीपुरुषोत्तमो वासुदेवः, "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इति श्रुतेः । अन्येषां प्रकृतिकालजीवगुणादीनां विभुत्वं सापेक्षम् । एवम्भूतस्य जीवासाधारणधर्म्मस्य नित्यस्यापि सङ्कोचविकाशौ भवतः "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः । ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति भारत ! ॥" इति श्रीमुखवचनात् ॥ २८ ॥

सू॰ यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ २ । ३ । २९ ॥

(वे०पा०सौ०) जीवस्य गुणनिबन्धनो विभुत्वव्यपदेशो न विरुद्धः, गुणस्य यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वादविनाशी वा अरे ! अयमात्मे"ति तद्-

र्शनात् ॥ २९ ॥

(वे०कौ०) ननु जीवगुणस्यागमापायित्वे[१] तन्निमित्तकविभुत्वापगमादणोर्विभुत्वव्यपदेशो दोष एवात्राह ।

चकारः शङ्काव्यावृत्त्यर्थः । नित्य एव आत्मा, तद्गुणस्यापि यावदात्मभावित्वात् आत्मानुबन्धिनित्यधर्मत्वाद्विभुत्वव्यपदेशो न दोषः "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्, अविनाशी वा अरे! अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मे"ति यावदात्मभावित्ववादिवाक्यदर्शनात् ॥ २९ ॥

सू० पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥२।३।३०॥

(वे०पा०सौ०) अस्य ज्ञानस्य सुषुप्त्यादौ सत एव जाग्रदादावभिव्यक्तिसम्भवाद्यावदात्मभावित्वमेव । यथा पुंस्त्वादेर्बाल्ये सत एव यौवनेऽभिव्यक्तिः ॥ ३० ॥

(वे०कौ०) ननु जीवगुणभूतस्य ज्ञानस्य नित्यत्वञ्चेत्तर्हि सुषुप्त्यादौ कुतस्तदप्रतीतिरित्यत्राह ।

तुशब्दोऽवधारणे । जीवधर्मभूतस्य ज्ञानस्य यावदात्मभावित्वमेव । कुतः ? "सतोऽभिव्यक्तियोगात्" । अस्य धर्मभूतस्य ज्ञानस्य सुषुप्त्यादिषु सत एव, अनभिव्यक्तरूपेण विद्यमानस्यैव जागरादिषु अभिव्यक्तियोगात् । यथा बाल्ये सत एव पुंस्त्वादेर्यौवनेऽभिव्यक्तियोगः । औदार्यसौशील्यादयः सहजा गुणा आदिशब्देन गृह्यन्ते ॥ ३० ॥

सू० नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥ २।३।३१ ॥

(वे०पा०सौ०) सर्वगतात्मवादे आत्मोपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्बन्धमोक्षयोर्नित्यं प्रसङ्गः स्यान्नित्यबद्धो वा नित्यमुक्तो वाऽऽत्मेत्यन्यतरनियमो

(१) अभिव्यक्तानभिव्यक्तत्वे ।

वा स्यात् ॥ २१ ॥

(वे०कौ०) चेतनभूतात्मविभुत्ववादिमते दोषकथनार्थं सूत्रम् । अन्यथा ज्ञातृत्वाद्यात्मधर्मको ज्ञानस्वरूपोऽणुपरिमाणक आत्मेत्यस्मत्पक्षादन्यप्रकारके ज्ञानमात्रसर्वगतात्मवादे नित्यमुपलब्ध्यनुपलब्ध्योः प्रसङ्गः स्यात् । व्यापकस्यात्मनोऽनावृतत्वादुपलब्धिः, संसारसद्भावादनुपलब्धिरेवं युगपद्बन्धमोक्षौ प्रसज्येयाताम्, अन्यतरनियमो वा । अस्माकं तु जीवात्मनोऽणुपरिमाणत्वात् गत्यागत्योः आवृतत्वानावृतत्वयोर्गम्यगन्त्रोश्च सम्भवात् बन्धमोक्षव्यवस्थोपपद्यते । तत्र तूक्तलक्षणयोर्बन्धमोक्षयोरन्यतर एव प्रसज्येत । ज्ञानमात्रस्याचलस्यात्मनो नित्यं बन्ध एव स्यात्, अथवाऽपवर्ग एव स्यात् इति नियमः प्राप्नोति । तस्मात् ज्ञातृत्ववान् ज्ञानस्वरूपोऽणुपरिमाणो जीव इति सिद्धम् ॥ २१ ॥

इत्युत्क्रान्त्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

सू० कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ २ । ३ । ३२ ॥

(वे०पा०सौ०) आत्मैव कर्त्ता "स्वर्गकामो यजेत, मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीते"त्यादेर्मुक्तिभुक्त्युपायबोधकस्य शास्त्रस्यार्थवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

(वे०कौ०) इदानीं प्रसङ्गाज्जीवात्मनः कर्त्तृत्वं विचार्य्यते ।

जीवात्मा कर्त्ताऽस्ति, न वेति ? सन्देहे, "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥" इति कठवल्लीषु जीवात्मकर्त्तृत्वप्रतिषेधात्, "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥" इति भगवद्वचनाच्च गुणानां कर्तृत्वमस्ति, आत्मा त्वकर्त्तैवेति पूर्वपक्षे, ब्रूमः । आत्मैव कर्त्ताऽस्ति । कस्मात् ? "शास्त्रार्थवत्त्वात्" । "कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः, यजेत स्वर्गकामो, मुमुक्षुर्वै शरणं व्रजेत, सोऽन्वेष्टव्यः

स विजिज्ञासितव्यः, मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत, शान्त उपासीते"त्यादेर्मुक्तिमुक्त्यर्हचेतनापेक्षितसाधनबोधकस्य शास्त्रस्यार्थवत्त्वादचेतनानां तेषां कर्तृत्वे उपायबोधकशास्त्रस्यानर्थक्यं स्यात्। श्रुतिस्तु आत्मनो नित्यत्वेनाहन्तव्यत्वं दर्शयति, नतु कर्तृत्वनिषेधविषया सा, स्मृतिरपि प्राकृतगुणसम्मूढस्यात्मनः सांसारिकप्रवृत्तौ कर्तृत्वं प्राकृतगुणप्रयुक्तमिति दर्शयति। एतच्च श्रीमुखेनैवोक्तम्, "प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु" इति। गुणानां कर्तृत्वे आत्मनश्चाकर्तृत्वे "अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि। कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।" इत्यादिवाक्यानाञ्च बाधः स्यात्॥ ३२॥

सू० विहारोपदेशात्॥ २। ३। ३३॥

(वे०पा०सौ०) "स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते" इति विहारोपदेशात् कर्ता॥ ३३॥

(वे०कौ०) "स ईयतेऽमृतो यत्र काममि"ति, "स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तेत" इति च जीवकर्तृकविहारस्य सञ्चरणस्योपदेशाज्जीवः कर्त्तेत्यर्थः॥ ३३॥

सू० उपादानात्॥ २। ३। ३४॥

(वे०पा०सौ०) "एवमेवैष एतान्प्राणान् गृहीत्वे"ति उपादानश्रवणात्॥ ३४॥

(वे०कौ०) "स यथा महाराजः" इति प्रकृत्य, "एवमेवैष एतान्प्राणान्गृहीत्वे"ति "तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाये"ति चोपादानात् श्रूयमाणाज्जीवः कर्त्ता॥ ३४॥

सू० व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्य्ययः ॥२।३।३५॥

(वे०पा०सौ०) क्रियायां "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इति कर्तृत्वव्यपदेशाच्चात्मा कर्ताऽस्ति, यदि विज्ञानपदेन बुद्धिर्गृह्यते ननु जीवस्तर्हि करणविभक्तिप्रसङ्गः स्यात् ॥ ३५ ॥

(वे०कौ०) लौकिकवैदिकक्रियायां "विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्म्माणि तनुतेऽपि च" इति विज्ञानशब्दोदितस्य जीवात्मनः कर्तृत्वव्यपदेशाच्च जीवात्मा कर्ता । ननु विज्ञानशब्देन बुद्धिर्ग्राह्या, ननु जीव इत्यत आह न चेदिति । विज्ञानपदेन जीवो न गृह्यते, बुद्धेर्ग्रहणञ्चेत्तर्हि निर्देशविपर्य्ययः स्यात्, बुद्धेः करणत्वात् विज्ञानेनेति करणव्यपदेशः स्यात्, स तु नास्ति, तस्माद्यथोक्तविभक्त्या कर्तृत्वव्यपदेशोऽयं विज्ञानमिति । तस्माज्जीवः कर्त्तेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

सू० उपलब्धिवदनियमः ॥ २ । ३ । ३६ ॥

(वे०पा०सौ०) फलोपलब्धिक्रियायां नियमो नास्ति ॥ ३६ ॥

(वे०कौ०) नन्वयं जीवः कर्ता चेत्तर्हि पुण्याऽपुण्यक्रियाफलभूतमिष्टमनिष्टञ्चालोच्यानिष्टान्निर्विण्णो भूत्वेष्टसिद्धये तत्प्रदां क्रियामेव कुर्य्यादिति चेत्, नेत्याह ।

उपलब्धिवत् [यथा(१)च] प्रागनुष्ठितपुण्याऽपुण्यक्रियाफलभूतयोरिष्टानिष्टयोर्नियमेनोपलब्धिस्तद्वत्क्रियायां नियमो नास्ति, दैवयोगाच्छुभायां क्वचिदशुभायां च प्रवृत्तिदर्शनात् ॥ ३६ ॥

सू० शक्तिविपर्य्ययात् ॥ २ । ३ । ३७ ॥

(वे०पा०सौ०) बुद्धेः कर्तृत्वे करणशक्तिर्हीयेत, कर्तृशक्तिः स्यादतो जीव एव कर्त्ता ॥ ३७ ॥

---

(१) यथाऽस्य इति पाठभेदः ।

(वे०कौ०) ननु "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इत्यत्र विज्ञानशब्देन बुद्धेरेव ग्रहणं, सा च कर्त्री ततो न करणविभक्तिप्रसङ्गोऽत्राह । जीव एव कर्ता । बुद्धेः कर्तृत्वाङ्गीकारे शक्तिविपर्ययात् करणशक्तिर्हीयेत, कर्तृशक्तिः स्यात् । किञ्च बुद्धेः कर्तृत्वे भोक्तृशक्तिरपि बुद्धेरेव स्यात् । एवंसति बन्धमोक्षौ बुद्धेरेव प्रसज्येयाताम् ॥ ३७ ॥

सू० समाध्यभावाच्च ॥ २ । ३ । ३८ ॥

[वे०पा०सौ०] आत्मनोऽकर्तृत्वेऽचेतनमात्राव्यतिरिक्तकर्तृकसमाध्यभावप्रसङ्गादात्मा कर्ता ॥ ३८ ॥

(वे०कौ०) चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वकदेहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिविलक्षणस्वरूपचिन्तनानन्तरं ब्रह्मात्मकत्वेनावस्थानं समाधिरेवंलक्षणस्य मोक्षोपायभूतस्य समाधेर्जीवस्याकर्तृत्वेऽभावप्रसङ्गाच्च जीव एव कर्तेति गम्यते ॥ ३८ ॥

सू० यथा च तक्षोभयथा ॥ २ । ३ । ३९ ॥

[वे०पा०सौ०] आत्मेच्छया यथा तक्षा (तथा) करोति न करोतीत्युभयथा व्यवस्था सिध्यति, बुद्धेः कर्तृत्वे इच्छाभावाद्व्यवस्थाऽभावः ॥ ३९ ॥

(वे०कौ०) प्रवृत्तिनिवृत्तिस्वभावो यावदात्मवृत्तिकर्तृत्वादिगुणो वागादिकरणकलापसंयुतोऽपि इच्छया कार्यं करोति न करोति चेत्यात्मनः कर्तृत्वे उभयथाऽपि व्यवस्था सङ्गच्छते । यथा तक्षा वास्यादिकरणसंयुतोऽपि रथादिकमिच्छया करोति न करोति वा, बुद्धेस्तु वास्यादिवत् करणभूतायाः जडत्वात्प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा नोपपद्यते । चेतनसन्निधेश्च नित्यत्वेन प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतेच्छाद्यभावेन च सर्वदा प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा स्यात्तस्मादात्मैव कर्तेति सिद्धम् ॥ ३९ ॥

इति कर्त्रधिकरणम् ॥ १० ॥

सू० परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ २ । ३ । ४० ॥

[वे०पा०सौ०] तज्जीवस्य कर्तृत्वं पराद्धेतोरस्ति "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानामि"त्यादिश्रुतेः ॥ ४० ॥

(वे०कौ०) इदानीमुक्तं जीवस्य कर्तृत्वं परमात्माऽऽयत्तमुत स्वायत्तमिति विचार्य्यते।

उक्तं यज्जीवस्य कर्तृत्वं तत्स्वायत्तमुत परायत्तमिति संशये, स्वायत्तमेवेति, लोके कृष्यादिषु रागादिना स्वत एव जनः प्रवर्त्तते, नहि परमपेक्षते इति [१]पूर्वपक्षे, उच्यते। पराद्धेतुभूताज्जीवस्य कर्तृत्वमस्ति। तुशब्दः पूर्वपक्षनिषेधार्थः। न स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः। कुतः? "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां य आत्मानमन्तरो यमयती"त्यादिश्रुतेः। "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्चे"तिस्मृतेश्च ॥ ४० ॥

सू० कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः ॥ २ । ३ । ४१ ॥

[वे०पा०सौ०] वैषम्यादिदोषनिरासार्थस्तुशब्दः। जीवकृतकर्मापेक्षः परोऽन्यस्मिन्नपि जन्मनि धर्म्मादिकं कारयति विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४१ ॥

(वे०कौ०) ननु परमात्मनः कारयितृत्वे वैषम्यादि स्यादित्यत आह।

तुशब्द उक्तशङ्कानिरासार्थः। जीवेन कृतो यः प्रयत्नः धर्माधर्मलक्षणस्तदपेक्षः परमात्माऽन्यस्मिन्नपि जन्मनि धर्मादिकं कार-

(१) पूर्वपक्षे सिद्धान्त उच्यते इत्यपि पाठः।

यति, तदनुरूपं सुखादिकञ्च ददाति, अतो न वैषम्यादिप्रसङ्गः। ननु परस्य कुत एतत्कृतप्रयत्नापेक्षत्वमित्यत आह "विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः" इति । श्रीपुरुषोत्तमस्य कृतप्रयत्नसापेक्षत्वे "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत, ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादिविहितप्रतिषिद्धयोरवैयर्थ्यम्भवति। धर्मकृतो दुःखमधर्मकृतश्च सुखं सम्पादयेदित्यादिदोष आदिशब्दार्थः । परमात्मनः कर्मसापेक्षत्वाद्विहितप्रतिषिद्धकारयितृत्वेन निग्रहानुग्रहकर्तृत्वेन खलु वैषम्यादि नास्ति । "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वादि"त्यत्र तु विचित्रजगज्जननेन परस्य वैषम्यादि नास्तीत्युक्तमिति विवेकः । तस्माद्धि सर्वशक्तिः सर्वेश्वरः श्रीपुरुषोत्तमः पूर्वकृतधर्माधर्माद्यनुसारेण धर्मादिकारयिता तदनुरूपफलदाताऽतो जीवस्य कर्तृत्वं परायत्तमिति सिद्धम् ॥ ४१ ॥ इति परायत्ताधिकरणम् ॥ ११ ॥

[वे०पा०सौ०] अंशांशिभावाज्जीवपरमात्मनोर्भेदाभेदौ दर्शयति--

सू० अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥ २ । ३ । ४२ ॥

परमात्मनो जीवोंऽशः,"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावि"त्यादिभेदव्यपदेशात् , "तत्त्वमसी"त्याद्यभेदव्यपदेशाच्च । अपि च आथर्वणिकाः "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा"इति ब्रह्मणो हि दाशकितवादित्वमधीयते ॥ ४२ ॥

(वे०कौ०) जीवस्य कर्तृत्वं ब्रह्माधीनमित्युक्तमिदानीं भेदाभेदश्रुत्यविरोधेन तयोः सम्बन्धमाह ।

किमयञ्जीवो ब्रह्मणो भिन्नः, उताभिन्नः, आहोस्वित् ब्रह्मणोंशोऽतो भिन्नाभिन्नः ? इति संशये, राज्ञः सकाशात्पुरुष इव परमात्मनः सकाशाज्जीवो भिन्नोऽस्तु, अभेदवाक्यानां गौणत्वादज्ञसर्वज्ञयोरभेदासम्भवाच्च । अथवाऽभिन्न एवास्तु, भेदश्रुतीनां

गौणत्वात् । भेदाभेदयोरन्योऽन्यविरुद्धत्वादभेदश्रुतीनां भेदश्रुतीनां वाऽवश्यं गौणत्वमङ्गीकर्त्तव्यम्, इति प्राप्तेऽभिधीयते । नायञ्जीवः श्रीपुरुषोत्तमादत्यन्तभिन्नः नाप्यत्यन्तभिन्नः, किन्तु परमात्मनोंऽशः "अंशो ह्येष परस्ये"ति श्रुतेः । अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्यः "एष परस्य शक्तिः जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रः"इति श्रुतेः । खण्डरूपो घनादिवदंशो नेह गृह्यते, जीवस्य ब्रह्मखण्डत्वे "निष्कल"मित्यादिवाक्यविरोधाद्घनवदंशत्वे केवलभेदापत्तेः, "तत्त्वमसी"त्यादिवाक्यव्याकोपप्रसङ्गाच्च । अंशित्वावच्छिन्नात्परमपुरुषस्वरूपात्सार्वज्ञ्यादिगुणगुणनिधेरंशत्वावच्छिन्नेन बन्धमोक्षार्हेण स्वरूपेण भिन्नोऽप्यंश्यधीनस्थितिप्रवृत्त्यादिमत्त्वात्तदभिन्नः। कुतः? "नाना व्यपदेशात्" भेदव्यपदेशात् । "अन्यथा च" अभेदव्यपदेशाच्च । उभयविधवाक्यानां तुल्यबलत्वात् जीवपरमात्मनोः स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवत इत्यर्थः। "य आत्मानमन्तरो यमयति, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्, आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः, जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः, ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" इत्यादिभेदव्यपदेशः । "तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्म अहम्ब्रह्मास्मी"-त्याद्यभेदव्यपदेशः । अपि चैके शाखिनः आथर्वणिकाः "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा" इत्यत्र ब्रह्मणो दाशकितवादित्वमधीयते ॥ ४२ ॥

सू॰ मन्त्रवर्णात् ॥ २ । ३ । ४३ ॥

[वे॰पा॰सौ॰] "पादोऽस्य विश्वाभूतानी"ति मन्त्रवर्णाज्जीवो ब्रह्मांशः ॥ ४३ ॥

(वे॰कौ॰) परमात्मनोंऽश एव जीवः । कुतः? "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवी"ति मन्त्रवर्णाच्च पादोंऽशः॥४३॥

सू॰ अपि च स्मर्यते ॥ २ । ३ । ४४ ॥

[वे०पा०सौ०] "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति जीवस्य ब्रह्मांशत्वं स्मर्य्यते ॥ ४४ ॥

(वे०कौ०) "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति जीवस्य स्वांशत्वं श्रीपुरुषोत्तमेनैव स्मर्य्यते ॥ ४४ ॥

सू० प्रकाशादिवत्तु नैवं परः ॥ २ । ३ । ४५ ॥

[वे०पा०सौ० जीवस्य परमपुरुषांशत्वे अंशी सुखदुःखं नानुभवति, यथा प्रकाशादिः स्वांशगतगुणदोषवर्ज्जितो भवति ॥ ४५ ॥

(वे०कौ०) ननु तर्हि जीवगतगुणदोषाः परमात्मनोऽपि स्युरंशस्यांशिपृथक्स्थित्यभावादित्यत आह ।

परः परमात्मा नैवं भवति जीवगतगुणदोषभागी न भवतीत्यर्थः । दृष्टान्तमाह "प्रकाशादिवत्" प्रकाशः सूर्य्यादिः स यथांशभूतप्रकाशधर्मैः शुद्धाशुद्धपदार्थसंसर्गित्वादिभिर्न स्पृश्यते । आदिशब्देनाकाशादयो गृह्यन्ते । आकाशो यथा शङ्खकोकिलादिशब्दगतगुणैः, काकादिशब्दगतदोषैश्च न लिप्यते । तुशब्दोऽशांशिधर्मसाङ्कर्य्याऽभावसूचकः । परस्य कर्मवश्यजीवहृदयसम्बन्धात्कर्मवश्यत्वशङ्कया प्राप्ता दोषाः "सम्भोगप्राप्ति"रित्यादिना भगवतोऽकर्मवश्यत्वान्निराकृताः । "न स्थानतोऽपी"त्यत्र स्थानस्वभावतोऽकर्मवश्यस्यापि प्राप्तान्निराकरिष्यामः । इह तु स्वांशद्वारा प्राप्ता दोषा निराकृता इति बोध्यम् ॥ ४५ ॥

सू० स्मरन्ति च ॥ २ । ३ । ४६ ॥

[वे०पा०सौ०] "तत्र यः परमात्माऽसौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते" इत्यादिना स्मरन्ति च ॥ ४६ ॥

(वे०कौ०) "तत्र यः परमात्माऽसौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ कर्मात्मा त्वप-

रो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनरि"त्यादिना मुनयोंऽशकृतकर्म्मफलैरंश एव युज्यते अंशी तु नेति स्मरन्ति। "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीती"ति श्रूयते च॥ ४६॥

सू० अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्॥२।३।४७॥

[वे०पा०सौ०] "स्वर्गकामो यजेत, शूद्रो यज्ञे नावक्लृप्तः" इत्याद्यनुज्ञापरिहारावुपपद्येते जीवानां ब्रह्मांशत्वेन समत्वेऽपि विषमशरीरसम्बन्धात्। यथा श्रोत्रियागारादग्निराह्रियते, श्मशानादेस्तु नैव, यथा वा शुचिपुरुषपात्रादिसंस्पृष्टं जलादिकं गृह्यते, नेतरं तद्वत्॥ ४७॥

(वे०कौ०) ब्रह्मांशत्वादिना जीवानां समत्वे प्राप्ते तत्र किमाश्रित्यानुज्ञापरिहारौ स्यातान्? शृणु! "स्वर्गकामो यजेत, तस्माच्छूद्रो यज्ञे नावक्लृप्त" इत्याद्यनुज्ञापरिहारौ तेषां समत्वेऽपि विषमदेहसम्बन्धात्सङ्गच्छेते ज्योतिरादिवत्। यथाग्निकणानां समत्वेऽपि श्रोत्रियागारादग्निकण आह्रियते, श्मशानादेस्तु परिह्रियते, यथा वा मूत्रपुरीषादि गवां पवित्रतयाऽनुज्ञायते, तदेव जात्यन्तरात्परिवर्ज्यते, तद्वत्॥ ४७॥

सू० असन्ततेश्चाव्यतिकरः॥ २। ३। ४८॥

[वे०पा०सौ०] विभोरंशत्वेऽपि गुणेन विभुत्वेऽपि चात्मनां स्वरूपतोऽणुत्वेन सर्वगतत्वाभावात् कर्मादिव्यतिकरो नास्ति॥ ४८॥

[वे०कौ०] ननु विभोरंशत्वाद्विभुगुणत्वाच्च तव मतेऽपि सर्वेषाञ्जीवानां सर्वेषु शरीरेषु सुखादिभोक्तृत्वापत्त्या कर्मव्यतिकरस्तत्फलभोगव्यतिकरश्च प्राप्नोति, तस्माद्विभोर्ब्रह्मणोंऽशः, स्वतोऽणुः गुणतो विभुरिति पक्षस्य गौरवात् आत्मा विभुरिति कपिलाद्यात्मवादो वरीयानित्यत आह।

अणुत्वेनान्योन्यभिन्नानां अंशत्वावच्छिन्नेन रूपेणांशिस्वरू-

पादिलक्षणानामात्मनामसन्ततेः सर्वत्राव्याप्तत्वादव्यतिकरः । च शब्दो बद्धावस्थायां ज्ञानसङ्कोचं सूचयति ॥ ४८ ॥

सू० आभासा एव च ॥ २ । ३ । ४९ ॥

[वे०पा०सौ०] परेषां कपिलादीनां व्यतिकरप्रसङ्गात्सर्वगतात्मवादाश्चाभासा एव ॥ ४९ ॥

[वे०कौ०] कपिलकणादादीनां सर्वगतात्मवादास्तु आभासा एव, निर्मूलत्वात् । तत्र सर्वव्यवहारव्यतिकरप्रसङ्गाच्च । चशब्देन तेषां जगद्व्यामोहकत्वं सूचितम् ॥ ४९ ॥

सू० अदृष्टानियमात् ॥ २ । ३ । ५० ॥

[वे०पा०सौ०] सर्वगतात्मवादेऽदृष्टमाश्रित्यापि व्यतिकरो दुर्वारोऽदृष्टाऽनियमात् ॥ ५० ॥

[वे०कौ०] ननु नास्त्यस्माकमपि सर्वव्यवहारव्यतिकरोऽदृष्टस्य नियामकत्वादित्यत आह ।

परमते व्यतिकरः प्राप्नोत्येव । सर्वगतानां सर्वेषामात्मनां सन्निधौ उत्पद्यमानमदृष्टं कस्य स्यात्कस्य तु न स्यादित्यदृष्टाऽनियमात् ॥ ५० ॥

सू० अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥ २ । ३ । ५१ ॥

[वे०पा०सौ०] अहमिदं करिष्ये, इदं नेति सङ्कल्पादिष्वप्येवमनियमः ॥ ५१ ॥

[वे०कौ०] ननु अहमिदङ्करिष्ये, इदं नेति यस्याभिसन्धिस्तस्यादृष्टमिति नियमो भविष्यतीत्यत आह ।

अभिसन्धिः सङ्कल्पः, आदिशब्देन श्रद्धादेः परिग्रहः। सङ्कल्पश्रद्धादिष्वप्यदृष्टाऽनियमवदनियम एव ॥ ५१ ॥

सू० प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ २ । ३ । ५२ ॥

[वे०पा०सौ०] स्वशरीरस्थात्मप्रदेशात्सर्वं समञ्जसमिति चेन्न । तत्र सर्वेषामात्मप्रदेशानामन्तर्भावात् ॥ ५२ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

[वे०कौ०] नन्वभिसन्ध्यादिषु नियम उपपद्यते प्रदेशात्, स्वशरीरस्थ एव खल्वात्मप्रदेशे सङ्कल्पश्रद्धादिहेतुभूतमनःसंयोगो भवति यथाभूतादात्मप्रदेशादिति चेन्न । तत्रान्येषामप्यात्मप्रदेशानामन्तर्भावात् । अयमर्थः । एकस्मिन्मनसि सर्वात्मनां समवेतत्वान्मनःसंयोगनिमित्ताः सङ्कल्पादयः साधारणा भवितुमर्हन्ति, तन्निमित्तमदृष्टं साधारणमेव । तथासति सर्वव्यवहारव्यतिकरस्तदवस्थः । तस्माद्ब्रह्मणः श्रीवासुदेवस्यांशोऽणुपरिमाणो ज्ञानस्वरूपो ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिधर्मवान् प्रतिशरीरं भिन्नो जीव इति सिद्धम् ॥ ५२ ॥ इत्यंशाधिकरणम् ॥ १२ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्री श्रीनिवासाचार्येण विरचिते शा० मी० भाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थपादारम्भः ।

सू० तथा प्राणाः ॥ २ । ४ । १ ॥

[वे०पा०सौ०] करणोत्पत्तिश्चिन्त्यते खादिवदिन्द्रियाणि जायन्ते ॥ १ ॥

[वे०कौ०] पूर्वस्मिन्पादे वियदादिश्रुतीनाञ्जीवश्रुतीनाञ्च विरोधाभावो दर्शितः । इदानीञ्जीवकरणश्रुत्यविरोधप्रकारं दर्शयति । प्राणाः* उत्पद्यन्ते न वा? इति संशये, "एतस्मादात्मनः आ-

* इन्द्रियाणि

काशः सम्भूतः" इत्याद्युत्पत्तिप्रकरणेषु प्राणानामुत्पत्त्यश्रवणात्, "असद्वा इदमग्र आसीत्" तदाहुः "किं तदसदासीदि"ति "ऋषयो वाव ते अग्रेऽसदासीत्" तदाहुः "के ते ऋषयः" इति "प्राणा वाव ऋषयः" इत्यत्रोत्पत्तेः प्राक् प्राणानां सत्त्वश्रवणाच्च नोत्पद्यते इति पूर्वः पक्षः । तत्र ब्रूमः । यथा "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुर्ज्योतिरि"त्यादिवाक्यस्थानि खादीनि भूतानि जायन्ते, तथा प्राणाः इन्द्रियाणि च जायन्ते ॥ १ ॥

सू० गौण्यसम्भवात् ॥ २ । ४ । २ ॥

(वे०पा०सौ०) न च "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः"इत्यादिसृष्टिप्रकरणे करणोत्पत्त्यश्रवणात् करणोत्पत्तिश्रुतिर्गौणीति वाच्यम्। उत्पत्तिश्रुतिभूयस्त्वादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधाच्च गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

(वे०कौ०) ननु "असद्वा इदमग्र आसीदि"त्यादिश्रुतिविरोधादिन्द्रियोत्पत्तिवादिनी श्रुतिर्गौणीति शङ्कां निराकुर्वन्"प्राणा जायन्ते" इत्यत्र हेतुमाह ।

गौण्याः असम्भवो गौण्यसम्भव इन्द्रियोत्पत्तिश्रुतिर्गौणी न भवति, तस्मात्प्राणा जायन्त एवेत्यर्थः । कुतोऽसम्भव इति चेत् । उत्पत्तिश्रुतेर्मुख्यार्थसम्भवात् । उत्पत्तिश्रुतिबाहुल्यात्, प्रतिज्ञाविरोधाच्च । "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सप्त प्राणाः प्रभवन्ति" तस्मादित्याद्युत्पत्तिश्रुतिबाहुल्यात् । "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती"ति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानम्प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च"इत्याद्यभिधीयते । सा च प्रतिज्ञा

प्राणादेः सर्वविकारजातस्य तदुपादेयत्वाच्छरीरे एव सिद्ध्यति । "असद्वा इदमग्र आसीदि"तिश्रुतिस्तु कारणपरत्वेन व्याख्येयाऽतो न विरोधः ॥ २ ॥

सू० तत्प्राक् श्रुतेश्च ॥ २ । ४ । ३ ॥

(वे०पा०सौ०) तस्मिन्वाक्ये खादिषु मुख्यस्य क्रियापदस्येन्द्रियेष्वपि श्रुतेरिन्द्रियोद्भवो मुख्यः ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) इतोऽपीन्द्रियाणां मुख्यं जन्मेत्याह ।

तत्तस्मिन्वाक्ये "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायु"रित्यादौ जायते इतिपदस्य खादिषु मुख्यस्य खाद्यपेक्षया प्रागेव निर्दिष्टेष्विन्द्रियेषु श्रुतेरिन्द्रियाणामुत्पत्तिवादिनी श्रुतिर्मुख्यैव । जायते इति पदस्येन्द्रियेषु गौणत्वं खादिषु मुख्यत्वञ्च न सम्भवत्यपि तूभयत्र मुख्यत्वमेव ॥ ३ ॥

सू० तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ २ । ४ । ४ ॥

(वे०पा०सौ०) प्राणाः खादिवदुत्पद्यन्ते, वाक्प्राणमनसाम् "अन्नमयं हि सौम्य ! मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागि"त्यनेन तेजोऽवन्नपूर्वकत्वाभिधानात् ॥ ४ ॥

(वे०कौ०) यदुक्तं सृष्टिप्रकरणे इन्द्रियोत्पत्तिर्न श्रूयते इति, तत्राह ।

छान्दोग्ये वाक्प्राणमनसाम् "अन्नमयं हि सौम्य ! मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागि"त्यनेन ब्रह्मप्रकृतिकतेजोऽवन्नपूर्वकत्वाभिधानात् अस्त्युत्पत्तिरित्यर्थः । तस्मात्सृष्टिप्रकरणेऽप्युत्पत्तिसद्भावादिन्द्रियोत्पत्तिश्रुतिभूयस्त्वात्सृष्टेः प्राक् सद्भावश्रुतेरन्यविषयत्वादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धेश्चेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते इति सिद्धम् ॥ ४ ॥ इति प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च । २ । ४ । ५ ॥

(वे०पा०सौ०) तानि सप्तैकादश वेति ? संशये, "प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती"ति गतेस्तत्र सप्तानामेव "न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न वदति न शृणोति न मनुते न स्पृशते" इति विशेषितत्वाच्च सप्तैवेन्द्रियाणीति पूर्वः पक्षः ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) इदानीमिन्द्रियाणां सङ्ख्यां निर्णेतुकामस्तद्विषयकवाक्यविरोधपरिहाराय पूर्वपक्षयति ।

तानीन्द्रियाणि सप्त भवन्ति, आहोस्विदेकादशेऽति संशये, "प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती"ति सप्तानामेव गतेः सप्तैव भवन्ति । सप्तैवानूत्क्रामन्तीति कथमवगम्यते ? विशेषितत्वाच्च "स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथाऽरूपज्ञो भवत्येकीभवति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न वदति न शृणोति न मनुते न स्पृशते" इति चक्षुरादीनां सप्तानामेव विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

सू० हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ २ । ४ । ६ ॥

(वे०पा०सौ०) सप्तभ्योऽतिरिक्ते "हस्तो वै ग्रह" इत्यादिना निश्चिते, सप्तैवेन्द्रियाणीति नैवं मन्तव्यम् । "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश"ति श्रुतेः एकादशेन्द्रियाणीति सिद्धान्तः ॥ ६ ॥

(वे०कौ०) सिद्धान्तयति ।

तुशब्दः पूर्वपक्षिणोऽन्यत्वं बोधयति । "हस्तो वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां कर्म करोती"ति सप्तभ्योऽतिरिक्ता हस्तादयोऽपि श्रूयन्ते, अतो हस्तादिकेऽतिरिक्ते स्थिते, सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्तीति सर्वेन्द्रियाणामुत्क्रान्त्यविशेषाच्च सप्तैवेति, नैवं मन्तव्यम् । किन्तु "दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादश" "इन्द्रियाणि दशैकञ्चे"त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यामेकादशेन्द्रियाणि भवन्ति । तत्र श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणानि पञ्च ज्ञानेन्द्रिया-

पि, तेषां शब्दादयः पञ्च विषयाः, वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, तेषां वचनादयः पञ्चविषयाः, सङ्कल्पादिहेतुः अन्तरिन्द्रियं मनः, इत्थमेकादशैवेन्द्रियाणीति सिद्धम् ॥ ६ ॥ इति सप्तगत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० अणवश्च ॥ २ । ४ । ७ ॥

(वे०पा०सौ०) "सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ती"त्युत्क्रान्तिश्रुतेः प्राणा अणवः ॥ ७ ॥

(वे०कौ०) इदानीमिन्द्रियाणां परिमाणं दर्शयति ।

प्राणा अणवः, उत विभवः ? इति संशये, अपरिच्छिन्नाहङ्कारकार्य्यत्वाद्विभव इति साङ्ख्या आहुः । "त एते समा अनन्ता" इति श्रुतेश्च विभव एवेति पूर्वः पक्षः । "प्राणमनूत्क्रामन्तमि"त्याद्युत्क्रान्तिश्रुतेरणव इति सिद्धान्तः । अपरिच्छिन्नादपरिच्छिन्नं कार्यं जायते इति नियमो नास्ति, बृहतो वृक्षादेरल्पस्य पुष्पादेरुत्पत्तिदर्शनात् । श्रुतिस्त्वसङ्ख्येयत्वविषया, "अथ यो हैतानन्तानुपास्ते" इति श्रुत्युक्तोपासनार्था वा । तस्मादिन्द्रियाण्यणूनीति सिद्धम् ॥ ७ ॥ इति प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

सू० श्रेष्ठश्च ॥ २ । ४ । ८ ॥

(वे०पा०सौ०) श्रेष्ठो मुख्यः "प्राणो वाव ज्येष्ठः श्रेष्ठश्चे"ति श्रुतिप्रोक्तः प्राणो महाभूतादिवदुत्पद्यते । कुतः ? "एतस्माज्जायते प्राणः" इति समानश्रुतेः ॥ ८ ॥

(वे०कौ०) इदानीं प्रसङ्गान्मुख्यस्य प्राणस्योत्पत्त्यादि विचार्य्यते ।

"प्राणो वाव ज्येष्ठः श्रेष्ठश्चे"तिश्रुतिप्रोक्तः शरीरस्थितिहेतुर्मुख्यः प्राणो महाभूतादिवदुत्पद्यते न वेति सन्देहे, नोत्पद्यते, कुतः? "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न हि रात्र्या अह्नः आसीत्प्रकेतः

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास''तिवाक्ये आनीत् आसीदित्यर्थकेन आनीच्छब्देन प्राणसञ्चारस्य महाप्रलयवेलायां श्रुतत्वात्, इति प्राप्तेऽभिधीयते । श्रेष्ठश्च मुख्यः प्राणोऽपि भूतादिवदुत्पद्यते ''एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुरि''त्यत्र महाभूताद्युत्पत्तिवन्मुख्यप्राणोत्पत्त्युत्तेरपि श्रुतत्वात्, सृष्टेः प्रागेकत्वावधारणाच्च । ''न मृत्युरि''त्यादिवाक्यार्थस्तु तर्हि तस्मिन्महाप्रलयसमये मृत्युर्मारको नासीत्, स्वधया सह अमृतं पितृणामन्नेन सह देवानामन्नं नासीत्, रात्रेरह्नश्च प्रकेताश्चिह्नभूतः चन्द्रो रविश्च नासीत्, तद्विश्वस्य बीजभूतमेकं ब्रह्मैव आनीत् आसीत्, कथम्भूतम् ? अवातं वाय्वाद्यादिकार्यरहितं कारणावस्थमित्यर्थः । तस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्किञ्चिदपि नास न बभूवेति । तस्मात् खादिवन्मुख्यप्राणोऽप्युत्पद्यते इति सिद्धम् ॥ ८ ॥ इति मुख्यप्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

सू० न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ २ । ४ । ९ ॥

(वे०पा०सौ०) वायुमात्रं करणं क्रिया वा प्राणो न भवति, किन्तु वायुरेवावस्थान्तरमापन्नः प्राणः इत्युच्यते ''एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुरि''ति पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

(वे० कौ०) इदानीं तत्स्वरूपमाह ।

स च ज्येष्ठः प्राणो महाभूतविशेषो वायुः, उतेन्द्रियाणां सामान्यवृत्तिः, किंवा महाभूतविशेषवायुरेव कश्चन विशेषमापन्नः प्राणः इत्युच्यते ? इति संशये, ''यः प्राणः स वायुः स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान'' इतिवचनात् वायुरेव । यद्वा साङ्ख्याभिमत इन्द्रियाणां सामान्या वृत्तिः पञ्चप्रकारः प्राण इति प्राप्तेऽभिधीयते । न वायुमात्रं प्राणः, न चेन्द्रियव्यापारलक्षणा सामान्या वृत्तिः प्राणपदार्थः । कुतः ?

पृथगुपदेशात्, "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुरि"त्यत्र महाभूताद्वितीयाद्वायोरिन्द्रियेभ्यश्च प्राणस्य पृथगुपदेशात्। प्राणस्य वायुमात्रत्वे पृथग्व्यपदेशबाधप्रसङ्गः। करणसामान्यवृत्तित्वे च वृत्तिमद्भ्यः पृथग्व्यपदेशो व्यर्थः स्यात्, पृथगुत्पन्नस्य सुतरां द्रव्यत्वे सिद्धे द्रव्यान्तररूपकरणव्यापारत्वासम्भवात्। परिशेषान्महाभूतविशेषो वायुरेवावस्थान्तरमापन्नः प्राणः। एतेन "यः प्राणः स वायुरि"त्यादिवाक्यविरोधोऽपि परिहृतः ॥ ९ ॥

सू० चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥ २ । ४ । १० ॥

(वे०पा०सौ०) श्रेष्ठोऽपि प्राणश्चक्षुरादिवज्जीवोपकरणविशेषः। कुतः? प्राणसंवादादिषु चक्षुरादिभिः सह प्राणस्य शिष्ट्यादिभ्यः शासनादिभ्यः ॥ १० ॥

(वे०कौ०) प्राणस्य जीवं प्रति चक्षुरादिवदुपकारकत्वं जीवाधीनतया दर्शयति।

प्राणस्येन्द्रियापेक्षया श्रेष्ठत्वेऽपि जीववत् स्वातन्त्र्यं नास्तीति तुशब्दार्थः। प्राणश्चक्षुरादिवद्भवति, यथा चक्षुरादीनि जीवोपकरणानि, तथा जीवोपकरणविशेषः प्राण इत्यर्थः। कुतः? अस्य जीवं प्रत्युपकरणत्वं गम्यते। तत्राह "तत्सहशिष्ट्यादिभ्य" इति। तैश्चक्षुरादिभिः सह प्राणस्य प्राणसंवादादिषु शिष्ट्यादिभ्यः शासनादिभ्यः। आदिनाऽचेतनत्वस्वातन्त्र्यानर्हत्वादिहेतुसङ्ग्रहः ॥ १० ॥

सू० अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥२ । ४ । ११ ॥

(वे०पा०सौ०) ननु प्राणस्य जीवोपकरणत्वे तदनुरूपकार्य्याभावेनाकरणत्वाद्दोष इति। न, यतो देहेन्द्रियविधारणं प्राणासाधारणं कार्यम् "अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं विभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामी"ति

श्रुतिर्दर्शयति ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) ननु यथा दृश्यसद्भावे द्रष्टृत्वं सङ्गच्छते, तथा करणसाध्यकार्यसद्भावे करणत्वं स्यात्तच्च न दृश्यतेऽतः प्राणस्याकरणत्वमस्तु, तस्मादकरणत्वात् प्राणस्य जीवोपकरणत्वे नैष्फल्यरूपो दोषोऽस्तीत्यत्राह नेति । उक्तलक्षणो दोषो नास्ति । हि यतः यथा प्राणस्य जीवोपकरणत्वे साफल्यं स्यात्तथा भगवती श्रुतिः प्राणस्यापीन्द्रियान्तरेष्वसम्भावितं देहेन्द्रियधारणलक्षणं प्रयोजनं दर्शयति प्राणसंवादे—"तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाऽहमेवैतत्पञ्चधात्मानं विभज्यैतद्बाण(१)मवष्टभ्य विधारयामी"ति ॥ ११ ॥

सू० पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥ २ । ४ । १२ ॥

(वे०पा०सौ०) यथा बहुवृत्ति मनः स्ववृत्तिभिः कामादिभिर्जीवस्योपकरोति, "तथा अपानादिवृत्तिभिः पञ्चवृत्तिः प्राणोऽपि जीवोपकारकत्वेन व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) एक एव प्राणः वृत्तिभेदात्पञ्चधा व्यपदिश्यते, न तत्र तत्त्वान्तराणि सन्ति, स च न केवलं देहेन्द्रियधारणमात्रेण जीवस्योपकरोति, किन्त्वन्यैरपि कर्मभिरित्याह ।

"कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा श्रतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवे"ति वचनात् यथा मन एव कामादिवृत्तिमत्स्ववृत्तिभिर्जीवस्योपकरोति, न कामसङ्कल्पादयस्तत्त्वविशेषाः, तथा "प्राणापानव्यानोदानसमाना इत्येतत्सर्वं प्राण" एवेत्यनेन वचनेन प्राण एव पञ्चवृत्तिर्व्यपदिश्यते । अपानादयः प्राणस्यैव वृत्तयः न तत्त्वान्तराणि, स्ववृत्तिभिः स एव जीवस्योपकरोतीत्यर्थः । एवंसति वायुरेवावस्थान्तरापन्नः जीवोपकरणभूतो बहु-

(१) शरीरम् ।

वृत्तिमान् श्रेष्ठः प्राण इति सिद्धम् ॥ १२ ॥ इति वायुक्रियाऽधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू॰ अणुश्च ॥ २ । ४ । १३ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) उत्क्रान्तिश्रुतेः प्राणोऽणुश्च ॥ १३ ॥

(वे॰कौ॰) इदानीं मुख्यप्राणस्य परिमाणश्चिन्त्यते ।

श्रेष्ठः प्राणो महापरिमाणः, उताणुपरिमाणः ? इति संशये, "प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितं सर्वं हीदं प्राणेनावृतमि"तिश्रुतेर्महापरिमाण, इति प्राप्तेऽभिधीयते । श्रेष्ठः प्राणोऽणुश्च ज्ञेयः "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती"त्युत्क्रान्तिश्रुतेः । उक्तश्रुतिस्तु समष्टिप्राणपरा तस्माच्छ्रेष्ठोऽणुरिति सिद्धम् ॥ १३ ॥ इति श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥ ६ ॥

सू॰ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ २ । ४ । १४ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) वागादिकरणजातमग्न्यादिदेवताप्रेरितं कार्य्ये प्रवर्त्तते, "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखम्प्राविशदि"त्यादिश्रुतेः ॥ १४ ॥

(वे॰कौ॰) इदानीमिन्द्रियाणां प्रवृत्तिर्विचार्य्यते ।

चक्षुरादीनीन्द्रियाणि स्वस्वविषये स्वमहिम्नैव प्रवर्त्तन्ते, उत स्वस्वाधिष्ठातृदेवताप्रेरितानीति ? संशये, स्वमहिम्नैव "चक्षुषा हि रूपाणि पश्यती"ति श्रुतेरिति प्राप्ते, उच्यते । "ज्योतिरित्यादी"ति । तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । ज्योतिरादिभिरग्न्यादिभिर्देवताभिरधिष्ठितमेव वागादिकं चेष्टते । अधिष्ठीयते प्रेर्य्यते इत्यधिष्ठानं प्रवर्त्त्यमित्यर्थः । यथा रथादिकं सारथ्यादिभिरधिष्ठितं प्रवर्त्तते, तद्वत् । कुतः ? तदामननात् । तस्याग्न्याद्यधिष्ठितत्वस्य आमननात् आम्नायोक्तत्वात् । "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखम्प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशदि"त्यादिना प्रेर्य्यप्रेरकभावं

विनाऽग्न्यादिप्रवेशस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गः स्यात् । "चक्षुषा ही"त्यादिश्रुतेस्तु चक्षुरादेः करणत्वप्रतिपादनमात्रेण चरितार्थत्वं बोध्यम् ॥ १४ ॥

सू० प्राणवता शब्दात् ॥ २ । ४ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) जीवेनैवेन्द्रियाणां स्वस्वामिभावः सम्बन्धः स भोक्ता "अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णञ्चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरि"-त्यादिशब्दात् ॥ १५ ॥

(वे०कौ०) यद्येवं तर्हि भोक्तृत्वमपि देवानामेव स्यादित्यत आह ।

देहेन्द्रियधारणहेतुः प्राणोऽस्यास्तीति प्राणवान्, तेन प्राणवता जीवेनेन्द्रियाणां स्वस्वामिभावः सम्बन्धोऽस्ति । एवंसति प्राणवानेव करणसाध्यभोगभागीत्यर्थः । कुतः ? शब्दात्, "अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः, अथ यो वेदेदञ्जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमि"त्यादिश्रुतेः ॥ १५ ॥

सू० तस्य नित्यत्वात् ॥ २ । ४ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) उक्तलक्षणस्य सम्बन्धस्य जीवेनैव नित्यत्वान्न स्वधिष्ठातृदेवताभिः ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) इतोऽपि करणसाध्यफलभोक्ता तत्स्वामी प्राणवानेव, नतु तदधिष्ठातृदेवतानां तादृशफलभोक्तृत्वम्, तस्येन्द्रियसम्बन्धस्य प्राणवतैव नित्यत्वात्, "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती"ति शब्दात् । देवतास्तु श्रेष्ठ ऐश्वर्य्ये स्थिताः, न तु हीने "न ह वै देवानघं गच्छती"ति श्रुतेः ॥ १६ ॥

सू० त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥२।४।१७॥

(वे०पा०सौ०) श्रेष्ठप्राणभिन्नत्वेन तेषां प्राणानां "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे"ति व्यपदेशात्ते प्राणा इन्द्रियसंज्ञकानि तत्त्वान्तराणि, नतु श्रेष्ठवृत्तिविशेषाः ॥ १७ ॥

(वे०कौ०)"हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामे"ति, "एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्नि"ति श्रुतेः श्रेष्ठप्राणस्यैवेतरे प्राणाश्चक्षुरादयो वृत्तिभेदाः, न तेषां तत्त्वान्तरत्वं, येन प्राणवता तेषां सम्बन्धान्तरत्वं स्यात्प्राणसम्बन्धेनैव नैराकाङ्क्ष्यादित्याशङ्क्याह ।

श्रेष्ठात्प्राणादन्यत्र तत्तेषाम् "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे"ति व्यपदेशा"त्ते श्रेष्ठतरे प्राणा इन्द्रियाणी"ति शब्देन तत्त्वान्तराणि व्यपदिश्यन्ते, अन्यथा "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यनेनैवाऽपानादिग्रहणवच्चक्षुरादीनामपि ग्रहणे सिद्धे सर्वेन्द्रियाणि चेति पृथक् व्यपदेशो व्यर्थः स्यात् । तस्मादिन्द्रियाणां तत्त्वान्तरत्वात्प्राणसम्बन्धात्तेषां सम्बन्धो हि प्राणवता पृथगेव वक्तव्यः । न च वाच्यमपृथग्व्यपदिष्टं मनोऽपीन्द्रियं न स्यादिति, "मनःषष्ठानीन्द्रियाणी"ति, "इन्द्रियाणि दशैकञ्चे"ति स्मृतेः । "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशे"तिश्रुतेश्च मनसोऽपीन्द्रियत्वाभ्युपगमात् । नापि पृथग्व्यपदेशो मनसो व्यर्थः, "इन्द्रियाणां मनश्चास्मी"तिवचनान्मनसो हीन्द्रियनायकत्वेन पृथग्व्यपदेशस्याप्यर्थवत्त्वात् । "हन्तास्यैवे"त्यादिश्रुत्या तु प्राणाधीनप्रवृत्तिमत्त्वमिन्द्रियाणामुच्यते । प्राणाधीनत्वादपीन्द्रियाणि प्राणा इत्युच्यन्ते, यथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"ति जगति ब्रह्मशब्दप्रयोगस्तदधीनत्वादपि ॥ १७ ॥

सू० भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ॥ २ । ४ । १८ ॥

(वे०पा०सौ०) वागादिप्रकरणमुपसंहृत्य "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुरि"ति तेभ्यो वागादिभ्यः श्रेष्ठस्य प्राणस्य भेदश्रवणात् , देहे-

न्द्रियादिस्थितिहेतोः श्रेष्ठात् प्राणादिन्द्रियाणां विषयग्राहकत्वेन वैलक्षण्याच्च तानि तत्त्वान्तराणि ॥ १८ ॥

(वे०कौ०) "ते ह वाचमूचुरि"त्युपक्रम्यासुरविध्वस्तवागादीन्द्रियप्रकरणमुपसंहृत्य, "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुरि"ति भिन्नप्रकरणेऽसुरविध्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य वागादीन्द्रियेभ्यो भेदेन श्रवणात्, देहेन्द्रियधारणहेतुः श्रेष्ठः प्राणः । "वचनादिविषयाणि वागादीनीन्द्रियाणी"त्यादिबहुवैलक्षण्याच्च मुख्यप्राणादितरे प्राणास्तत्त्वान्तराणीत्यर्थः । तस्माद्देवताऽधिष्ठिता जीवसम्बन्धिनः इन्द्रियशब्दवाच्याः श्रेष्ठात् प्राणादितरे प्राणास्तत्त्वान्तराणीति सिद्धम् ॥१८॥ इति ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ॥७॥

सू० संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२।४।१९॥

(वे०पा०सौ०) "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी"ति "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी"ति नामरूपव्याकरणमपि त्रिवृत्कुर्वतः परस्यैव कर्म । य एकैकां देवतां त्रिरूपामकरोत्स एव हि अग्न्यादित्यादीनां नामरूपकर्ता । कुतः ? "सेयं देवते"त्युपक्रम्य "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी"ति व्याकरणस्य परदेवताकर्तृकत्वोपदेशात ॥१९॥

(वे०कौ०) एवं तावज्जिज्ञास्यलक्षणाकाङ्क्षावशाज्जगत्कारणं तदिति पूर्वाध्याये निरूपितमिह तु तदाक्षेप्य परोक्तकारणपरीक्षापूर्वकं [स्वाभिमतजगत्कारणप्रतिपत्तये] ब्रह्मकर्तृकं वियदादिकं सुदृढं निरूपितमथेदानीं नामरूपयोर्व्याकरणे परब्रह्मकर्तृके वक्ष्यमाणश्रुतिस्थजीवपदेन जातां शङ्कां निराकरोति ।

छान्दोग्ये सत्प्रकरणे "सेयं देवतैक्षत, हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता, अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी"ति

[ ] एतच्चिह्नान्तरे स्थितोऽधिकः पाठो दृश्यते क्वचित् ।

"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी"ति नामरूपव्याकरणं श्रूयते । तद्धि जीवकर्तृकमुत परमात्मकर्तृकम् ? जीवकर्तृकमेव, कुतः ? "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्ये"तिनिर्देशात् इति प्राप्ते, उच्यते । तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । संज्ञामूर्तिक्लृप्तिर्नामरूपव्याकरणं त्रिवृत्कुर्वतो, यो हि सर्वज्ञः समर्थ एकैकां देवतां त्रिरूपामकरोत्तस्य परमात्मनः कर्म भवितुमर्हति । कुतः ? "सेयं देवतैक्षते"त्युपक्रम्य, "नामरूपे व्याकरवाणी"ति उत्तमपुरुषप्रयोगेण "त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी"ति नामरूपव्याकरणं सङ्कल्पः, तत्सिद्धये एकैकां देवतां त्रिरूपामण्डोत्पत्तेः प्राक् संविधाय ततोऽण्डमुत्पाद्य तत्र प्रविश्य नामरूपे कृतवान् । त्रिवृतकरणश्रुतिः पञ्चीकरणोपलक्षणार्था । एवं त्रिवृत्कुर्वतः परस्य ब्रह्मण एव नामरूपव्याकर्तृत्वोपदेशात् , नामरूपव्याकरणानर्हत्वाच्च जीवस्येत्यर्थः । जीवप्रयोगाभिप्रायस्तु "अरूपवदेव ही"त्यत्र स्फुटीभविष्यति ॥ १९ ॥

सू॰ मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २ । ४ । २० ॥

(वे॰पा॰सौ॰) तेषां त्रिवृत्कृतानां तेजोऽबन्नानां कार्याणि शरीरे शब्ददेवावगन्तव्यानि, "भूमेः पुरीषं मांसं मनश्चेति, अपां मूत्रं लोहितं प्राणश्चेति, तेजसोऽस्थिमज्जावाक्चेति" ॥ २० ॥

(वे॰कौ॰) त्रिवृत्कृतानां तेजोऽबन्नानां प्रत्येकं कार्य्यत्रयं शरीरगतं शरीरस्यासारत्वप्रदर्शनार्थं यथाश्रुतं दर्शयति ।

भूमेस्त्रिवृत्कृतायाः व्रीहियवादिरूपायाः शरीरेणाशिताया इदं भौमं मांसादि यथाशब्दं बोध्यम् । आदिशब्देन पुरीषमनसी गृह्येते । शब्दः श्रुतिः 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मन एवे"ति । एवमितरयोरप्तेजसोश्च कार्य्यत्रयं प्रत्येकं बोध्यम् ।

"मूत्रं लोहितं प्राणश्चेत्यपां कार्य्यम्, अस्थि मज्जा वाक्चेति तेजसः कार्य्यम्" । अत्र प्राणस्य जलाधीनस्थितिकत्वमात्रेण तत्कार्य्यत्वं बोध्यम् । वस्तुतः प्राणस्य वायोरवस्थाविशेषत्वात्, तथा मनसो भौमत्वमन्नभक्षणजन्यत्वाप्यायमात्राभिप्रायम् । एवं तेजःकार्य्येष्वपि यथासम्भवं बोध्यम् ॥ २० ॥

सू० वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २।४।२१ ॥

(वे०पा०सौ०) तेषां भेदेन ग्रहणं तु भागभूयस्त्वात् ॥ २१ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्क्क वि० शा० मी० वाक्यार्थे वे० पा० सौरभे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

(वे०कौ०) ननु त्रिवृत्कृतानां तेषामिदमस्येदमस्येति भेदः किम्मूलमित्यत आह ।

तुशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः । विशेषस्याधिकभागस्य भावो वैशेष्यं तस्मादिदमस्येदमस्येति वादो युक्त एव । अभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति । तदित्थम्ब्रह्मणि श्रीवासुदेवे समन्वितानां श्रुतिवाक्यानां न कुतोऽपि विरोध इति सिद्धम् ॥२१॥ इति संज्ञामूर्त्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्य्य श्रीमन्निम्बार्क्कपादपद्मान्तेवसिना श्रीश्रीनिवासाचार्य्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं द्वितीयोऽविरोधाख्योऽध्यायः ॥

ॐ श्री भगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्राय नमः ।

भाष्यद्वयोपेते श्रीब्रह्मसूत्रे

तृतीयाध्यायारम्भः ।

सू० तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ ३ । १ । १ ॥

श्रीदेश्रीभगवन्निम्बार्कविरचितवेदान्तपारिजात-सौरभाख्य-ब्रह्मसूत्र-वाक्यार्थः ।

समन्वयाविरोधाभ्यां साध्ये निश्चिते, अथ साधनानि निरूप्यन्ते । तत्रादौ वैराग्यार्थं स्वर्गादिगमनागमनादिदोषान् दर्शयति । उक्तलक्षणः प्राणादिमाञ्जीवो हि सूक्ष्मभूतसम्परिष्वक्त एव देहं विहाय देहान्तरं गच्छतीति "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"त्यादि-प्रश्ननिरूपणाभ्यां गम्यते ॥ १ ॥

श्रीश्रीनिवासाचार्य्य-विरचित-श्रीवेदान्त-कौस्तुभभाष्यम् ॥

इत्थमतिक्रान्तेनाध्यायद्वयेनोपेये समस्तकल्याणगुणार्णवे स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषे जिज्ञास्ये ब्रह्मणि श्रीवासुदेवे निर्णीतेऽथ तत्प्राप्त्युपायाकाङ्क्षायां साधनान्यभिधीयन्ते । कतिपयवेदान्तवाक्यार्थप्रकाशकस्य नानासंशयग्रस्याऽस्य तृतीयाध्यायस्य प्रथमे पादे संसारस्य दोषनिरूपणेन ततो विरक्तिः । द्वितीये पादे ब्रह्मणो गुणनिरूपणेन तत्रानुरक्तिश्च निरूप्यते । तृतीये पादे च ब्रह्मोपासनाभेदाभेदविचारस्तासु गुणोपसंहाराऽनुपसंहारनिर्णयश्च क्रियते । चतुर्थे पादे तु विद्यातः पुरुषार्थः, उत क-

र्म्मणः ? इत्याशङ्क्य, विद्यातः पुरुषार्थः कर्म्म तु फलाभिसन्धिरहितं विद्याऽङ्गमिति प्रतिपाद्यते । तत्र तावत् "अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति, अन्यन्नवतरं रूपं कुरुत" इतिवचनाज्जीवः प्राणेन्द्रियादिसहितः स्वकृतकर्मफलभोगार्थं प्राक्शरीरं विहाय शरीरान्तरं प्रतिपद्यते । तत्र किं स देहान्तरबीजरूपैः सूक्ष्मभूतैः सम्परिष्वक्तो यात्युतासम्परिष्वक्त इति संशयः । "स्वर्गे नरके वा यत्र कर्मफलमनुभूयते, तत्रैव कर्म्मफलभोगायतनशरीरारम्भकभूतमात्रा लभ्यन्त" इति साङ्ख्यादिपक्षादसम्परिष्वक्त एव यातीति पूर्वपक्षे, सिद्धान्तमाह ।

प्राणाद्याधारभूतैरुत्तरदेहबीजरूपैः सूक्ष्मैर्भूतैः सम्परिष्वक्तः परिवेष्टित एव तदन्तरप्रतिपत्तौ देहान्तरप्रवेशे जीवो रंहति गच्छति । कुतः ? प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । प्रश्नस्तावत्पञ्चाग्निविद्यायां "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति । निरूपणं प्रतिवचनम्, तच्च "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवती"त्यादिना । आप एव द्युलोकादौ प्रक्षिप्तास्तत्तत्पदवाच्या भवन्तीति प्रतिपाद्यत इति । "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति" । अयमर्थः । तत्र देवाः जीवसचिवभूताः प्राणा अग्नित्वेन निरूपिते द्युलोके श्रद्धां जुह्वति प्रक्षिपन्ति, सा च सोमराजाख्यामृतमयदेहात्मना परिणमते, तञ्च देहं ते एव देवाः पर्ज्जन्येऽग्नौ जुह्वति, स च देहस्तत्र हुतो वर्षं भवति, तच्च वर्षन्ते एव देवाः पृथिव्यामग्नौ जुह्वति, तच्च तस्यां हुतं सदन्नभावमाप्नोति, तदप्यन्नं त एव देवाः पुरुषेऽग्नौ जुह्वति, तत्र हुतं तदन्नं रेतोभावं प्राप्नोति, तद्रेतस्त एव देवा योषिदग्नौ जुह्वति, तच्च रेतस्तत्र गर्भात्मना स्थितं सत्पुरुषसंज्ञां लभते । इत्थमापः पुरुषसञ्ज्ञां लभन्ते । तदेतत्सर्वं जानन्नपि रा-

जा प्रवाहणः श्वेतकेतुं प्रति कर्म्मिणां गन्तव्यदेशादिप्रश्नान्कृत्वेदमपि पृष्टवान् "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति । एवम्पृष्टः श्वेतकेतुः पितरं गौतममागत्योवाच एवमहं राज्ञा पृष्टोऽस्मि तस्योत्तरं न जानामीति । स च गौतमः स्वयमजानन् राजसमीपं गत्वा तां विद्यां गृहीत्युवाच । ततो गौतमं प्रति राज्ञा प्रत्युत्तरं दत्तमेवंभूताभ्यां प्रश्ननिरूपणाभ्यामनुपलक्षितैः सूक्ष्मैर्भूतैः सम्परिष्वक्त एव देहान्तरं गच्छतीति निश्चीयते ॥ १ ॥

सू॰ त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ ३ । १ । २ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) त्रिवृत्करणश्रुत्याऽपां त्र्यात्मकत्वादितरयोरपि ग्रहणं, केवलाऽऽपग्रहणं तु तद्भूयस्त्वादुपपद्यते ॥ २ ॥

(वे॰कौ॰) ननु "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप" इति प्रश्ने तथेति "पञ्चम्यामाहुतावाप" इति निरूपणे चाऽऽप्शब्दश्रवणादद्भिः परिवेष्टितो यातीति गम्यते, एवंसति सर्वैर्भूतसूक्ष्मैर्वेष्टितो यातीति वक्तुं न शक्यते इत्याशङ्क्याह ।

तुः शङ्कानिरासार्थः । "त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी"ति त्रिवृत्करणश्रुत्याऽपां त्र्यात्मकत्वादितरयोरपि अन्नतेजसोः परिग्रहः, अन्यथा केवलाभिरद्भिर्देहान्तरोद्भवासम्भवात् । कथं तर्हि प्रश्ने प्रतिवचने चाऽऽब्मात्रग्रहणमत्राह—भूयस्त्वादिति । अपां भूयस्त्वात्तासामेव ग्रहणमित्यर्थः । यद्यपि शरीरे भूमेर्भूयस्त्वं प्रतीयते काठिन्यदर्शनात्तथाऽपि शुक्रशोणितेऽपां बाहुल्याद्युक्तमुक्तं भूयस्त्वादिति ॥ २ ॥

सू॰ प्राणगतेश्च ॥ ३ । १ । ३ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) "तमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती"ति प्राणगतिश्रवणाच्च भूतसूक्ष्मपरिवृत एव गच्छति ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती"ति श्रुतेः "मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति । शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः । गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयादि"ति स्मृतेश्च, स मुख्यानां प्राणानां वागीन्द्रियाणां गतेश्च भूतसूक्ष्मसम्परिष्वक्त एव रंहतीति प्रतीयते, निराश्रयाणां प्राणानां गमनासम्भवादिति भावः ॥ ३ ॥

सू० अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ३ । १ । ४ ॥

(वे० पा०सौ०) "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यमि"त्यादिना वागादीनामग्न्यादिषु गतेर्लयस्य श्रवणान्न तेषां जीवेन सह गमनमिति चेन्न । अग्न्यादिगतिश्रुतेः "ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा" इति सहपाठेन भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

(वे०कौ०) ननु प्राणानां जीवेन सह गमनं नोपपद्यते "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यमि"त्यादिना वागादिप्राणानां देहमरणसमयेऽग्न्यादिषु देवेषु गतेर्लयस्य श्रवणादिति चेन्न । कुतः ? भाक्तत्वात् । भज्यते मुख्या वृत्तिर्यया गौण्या वृत्त्या सा भक्तिस्तत्र भवं भाक्तम्, वागादीनामग्न्यादिष्वप्ययश्रवणमौपचारिकमधिष्ठातृदेवतापक्रमणपरमित्यर्थः । "प्राणमनूत्क्रामन्तमि"त्यादिश्रुतेर्मुख्यार्थपरत्वसम्भवात्, "यत्रास्ये"त्यादिश्रुते"र्ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा" इति सहपाठेन भाक्तत्वमवगम्यते । न च मृतस्य लोमादीनामोषध्यादिषु लयो दृश्यते ॥ ४ ॥

सू०प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ३ । १ । ५ ॥

(वे०पा०सौ०) प्रथमेऽग्नावपामश्रवणात् कथं पञ्चम्यामाहुतौ तासां पुरुषभाव इति चेन्न । यतः श्रद्धाशब्देन ता एवोच्यन्ते, उपक्रमाद्य-

नुपपत्तेः ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) ननु "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वती"-ति प्रथमेऽग्नौ होम्यत्वेन श्रद्धायाः श्रुतत्वात्, अपामश्रवणात्कथं पञ्चम्याहुतावपां पुरुषभावः, कुतश्च प्रथमतस्तदश्रवणे सति तत्र्यात्मकत्वमाश्रित्य भूतसूक्ष्मपरिष्वक्तस्य गमनं स्वीक्रियते इति चेन्न। हिशब्दो हेतौ। यतो याः प्रश्ने उपन्यस्तास्ता एवाऽपः श्रद्धाशब्देनोच्यन्ते। कस्मात्? उपपत्तेः। उपक्रमोपसंहारयोरेवमुपपत्तेः, इतरथा प्रश्नप्रतिवचनयोरेकवाक्यता न स्यात्। तथाहि "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"तिप्रश्नस्य प्रतिवचनोपक्रमे "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वती"त्यत्र श्रद्धाशब्देन यदि मनोवृत्तिविशेषरूपा श्रद्धा गृह्यते, तर्हि तथाभूताया मनोवृत्तिरूपायाः श्रद्धायाः "इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुष वचसो भवन्ती"त्यत्रान्वयो न स्यात्। तथा चान्यथा प्रश्नः, अन्यथा प्रतिवचनोपक्रमः, अन्यथा च प्रतिवचनं स्यात्। किञ्च मनोवृत्तिरूपायाः श्रद्धायाः होम्यत्वासम्भवः, सोमवर्षादीनाञ्च मनोवृत्त्युपादानकत्वासम्भवश्च ज्ञेयः। प्रकृते तु "आपो हास्मै श्रद्धां सन्नमन्ते पुण्याय कर्म्मणे" इत्यपां श्रद्धाजनकत्वं, श्रद्धायास्तज्जन्यत्वञ्च श्रूयते, इत्यनेन सम्बन्धेनाप्सु श्रद्धाशब्दस्य लक्षणा बोध्या। श्रद्धाशब्दस्याप्सु प्रयोगः श्रूयते। "श्रद्धा वा आपः श्रद्धामेवारभ्य यज्ञेन यजते" इति। सोमस्य श्रद्धोपादानकत्वं च श्रूयते "श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा भवती"ति ॥ ५ ॥

सू० अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ३ । १ । ६ ॥

(वे०पा०सौ०) भूतसम्परिष्वक्तो जीवो रंहतीति न वक्तुं शक्यमपादिवज्जीवस्याश्रवणादिति चेन्न। "इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते, ते धूम-

मभिसम्भवन्ती''त्यादिनेष्टादिकारिणां धूममार्गेण चन्द्रलोकप्राप्तिं निरूप्य त एव सोमशब्देन श्रुत्या निरूप्यन्ते ''एष सोमो राजा सम्भवती''त्यत्रापि सोमो राजा सम्भवतीत्यनेन प्रतीतेः ॥ ६ ॥

(वे०कौ०) ननु पञ्चम्यामाहुतौ श्रद्धासोमवर्षादिक्रमेणापः पुरुषपदवाच्या भवन्तु, अपां त्र्यात्मकत्वात्तदितरभूतपरिग्रहोऽपि भवतु, अबादिभूतसम्परिष्वक्तो जीवो रंहतीति तु नैव शक्यते वक्तुम्, कुतः? अबादिवदस्मिन्वाक्ये जीवस्याश्रवणादिति चेन्न। कुतः? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः। ''इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते, ते धूममभिसम्भवन्ती''त्यादिनेष्टादिकर्म्मकारिणां धूमादिमार्गेण चन्द्रलोकप्राप्तिं प्रतिपाद्य त एव सोमराजशब्देनाभिधीयन्ते ''एष सोमो राजे''ति। एवंसति ''तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवती''ति प्रकृतवाक्येऽपि सोमराजशब्दवाच्यत्वेन तेषामिष्टादिकारिणां प्रतीतिरित्यर्थः। तस्माज्जीवस्य श्रवणमस्त्येव। स अबादिभूतसम्परिष्वक्तो रंहति, नात्र कश्चिद्दोष इति भावः ॥ ६ ॥

सू० भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३ । १ । ७ ॥

(वे०पा०सौ०) केवलकर्म्मिणामनात्मवित्त्वाद्देवान्प्रति गुणभावे सति ''तद्देवानामन्नं ते देवा भक्षयन्ती''ति इष्टादिकारिणामन्नत्वेन भक्षत्वं भाक्तम् ''पशुरेव स देवानामि''तिश्रुतेः ॥ ७ ॥

(वे०कौ०) ननु चेष्टादिकारिणां जीवानां कर्म्मफलभोगाय चन्द्रलोकं प्रति रंहणमसमञ्जसम्भाति, ''तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ती''ति देवान्नत्वेन भक्ष्यत्वश्रवणात्, अतः सोमो राजा सम्भवतीत्यनेनेष्टादिकारिणां जीवानां प्रतीतिर्न शक्यते वक्तुं जीवस्यान्नत्वासम्भवादत आह।

वेति शङ्कानिरासार्थः । इष्टादिकारिणां देवान्प्रति पुत्रभृत्यादिवद्भोगोपकरणमात्रत्वात् अन्नत्वम्भाक्तम् औपचारिकम्, न तु मुख्यम्, "न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ती"तिचर्वणनिषेधात् । ननु पुत्रभृत्यादिवदप्यस्य देवभावं गतस्य परभोगोपकरणत्वमयुक्तमिति चेन्न । अनात्मवित्त्वात् । तत्रापि केवलकर्म्मिणामनात्मज्ञत्वाद्दियावद्भोगोपकरणत्वं युक्तमेव । स्वनिर्णीतस्यार्थस्य दृष्टानुसारित्वमात्रप्रतिपेधायाह तथा हि दर्शयतीति । अनात्मज्ञत्वेन देवभोगोपकरणत्वं "पशुरेव स देवानामि"तिश्रुतिर्दर्शयति । तस्मादबादिभूतसम्परिष्वक्तो जीवो रंहतीति सिद्धम् ॥ ७ ॥ इति तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवञ्च ॥ ३ । १ । ८ ॥

(वे०पा०सौ०) आमुष्मिकफलप्रदकर्मक्षये सति ऐहिकफलप्रदकर्मवान् यथा गतमनेवञ्च प्रत्यवरोहति "तत्र इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्" इत्यादिश्रुतेः, "वर्णाः आश्रमाश्च स्वकर्म्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्म्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते" इति स्मृतेश्च ॥८॥

(वे०कौ०) एवं कर्म्मिणामारोहणेऽबादिसम्परिष्वक्तत्वं निरूपितम् । तत्र भोगेन सर्वकर्म्मक्षये सति पुनर्विचित्रदेहप्राप्तिर्न सङ्गच्छत इत्याशङ्क्य, तेषामिदानीमवरोहणेऽनुशयवत्त्वं निरूप्यते ।

"तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्त" इत्यादिना स्वर्गिणामवरोहणमाम्नातम् । तत्र स्वर्गी जीवो निरनुशयः प्रत्यवरोहति, किं वाऽनुशयवान् ? इति संशयः । तत्र सम्पतत्यनेनेति सम्पातं कर्म्म, यावत्सम्पातमुषित्वेतिवाक्यात्सर्वकर्म्मभोगः प्राप्नोति । एवंसति सर्वकर्म्मभोगानन्तरं निरनु-

क्षयः प्रत्यवरोहतीति पूर्वः पक्षः। तत्र ब्रूमः। कृतस्य कर्म्मणः स्वर्गमुद्दिश्यानुष्ठितं यद्यागादि तन्मात्रस्यात्यये भोगेन क्षयेऽनुशयवान् जीवः यथेतं यथागतमारोहणप्रकारेणानेवं प्रकारान्तरेण च प्रत्यवरोहति। स्वर्गप्राप्तिहेतुभूतं कर्म्मजातं यावत्सम्पातमित्यादिश्रुत्योच्यते। तद्भिन्नमैहिकशरीरादिप्राप्तिहेतुभूतकर्म्मानुशयशब्देन गृह्यते। तद्यानारोहणमार्गेण धूमरात्र्यपरपक्षदक्षिणायनपितृलोकाऽऽकाशचन्द्रक्रमेण चन्द्राकाशवायुधूमाभ्रमेघवर्षक्रमेण च प्रत्यवरोहतीत्यर्थः। कुतः? दृष्टस्मृतिभ्याम्। दृष्टा प्रत्यक्षा श्रुतिः, सा च तावत्सानुशयानामवरोहं दर्शयति "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्, ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वे"ति। ये रमणीयचरणाः पुण्यकर्म्माणस्ते हि स्वर्गात्प्रत्यवरूढा इह ब्राह्मणादियोनिमापद्येरन्, ये तु कपूयचरणाः कुत्सितकर्म्माणस्ते संयमनात्प्रत्यागता इह श्वशूकरादियोनिमापद्येरन्। स्मृतिरपि सानुशयानामवरोहणं दर्शयति। वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्म्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्म्मफलमनुभूय, ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते इति ॥ ८ ॥

सू॰ चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ३ । १ । ९ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) ननु रमणीयचरणा इत्यत्र चरणमाचारस्तस्मादेवेष्टसिद्धौ न सानुशयस्यावरोहः सम्भवतीति चेन्न। यतश्चरणश्रुतिः कर्म्मोपलक्षणार्था इति कार्ष्णाजिनिर्मन्यते ॥ ९ ॥

(वे॰कौ॰) ननु "रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन्,

कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन्नि'त्यत्र यदि चरणशब्दः पुण्यापुण्यकर्म्मपरः स्यात्तर्हि पुण्यापुण्ययोनिलाभायाऽनुशयवतोऽवरोहणम्भवतु, न तु तथाऽस्ति । कुतः ? चरणात्—आचारात्, पुण्यापुण्ययोन्यापत्तिश्रवणात् चरणशब्दः कर्म्मपरो नास्ति, किन्तु चरणमाचारः, स च वेदे कर्मपदार्थान् पृथगेव सुचरितशब्देनाभिधीयते, यान्यनवद्यानि कर्म्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणीति, तस्मादनुशयवान् प्रत्यवरोहतीत्यसङ्गतमिति चेन्न । यस्मादियं चरणाख्याचारश्रुतिः कर्म्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिराचार्य्यो मन्यते, पुण्यापुण्यलक्षणकर्म्माभावे केवलादाचारात् शुभाशुभयोनिप्राप्त्यसम्भवात् ॥ ९ ॥

सू० आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ ३ । १ । १० ॥

(वे०पा०सौ०) ननु तथात्वे चरणस्यानर्थक्यं स्यादिति चेन्न । कर्म्मणां चरणापेक्षत्वात् ॥ १० ॥

(वे०कौ०) ननु चरणाख्याचारस्यानर्थक्यं चरणश्रुतेः कर्म्मोपलक्षणार्थत्वाङ्गीकारे स्यादिति चेन्न । पुण्यापुण्यकर्म्मणां सदसदाचारनिर्वर्त्त्यत्वेन सदसदाचारापेक्षत्वात्, "आचारहीनं न पुनन्ति वेदा" इति स्मृतेः ॥ १० ॥

सू० सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ३ । १ । ११ ॥

(वे०पा०सौ०) सुकृतदुष्कृते कर्म्मणी चरणशब्देनोच्येते इति बादरिः ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) "रमणीयचरणा" इत्यत्र चरणशब्दार्थः सुकृतं कर्म्म, "कपूयचरणा" इत्यत्र चरणशब्दार्थः दुष्कृतं कर्म्म, तदित्थञ्चरणशब्देन सुकृतदुष्कृते उच्येते । ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन पृथग्व्यपदेशोऽर्थवान् इति तु बादरिराचार्य्यो मन्यते । त-

स्मादनुशयवान् प्रत्यवरोहतीति सिद्धम् ॥ ११ ॥ इति कृतात्य-याधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ ३ । १ । १२ ॥

(वे०पा०सौ०) अनिष्टादिकारिगतिश्चिन्त्यते । तत्र तावत्पूर्वः पक्षः, निषिद्धसक्तानां विहितविरिक्तानां दुष्टानामपि "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसं ते सर्वे गच्छन्ती"ति गमनं श्रुतम् ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) एवमिष्टापूर्त्तादिकारिणां चन्द्रलोकारोहणावरोहणमुक्तमिदानीमनिष्टादिकारिणोऽपि चन्द्रलोकं यान्ति, न वेति विचार्य्यते ।

अनिष्टादिकारिणां चन्द्रलोकगतिरस्ति न वेति ? संशये, तावत्पूर्वः पक्षः अनिष्टं निषिद्धं कर्म्म, विहितपरित्यागः आदिशब्दार्थः, निषिद्धकारिणां विहितपरित्यागकारिणाञ्चापि "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ती"ति कौषीतकीवाक्येन गमनं श्रुतम् ॥ १२ ॥

सू० संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ ३ । १ । १३ ॥

(वे०पा०सौ०) यमालये दुःखमनुभूयानिष्टादिकारिणाञ्चन्द्रमण्डलारोहावरोहौ, "पुनः पुनर्वशमापद्यते मे, वैवस्वतं संयमनं जनानामि"-त्यादिषु यमालयगमनदर्शनात् ॥ १३

(वे०कौ०) ननु धर्म्मिणामिवाधर्म्मिणामपि यदि चन्द्रलोकगमनं तर्हि विधिनिषेधरूपस्य शास्त्रस्य वैयर्थ्यं स्यादित्यत आह ।

उक्तदोषनिवृत्तौ तुशब्दः । धर्म्मिणामिवाधर्म्मिणाञ्चन्द्रलोकगमनं नास्ति यत उभयविधशास्त्रवैयर्थ्यं स्यादित्यर्थः । तर्हि

को विशेष इत्यत्रोच्यते "न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" "वैवस्वतं संयमनञ्जनानां यमं राजानमि"त्यादिषु तद्गतिदर्शनाद्यमलोकगतिदर्शनात् । संयमने यमालये स्वकृतकर्म्मानुरूपं दुःखमनुभूयेतरेषामनिष्टादिकारिणां चन्द्रलोकारोहावरोहौ भवतः । तत्राधार्मिका नानायातना अनुभूय चन्द्रलोकमारुह्य प्रत्यवरोहन्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

सू० स्मरन्ति च ॥ ३ । १ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) पराशरादयः यमवश्यत्वं स्मरन्ति ॥ १४ ॥

(वे०कौ०) पराशरादयः सर्वेषां यमवश्यत्वं "सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन्किल" इत्यादिषु स्मरन्ति च ॥१४॥

सू० अपि सप्त ॥ ३ । १ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) रौरवादींस्सप्त नरकानपि स्मरन्ति ॥ १५ ॥

(वे०कौ०) अपि च पापिनां गन्तव्यत्वेन रौरवादीन् सप्त नरकान् स्मरन्ति ॥ १५ ॥

सू० तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ ३ । १ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) रौरवादिष्वपि चित्रगुप्तादीनामधिष्ठातॄणां यमायत्तया यमस्यैव व्यापारात्तत्राऽन्येऽप्यधिष्ठातार इति नास्ति विरोधः ॥१६॥

(वे०कौ०) ननु रौरवादौ चित्रगुप्तादयोऽपरेऽप्यधिष्ठातारः स्मर्यन्ते, यमस्यैव वशं यान्तीति विरुद्धमिवाभाति, नेत्याह ।

तत्रापि च रौरवादिष्वपि तद्व्यापारात् यमव्यापाराच्चित्रगुप्तादीनां यमायत्तत्वादविरोधः ॥ १६ ॥

(वे०पा०सौ०) अथ राद्धान्तः ।

सू० विद्याकर्म्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ ३ । १ । १७ ॥

पञ्चाग्निविद्यायाम् "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राणि असकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनाऽसौ लोको न सम्पूर्य्यते" इत्यनिष्टादिकारिणामनवरोहं दर्शयति । पथोरिति च विद्याकर्म्मणोर्निर्देशस्तयोः प्रकृतत्वात् "तद्य इत्थं विदुरिति देवयानः पन्था इष्टापूर्ते दत्तमिति पितृयानस्तयोरन्यतरेणापि ये न गच्छन्ति तानीमानि तृतीयस्थानभाञ्जि भूतानी"ति, पापिनां चन्द्रगतिर्नास्तीति वाक्यार्थः ॥ १७ ॥

(वे०कौ०) अथ सिद्धान्तमाह ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिषेधार्थः । अनिष्टादिकारिणां चन्द्रलोकगतिर्नोपपद्यते । यस्मात्पञ्चाग्निविद्यायां "वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्य्यते" इति प्रश्नस्य प्रतिवचने "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राणि असकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनाऽसौ लोको न सम्पूर्य्यते" इत्यनिष्टादिकारिणामनवरोहं दर्शयति । पथोरिति च विद्याकर्म्मणोर्निर्देशः । एतदेवाह सूत्रकारः "विद्याकर्म्मणोरिती"ति । अर्थ इति शेषः । कुतः ? तयोः प्रकृतत्वात्, एतयोरित्येतच्छब्दस्य प्रकृतवाचकत्वात् । एतयोर्विद्याकर्म्मणोः पथोः देवयानपितृयानसाधनयोरन्यतरेणान्यतरस्मिन् याने पापिनो नाधिकृता भवन्ति । फलितार्थस्तु "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते" इत्युक्त्वा "तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽह्नरि"त्यादिना देवयानो विद्याविषयः पन्था "अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते" इत्युक्त्वा "ते धूममभिसम्भवन्ती"त्यादिना पुण्यकर्म्मविषयः पितृयानश्च दर्शितः । तयोरन्यतरेणापि "ये न गच्छन्ति तानीमानि तृतीयस्थानभाञ्जि भूतानी"ति ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ती"ति श्रु-

तिरपीष्टादिकारियात्राविषया ॥ १७ ॥

सू० न तृतीये तथोपलब्धेः । ३ । १ । १८ ॥

(वे०पा०सौ०) तृतीयस्थानेऽनिष्टादिकारिदेहारम्भार्थमपि पञ्चमाहुत्यपेक्षा नास्ति, श्राद्धादिक्रमप्राप्तां पञ्चमाहुतिं विनाऽपि जायस्वेति देहारम्भोपलब्धेः ॥ १८ ॥

(वे०कौ०) ननु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति देहप्राप्तेः पञ्चमाहुतिसापेक्षत्वं श्रूयते । सा चाहुतिश्चन्द्रप्राप्तिपूर्विकाऽतोऽनिष्टादिकारिणामपि देहप्राप्तये चन्द्रारोहावरोहावङ्गीकर्त्तव्याविति चेन्नेत्याह ।

मुमुक्षूणामर्चिरादिमार्गः इष्टादिकारिणां पितृयानाख्यो मार्गः । इत्येतन्मार्गद्वयापेक्षया तृतीयं स्थानमिति स्थानशब्देन प्रच्यते । श्रुत्याऽनिष्टादिकारिणां यः स तृतीयस्तस्मिन्मार्गे देहप्राप्तेः पञ्चमाहुतिसापेक्षत्वं नास्ति । कुतः ? तथोपलब्धेः, तृतीये मार्गे प्रविष्टानां पञ्चमाहुतिमनपेक्ष्यैव "जायस्व म्रियस्वेतत्तृतीयं स्थानमि"तिदेहप्राप्तेरुपलब्धेः इष्टादिकारिणां श्रद्धासोमादिक्रमेणास्मिँल्लोके देहप्राप्तिरतस्तेषां देहप्राप्तौ "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति सङ्ख्यानियमः, अनिष्टादिकारिणां तु विनैवाहुतिसङ्ख्यानियमं भूतान्तरप्रविष्टाभिरद्भिः शरीरमारभ्यते, न तु श्रद्धादिक्रमप्राप्ताभिरित्यर्थः । "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"तिश्रुत्या चापां पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषशब्दवाच्यत्वं प्रतिपाद्यते, न च तासां प्रकारान्तरेण पुरुषवचस्त्वं वार्य्यते । "पञ्चम्यामाहुतावेवापः पुरुषवचसो भवन्ती"त्यवधारणाभावोऽप्यस्ति ॥ १८ ॥

सू० स्मर्य्यतेऽपि च लोके । ३ । १ । १९ ॥

(वे०पा०सौ०) "जज्ञे द्रोणविनाशाय पावकादिति नः श्रुतमि"-

त्यादिना इष्टादिकारिणामपि धृष्टद्युम्नप्रभृतीनां पञ्चमाहुतिं विनैव देहोत्पत्तिः स्मर्य्यते ॥ १९ ॥

(वे०कौ०) महाभारतादौ पुण्यकर्मणामपि धृष्टद्युम्नप्रभृतीनां पञ्चमाहुत्यनपेक्षो देहारम्भः । स्मर्य्यते च "उत्तस्थौ पावकात्तस्मात्कुमारो देवसन्निभः । कुमारी चापि पाञ्चाली वेदीमध्यात्समुत्थिता । सुभगा दर्शनीयाङ्गी स्वसितायत लोचने"त्यादिना १९

सू० दर्शनाच्च ॥ ३ । १ । २० ॥

(वे०पा०सौ०) चतुर्विधेषु भूतेषु स्वेदजोद्भिज्जयोः स्त्रीपुरुषसङ्गमन्तरेणोत्पत्तिदर्शनाच्च न पञ्चमाहुत्यपेक्षा ॥ २० ॥

(वे०कौ०) प्रत्यक्षतः जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेषु चतुर्विधेषु स्वेदजोद्भिज्जयोर्योषित्पुरुषसङ्गं विनैवोत्पत्तिदर्शनाच्च देहोत्पत्तेः पञ्चमाहुतिसापेक्षत्वं नास्ति ॥ २० ॥

सू० तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ ३ । १ । २१ ॥

(वे०पा०सौ०) "अण्डजं जीवजमुद्भिज्जमि"त्यत्र तु तृतीयशब्देन स्वेदजस्य सङ्ग्रहोऽतो न चातुर्विध्यहानिः ॥ २१ ॥

(वे०कौ०) ननु "तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिज्जमि"तिश्रुत्या स्वेदजानि भूतानि नोक्तानि, अतो न चतुर्विधानि तानीत्यत आह ।

संशोकजस्य स्वेदजस्योक्तश्रुतिस्थेनाण्डजं जीवजमुद्भिज्जमितिपाठक्रमापेक्षया तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनावरोधः सङ्ग्रहो ज्ञेयः । पृथिवीं जलं चोद्भिद्य जायते इत्युद्भिज्जं वृक्षादिकं यूकादिकञ्च, अतश्चतुर्विधानि भूतानि । तस्मादनिष्टादिकारिणां न चन्द्रलोकारोहणमिति सिद्धम् ॥२१॥ इत्यनिष्टादिकार्य्यधिकरणम्॥३॥

सू० तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ ३ । १ । २२ ॥

(वे०पा०सौ०) अवरोहप्रकारश्चिन्त्यते । "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते, यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षती"त्यत्र देवादिभाववदाकाशादिभावः, उत सादृश्यप्राप्तिमात्रम् ? इति सन्देहे, आकाशादिभाव इति प्राप्ते, उच्यते तत्सादृश्यापत्तिरिति । कुतः ? सादृश्यप्राप्तेरेवोपपन्नत्वात् ॥ २२ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र भूतसूक्ष्मपरिष्वक्ता इष्टादिकारिणः चन्द्रलोकं प्राप्य कर्मफलमनुभूय सानुशयाः यथागतमनेवञ्च प्रत्यवरोहन्तीत्युक्तमिदानीं तदवरोहप्रकारो विचार्य्यते ।

"अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रम्भवत्यभ्रम्भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षती"ति अवरोहश्रुत्याऽनुशयिनामवरोहतां देवमनुष्यादिभाववदाकाशादिभावः प्रतिपाद्यते, किंवाऽऽकाशादिसादृश्यमात्रमिति संशये, सोमभाववदविशेषादाकाशादिभावः प्रतिपाद्यते इति पूर्वः पक्षस्तत्रोच्यते । तत्स्वाभाव्यापत्तिरनुशयिनामवरोहतां जीवानां तैराकाशादिभिः सादृश्यापत्तिः प्रतिपाद्यते । कुतः ? उपपत्तेः, आकाशादिसंसर्गकृततत्सादृश्योपपत्तेः । तथा हि लोके क्षीरकाले दध्यभावात् क्षीरस्य दधिभावो युज्यते । अनुशयिनोऽवरोहतः सतः पूर्वं विद्यमानाकाशादिभावो न युज्यते, अन्यस्यान्यभावासम्भवात् सोमाख्यशरीरभावः स्वकृतपुण्यफलभोगाय युज्यते, आकाशादिभावस्तदानीं भोगाभावाच्च नोपपद्यते, अतो भवति श्रुतेः सादृश्यपरत्वम् । तस्मात्तत्सादृश्यापत्तिरिति सिद्धम् ॥ २२ ॥ इति तत्स्वाभाव्यापत्त्यधिकरणम् ४

सू० नातिचिरेण विशेषात् ॥ ३ । १ । २३ ॥

(वे०पा०सौ०) जीवोऽल्पेन कालेनाकाशादिवर्षान्तसाम्यं विज-

हाति पृथिवीं प्रविश्य व्रीह्यादिभावमापद्यते, "अतो खलु दुर्निष्प्रपतरमि"ति विशेषवचनात् । व्रीह्यादिभावाद्दुःखतरनिःसरणवाक्यं पूर्वत्राचिरकालिकमवस्थानं द्योतयति ॥ २३ ॥

(वे०कौ०) इदानीं तत्सादृश्यपरिच्छेदकः कालश्चिन्त्यते ।

किमनुशयवान् आकाशवायुधूमाभ्रमेघवर्षप्रतिपत्तौ तत्तत्सादृश्येन चिरं तिष्ठत्युताल्पकालमिति संशयः । तत्र तत्सादृश्येनाल्पकालावस्थितौ मानाभावात् पुण्यवद्भिर्लब्धस्य तत्सादृश्यस्यानल्पकालस्थायित्वसम्भवाच्च चिरं तिष्ठतीति प्राप्ते, (१)ब्रूमः "नातिचिरेणेति" । अनुशयवान् जीवः अल्पमल्पं कालमेवाकाशादिसादृश्येनावस्थाय वर्षसादृश्यानन्तरं भूमिं प्रविशतीत्यर्थः । कुतः ? विशेषात् । "पृथिव्यनन्तरं व्रीह्यादिभावस्ततो निष्क्रमणे अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरमि"ति विशेषश्रवणात् । अतो व्रीह्यादिभावात् दुर्निष्प्रपतरं दुःखतरं निष्क्रमणमनल्पकालसाध्यमित्यर्थः । एतेनाकाशादिभ्योऽचिरेण निःसरणं प्रतीयते । दुर्निष्प्रपतरमित्यत्र द्वितीयतकारलोपश्छान्दसः । आकाशादिसादृश्येन जीवस्य चिरं कालावस्थाने प्रयोजनाभावाच्च । तस्मादाकाशादिसादृश्येनाल्पकालं तिष्ठतीति सिद्धम् ॥ २३ ॥ इति नातिचिराधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू० अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ॥ ३ । १ । २४ ॥

(वे०पा०सा०) "ते इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते" तत्रान्यक्षेत्रज्ञाधिष्ठिते व्रीह्यादौ जायन्ते संसर्गमात्रं प्राप्नुवन्तीत्यर्थो ज्ञेयः । कुतः ? आकाशादिभिरिव तेषां व्रीह्यादिभिरपि संसर्गमात्रकथनात् ॥ २४ ॥

(वे०कौ० व्रीह्यादिप्राप्तौ चिरं कालं तिष्ठति चेन्नहि व्रीह्या-

(१) सूत्रकारसिद्धान्तं वदामः ।

देरनुशयिशरीरत्वमस्ति किमिति सन्देहमिदानीं निराकरोति ।

अनुशयिनां वृष्टिद्वारा पृथिवीप्राप्त्यनन्तरं श्रूयते "त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्त" इति । तत्र संशयः किमनुशयिनां व्रीह्यादिशरीरा जायन्ते, किं वाऽऽकाशादाविव व्रीह्यादौ तेषां संश्लेषमात्रमिति ? तत्र व्रीह्यादिशरीरवत्त्वेनोत्पद्यन्ते "जायन्ते"इतिवचनादिति प्राप्ते, ब्रूमः स्थावरशरीराधिकारिणाऽनुशयिजीवादन्येन जीवेनाधिष्ठिते व्रीह्यादौ ते संसर्गमात्रं प्राप्नुवन्ति । कुतः ? पूर्ववदभिलापात् । यथाऽऽकाशादिषु वर्षान्तेषु तेषां संश्लेषमात्रमुक्तम् , नतु तत्तच्छरीरित्वम् तत्र कर्मपरामर्शाभावात् । यत्र शरीरग्रहणपूर्वकं सुखदुःखभाक्त्वं, तत्र "रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन्नि"तिकर्मपरामर्शोऽस्ति । एवं व्रीह्यादिष्वप्यभिलापात् कर्म्मपरामर्शं विनैव व्रीह्यादिभावव्यपदेशेन प्रवेशमात्रकथनात् इष्टादिकर्म्मकारिणां स्थावरजन्मप्रापककर्म्मणोऽभावाच्च जायन्ते इति वचनं संसर्गमात्रपरमिति भावः ॥ २४ ॥

सू० अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ ३ । १ । २५ ॥

(वे०पा० सौ०) तेषां व्रीह्यादिस्थावरयोनिप्रापकं हिंसायोगाज्ज्योतिष्टोमाद्यशुद्धं कर्म्मास्तीति चेज्ज्योतिष्टोमादेरशुद्धत्वं नास्ति, विधिशास्त्रात् ॥ २५ ॥

(वे०कौ०) नन्विष्टादिकारिणामशुद्धमग्निषोमीयपशुहिंसायोगात्पापमिश्रं ज्योतिष्टोमादिकर्म्मास्ति, तत्र पुण्यांशस्य स्वर्गे फलमनुभूय हिंसांशफलानुभवार्थं व्रीह्यादिषु स्थावरेषु ते जन्म प्राप्नुवन्तीति चेन्न । कुतः ? शब्दात् । ज्योतिष्टोमादेः शब्दात् शास्त्रात्केवलधर्म्मत्वेन सुखहेतुत्वादित्यर्थः । "न हिंस्यात्सर्वभूतानी"ति हिंसात्मकाधर्मनिषेधशास्त्रं धर्म्मविपर्ययेण सुखोदर्कसंज्ञ-

पनशास्त्रेण बाध्यते इति भावः । तत्र हितमेव भवति न हिंसा "न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवा उ एषिपथिभिः सुगेभिः यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्र त्वा देवः सविता दधात्वि"ति मन्त्रवर्णात्, तस्माच्च तादृशं कर्म्माशुद्धम् ॥ २५ ॥

सू० रेतःसिग्योगोऽथ ॥ ३ । १ । २६ ॥

(वे०पा०सौ०) "यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवती"ति सिग्भावव्रीह्यादिभावोऽपि ॥ २६ ॥

(वे०कौ०) अथ व्रीह्यादिभाववचनान्तरम् "यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवतीती"ति रेतःसिग्योगः श्रूयते । रेतः सिञ्चतीति रेतःसिक्तेनानुशयिनो योगो रेतःसिग्योगस्तत्र तद्भक्षिताऽन्ननिबन्धनो रेतोनिबन्धनश्च तद्भूयोभवतीति तद्भावलक्षणश्च योगस्तत्संसर्गमात्रं प्रतिपादयति, तद्वद्व्रीह्यादिभाववचनमपि संसर्गमात्रविषयम्, तद्भूय एव भवति मनुष्यपश्वादिभूतस्य रेतःसेक्तुः सम्बन्धी सन् सदृशो भवतीत्यर्थः॥२६॥

सू० योनेः शरीरम् ॥ ३ । १ । २७ ॥

(वे०पा०सौ०) योनिमाश्रित्य शरीरी भवति ॥ २७ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्क्कविरचिते शा० मी० वाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे तृतीयाध्याये १ पादः ॥

(वे०कौ०) अनुशयी पञ्चमाहुतौ सिग्वियुक्तो योनेः संयोगाच्छरीरम्प्रतिपद्यते, तस्मात्ततः पूर्वत्राकाशादिभाववचनानि तत्तत्संयोगमात्रं प्रतिपादयन्तीति सिद्धम् ॥ २७ ॥ इत्यन्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥ ६ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीश्रीनिवासाचार्य्येण विरचिते शा० मी० भाष्ये श्रीवेदान्तकौस्तुभे तृतीयाध्याये १ पादः ॥ १ ॥

तृतीयाध्याये द्वितीयपादारम्भः ॥

सू० सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ ३ । २ । १ ॥

(वे०पा०सौ०) एवं जाग्रतो जीवस्य वैराग्यार्थं संसारगतिरुदीरिता। अथ स्वप्नादि निरूप्यते । स्वप्नमधिकृत्य "अथ न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" इत्यादि श्रूयते। तत्र रथादिसृष्टिर्जीवकृता, उत ब्रह्मकृता? इति सन्देहे स्वप्नस्थाने रथादिसृष्टिर्जीवकृता, हि यतः "सृजते स कर्त्ते"ति श्रुतिराह ॥ १ ॥

(वे०कौ०) एवं प्रथमे पादे आत्मानात्मविवेकार्थं भूतभौतिकसम्बन्धो वैराग्यार्थं च स्वर्गनरकसम्बन्धो जाग्रतो जीवस्य प्रपञ्चितः। इदानीं विवेकवैराग्ययोर्दार्ढ्यार्थं स्वप्नाद्यवस्था विचार्य्यन्ते । ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे भक्त्युद्रेकसिद्ध्ये तद्गुणाश्च निरूप्यन्ते ।

बृहदारण्यके स्वप्नमधिकृत्य श्रूयते "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति, अथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते, न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यस्स्रवन्त्यो भवन्ति, अथ वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ते"ति। तत्र संशयः किमियं रथादिसृष्टिर्जीवकर्तृका, उत ब्रह्मकर्तृकेति? तत्र हि यतः "सृजते स हि कर्त्ते"तिश्रुतिः रथादिकर्तृत्वेन जीवमेवाह, अतो सन्ध्ये स्वप्नस्थाने रथादिसृष्टिर्जीवकर्तृका, "तृतीयं स्वप्नस्थानमि"तिश्रुतेः ॥ १ ॥

सू० निर्मातारञ्चैके पुत्रादयश्च ॥ ३ । २ । २ ॥

(वे०पा०सौ०) "य एषु सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाण" इति स्वप्ने एके जीवकामानां पुत्रादिरूपाणां कर्त्तारं समामनन्तीति पूर्वः पक्षः ॥ २ ॥

(वे०कौ०) किञ्चैनं जीवात्मानं "य एषु सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाण" इति स्वप्ने कामानां निर्म्मिमातारं कर्त्तारमेके शाखिनः समामनन्ति । श्रुतिगतकामपदार्थमाह पुत्रादयश्चेति । काम्यन्ते इति कामाः पुत्रादयः कामशब्देनोच्यन्ते, नेच्छामात्रम् "सर्वान्कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व, शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्वे"ति प्रक्रमात् । प्रजापतिवाक्ये जीवस्य सत्यसङ्कल्पत्वादि प्रसिद्धमेवातः सत्यसङ्कल्पत्वादियुक्तजीवस्य रथादिनिर्म्मातृत्वं युज्यत इति पूर्वः पक्षः ॥ २ ॥

सू० मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त-
स्वरूपत्वात् ॥ ३ । २ । ३ ॥

(वे०पा०सौ०) तत्राभिधीयते स्वप्ने सत्यसङ्कल्पसर्वज्ञपरमेश्वरनिर्म्मितमेव रथादिकार्य्यजातम् , यतो ह्याश्चर्य्यभूतं तत्र जीवकृतम् , तदीयसत्यसङ्कल्पत्वादेर्बद्धावस्थायां कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) तत्र सिद्धान्तमाह ।

तुशब्दः पक्षनिषेधार्थः । स्वाप्नं रथादिकं मायामात्रमाश्चर्य्यमात्रम् । अत्र मायाशब्द आश्चार्य्यार्थः । श्रीवासुदेवो निखिलाश्चर्य्यभूतसृष्टिसंहारकुशलो जीवानामल्पकालस्थायिसुखादिसिद्धये दुर्विभाव्याभिः स्वशक्तिभिस्तत्तत्कर्म्मानुरूपं तत्तज्जीवभोग्यमाश्चर्य्यरूपं रथाद्यर्थजातं करोति । स्वप्नद्रष्टा जीवस्य तूपकरणाद्यभावात्तत्कर्तृत्वं नोपपद्यते । तस्य सत्यसङ्कल्पत्वादिधर्म्माणां कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् बद्धावस्थायां तिरोधानात् ॥३॥

सू० सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ३ । २ । ४ ॥

(वे०पा०सौ०) "यदा कर्म्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने" इति, "अथ यदा स्वप्नेषु

पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ती"ति श्रुतेः स्वप्नः सा-ध्वागमासाध्वागमयोः सूचकोऽवगम्यते, एतदेव स्वप्नफलविद आचक्षते। अतो बुद्धिपूर्वकेष्टागमसूचकस्वप्नादर्शनादेवानिष्टागमसूचकस्वप्नदर्शनाच्च परमात्मैव स्वप्नरथादिनिर्म्माता ॥ ४ ॥

(वे०कौ०) इतश्च भगवत्कर्त्तृकत्वं स्वाप्नरथादेरवगम्यते, हि यतः स्वप्नः शुभाशुभसूचकः परकर्त्तृकत्वेनैवार्थवान्भवति "यदा कर्म्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने" इति, "अथ यदा स्वप्नेषु पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति। स एनं हन्ती"ति च श्रुतेः। शुभाशुभसूचकत्वं स्वप्नस्य स्वप्नाध्यायविदोऽप्याचक्षते "आरोहणं गोवृषकुञ्जराणां प्रासादशैलाग्रवनस्पतीनाम्। विष्ठानुलेपो रुदितम्मृतञ्च स्वप्ने त्वगम्यागमनञ्च धन्यम् ॥ कृष्णाम्बरधरा नारी कृष्णमाल्यानुलेपना। अवगूहति यं स्वप्ने तस्य मृत्युर्न संशयः॥" इत्यादि। यदि जीवः स्वप्नसृष्टिकर्त्ता, तर्हि स्त्र्यादिकं शुभसूचकमेव निर्म्माय सुखमेवानुभूयेत, न त्वात्मविनाशाय कृष्णपुरुषाद्युत्पादकत्वं तस्य घटेत। ते च शाखिनः कामानां निर्म्मातारं परमात्मानमाहुः। "एषु सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाणः, तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥" इति स्वाप्नसृष्टिश्रुत्युक्तलिङ्गानां परमेश्वरविषयाणां जीवेऽन्वयासम्भवात् ॥ ४ ॥

सू० पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ ॥ ३ । २ । ५ ॥

(वे०पा०सौ०) सत्यसङ्कल्पादिकं स्वाप्नपदार्थनिर्म्मातृत्वे जीवस्यावश्यमङ्गीकरणीयं, तच्च जीवकर्म्मानुरूपात्परमेश्वरसङ्कल्पाद्बद्धावस्थायां तिरोहितं तस्मादेव जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः "संसारबन्ध-

स्थितिमोक्षहेतुरि"ति श्रुतेः ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) ननु बद्धावस्थायां जीवस्य सत्यसङ्कल्पादिकं कुतस्तिरोहितमित्यत आह

उक्तशङ्कानिवृत्त्यर्थस्तुशब्दः । ब्रह्मांशस्य अस्य जीवस्यानादिकर्म्मात्मिकयाऽविद्यया विमोहितस्यात एव भगवत्पराङ्मुखस्य स्वाभाविकमपि सत्यसङ्कल्पादिकं तिरोहितं बद्धावस्थायां भवति । कुतः ? पराभिध्यानात् । परस्य परमपुरुषस्याभिध्यानाज्जीवकर्म्मानुरूपात्सङ्कल्पात् । हि अवधारणे । तत एव सङ्कल्पादस्य बन्धविपर्य्ययौ भवतः "संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये ऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभये प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति, यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवती"त्यादिश्रुतिभ्यः, "बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ॥ ५ ॥

सू० देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ३ । २ । ६ ॥

(वे पा०सौ०) स च तिरोभावोऽविद्यायोगद्वारेण भवति ॥ ६ ॥

(वे०कौ०) सोऽपि पराभिध्यानकृतः सत्यसङ्कल्पादितिरोभावः सृष्टिवेलायां देहयोगात् प्रलयवेलायां प्रकृतियोगाद्भवति । कार्य्यकारणरूपप्रकृतियोगद्वारेण स्वसङ्कल्पाजीवकर्म्मानुसारी भगवान्सत्यसङ्कल्पादियुक्तस्य स्वांशभूतस्य जीवस्य रूपं तिरोधापयतीत्यर्थः । तस्मात्तत्तत्प्राणिकर्म्मानुरूपतत्तत्स्वाप्यनुभाव्याल्पकालस्थायिनः स्वाप्नपदार्था भगवत्सृष्टाः, न जीवकृता इति सिद्धम् ॥ ६ ॥ इति सन्ध्याधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ३ । २ । ७ ॥

(वे०पा०सौ०) स्वप्नसृष्टिनिर्म्माता परमात्मा । सुषुप्तिरपि नाडी-

पुरीतत्प्रवेशानन्तरं खलु परमात्मन्येव भवति "आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवती"ति, "ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" इति, "य एषोन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते" इति च श्रवणात् ॥ ७ ॥

(वे०कौ०) एवं स्वप्नपदार्थानां स्वप्रदर्शिभिन्नत्वसृज्यत्वास्थिरत्वनिरूपणेन विवेकविरागौ दृढीकृतौ । अथेदानीमस्यैवार्थस्य पुष्ट्यर्थं सुषुप्तिस्थानं चिन्त्यते ।

"तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवती"ति नाडीषु सुषुप्तिः श्रूयते । "अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्य वेद तदा हि ता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेत" इति पुरीतति सुषुप्तिः श्रूयते । "य एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिञ्छेते यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य ! तदा सम्पन्नो भवति प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर"मित्यादिना च ब्रह्मणि सुषुप्तिः श्रूयते । तत्र संशयः किं सुषुप्तिस्थानविकल्पः, आहोस्वित्समुच्चयः ? इति । जीवस्य तेषां त्रयाणाम्मध्ये यत्र कुत्रचिदपि सुषुप्तिसम्भवात्त्रिषु युगपत्तदसम्भवाच्च विकल्प इति पूर्वपक्षे, ब्रूमः तदभावः स्वप्नाभावः सुषुप्तिः, नाडीषु आत्मनि आकाशादिशब्दोदिते ब्रह्मणि चकारात्पुरीतति नाडीब्रह्मणोरन्तरालवृत्तौ स्थानविशेषे भवति, नाडीपुरीतदात्मनां समुच्चय एव, नहि विकल्प इत्यर्थः । कस्मात् ? तच्छ्रुतेः । नाडीपुरीतदात्मनां यत्सुषुप्तिस्थानत्वं तस्य श्रुतेः श्रवणात् । तत्र नाडीपुरीततोः प्रसादखट्वास्थानीययोर्गुणत्वाच्छय्यास्थानीयस्य परमात्मनः प्रधानत्वात् स एव साक्षात्सुषुप्तिस्थानमिति फलितोऽर्थः ॥ ७ ॥

सू० अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ३ । २ । ८ ॥

(वे०पा०सौ०) अतएव "सत आगम्ये"त्यादौ श्रूयमाणं परमेश्वरादप्युत्थानमुपपद्यते ॥ ८ ॥

(वे०कौ०) परमात्मैव जीवानां सुषुप्तिस्थानमतो हेतोः अस्मात्परमात्मनः सकाशादेव तेषां प्रबोधः जाग्रत्स्थानप्राप्तिरुपपद्यते "सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह" इत्यादिवचनात् । परमात्मनोऽन्यस्य जीवसुषुप्तिस्थानत्वे सत आगम्येत्यादि वाक्यं बाध्येत, अन्यस्मिञ्छयनमन्यस्मादुत्थानञ्च न घटेत इति भावः । अतः सुषुप्तिस्थानं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ ८ ॥

सू० स एव तु कर्म्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ३ । २ । ९ ॥

(वे०पा०सौ०) यः सुप्तः स एव जीव उत्तिष्ठति । यस्मात्पूर्वेद्युः कर्म्मणोऽर्द्धं कृत्वा परेद्युरनुस्मृत्य तदर्द्धं करोति, "त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तथा भवन्ती"त्यादिशब्देभ्यः, "अग्निहोत्रं जुहुयादात्मानमुपासीते"त्यादिविधिभ्यः ॥ ९ ॥

(वे०कौ०)इदानीं सुषुप्तिस्थाने ब्रह्मणि प्रविष्टस्य दुःखाख्यावस्थाद्वयनिर्म्मुक्तस्य जीवस्योत्थानं न सङ्गच्छते, इत्याशङ्क्याह ।

किं यः सुप्तः स एव प्रबोधसमये उत्तिष्ठति, तदन्यो वा? इति संशयः । तत्र ब्रह्मसम्पन्नस्योत्थानासम्भवादन्य इति प्राप्ते, ब्रूमः । तुशब्दः पक्षनिषेधार्थः । स एव सुप्तः उत्तिष्ठति, नान्यः । कुतः? कर्म्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यो हेतुभ्यः । यदिनद्वयसाध्यं कर्म्म तदारम्भं जनः पूर्वेद्युः कृत्वा नक्तं सुप्तो भवति, पुनरुत्थायापरेद्युः स एव तत्समापयति । एवम्भूतात्कर्म्मणः यः सुप्तः स एव प्रबुद्धो इति गम्यते । अनुस्मृतेः, "यो नक्तं सुप्तः सोऽहं प्रत्यूषे प्रबुद्धोऽस्मी"तिप्रत्यभिज्ञानाच्च । शब्देभ्यः "इमाः

सर्वाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्ति, त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तथा भवन्ती"त्येवमादिभ्यश्च । तथा भुक्तिमुक्तिपरेभ्यः "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामो यजेत, शान्त उपासीतात्मानमुपासीते"त्येवमादिभ्यो विधिवाक्येभ्यश्च । यदि सुप्तेतर उत्तिष्ठति तदैते हेतवो बाध्येरन्, तस्मात् सुप्त एवोत्तिष्ठतीति सिद्धम् ॥ ९ ॥ इति कर्म्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

सू० मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥ ३ । २ । १० ॥

(वे०पा०सौ०) मूर्च्छिते मरणार्द्धसम्पत्तिः सुषुप्त्यादिषु मूर्च्छा नैकतमा, अतः परिशेषात् सा तदतिरिक्ता ॥ १० ॥

(वे०कौ०) इदानीम्मूर्च्छाऽवस्था विचार्य्यते ।

लोकप्रसिद्धा मूर्च्छाऽवस्था किं सुषुप्त्यादावेवान्तर्भवति, आहोस्वित्तदतिरिक्तेति ? संशये, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्युत्क्रान्तिभेदाच्चतस्रो जीवस्यावस्थाः सुप्रसिद्धास्तास्वेवान्तर्भावो युक्तः तदतिरिक्ता मूर्च्छेत्यत्र मानाभावादिति प्राप्ते, ब्रूमः मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिर्भवति । इह दुःखातिशयेन मूर्च्छितो जनो मुग्ध इत्युच्यते स मरणस्थानस्यार्द्धं प्राप्नोति । ताभ्योऽतिरिक्ता मूर्च्छावस्थेत्यर्थः । कुतः ? परिशेषात् । तथा हि न तावन्मूर्च्छा जाग्रदवस्थायां स्वप्नावस्थायां वाऽन्तर्भवति, ज्ञानाभावात् । नापि मरणे तदन्तर्भावः, प्राणोष्मणोः सत्त्वात् । नच सुषुप्तिरेव मूर्च्छेत्युच्यते, सुषुप्तेः सत्परिष्वङ्गात्सुखस्थानत्वात् । अतः परिशेषात्सुषुप्त्याद्यन्यतमा मूर्च्छाऽवस्था नास्ति, किन्त्ववस्थान्तरमिति सिद्धम् ॥१०॥ इति मुग्धाधिकरणम् ॥ ४ ॥

सू० न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥३।२।११॥

(वे०पा०सौ०) अकर्म्मवश्यत्वात्सर्वान्तर्वर्त्तिनोऽपि परमात्मनस्तत्र

तत्र दोषा न सम्भवन्तीत्युपपादितमेव, स्थानतोऽपि दोषाः परस्य न, यतः सर्वत्र ब्रह्मनिर्दोषत्वस्वाभाविकगुणात्मकत्वाभ्यां युक्तमाम्नातम् ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र संसारवैराग्योत्पादनाय जीवस्यावस्थाविशेषाः परस्य च ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य स्वप्नसृष्टिकर्तृत्वसत्यसङ्कल्पत्वसुषुप्तिसुखहेतुत्वादयो गुणाश्च तस्मिन्ननुरागोत्पादनाय संक्षेपतो निरूपिताः । इदानीं परस्मिन्ननुरागजननाय तस्य स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषत्वं समस्तकल्याणगुणैकराशित्वञ्च प्रतिपादयितुं भगवानिदमाह ।

किञ्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिषु स्थानेषु स्थितस्य जीवस्य ये तत्तत्स्थाननिबन्धना दोषास्ते तदन्तर्य्यामिणः परमात्मनोऽपि सन्ति, न वेति ? सन्देहे, पूर्वः पक्षः । यद्यपि प्रथमाध्याये "तम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यादि"त्यादिषु शरीराभिमानिनः कर्म्मकर्त्तुर्जीवस्यैव ते दोषाः सन्ति, न स्वकर्म्मवश्यस्य परमात्मन इत्युक्तम् , तथापि वह्निविदीप्तशरणसंसर्गात्तत्स्वामिनो यज्ञदत्तस्येव तत्र प्रविष्टस्य तन्मित्रस्य देवदत्तस्यापि वह्नितापप्राप्तिवत्परमात्मनोऽपि स्थानतो दोषाः सम्भवन्तीति । तत्र ब्रूमः नेति । परस्य ब्रह्मणः स्वानन्दपूर्णस्य स्वांशभूतजीवनियमनाय कारुण्यवशात्स्वेच्छयैव जीवान्तर्य्यामितया तत्तत्स्थानेषु प्रविष्टस्यापि तत्तत्स्थानप्रयुक्ता दोषा नैव सन्ति । हि यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषूभयलिङ्गं स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषत्वस्वाभाविकगुणगणमन्दिरत्वलक्षणवत्परम्ब्रह्म निश्चीयते । "य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, यः सर्वज्ञः सर्ववित् , यस्य ज्ञानमयं तपः, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् , स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे"त्याद्याः श्रुतयः, समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशोद्धृतभूतसर्गः । तेजोबलैश्वर्य्ये-

महावबोधः स्ववीर्य्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ॥ परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे।" इत्याद्या स्मृतयश्च ॥११॥

सू॰ भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ ३ । २ । १२॥

(वे॰पा॰सौ॰) वस्तुतोऽपहतपाप्मत्वादियुक्तस्यापि जीवस्य देहयोगेनावस्थाभेददोषाः सन्त्येव, तथा परस्यापि भवन्त्विति चेन्न । प्रत्येकमन्तर्य्यामिणो दोषापादकवचनाभावात् "एष ते आत्मान्तर्य्याम्यमृतः" इत्यमृतत्ववचनात् ॥ १२ ॥

(वे॰कौ॰) ननु छान्दोग्यप्रसिद्धप्रजापतिवाक्यप्रतिपादितस्य स्वतोऽपहतपाप्मत्वाद्युपेतस्यापि जीवस्य तत्तद्देहसम्बन्धावस्थाभेदादुक्तदोषाः सन्त्येव, तथा परस्यापि स्वतोऽपहतपाप्मत्वाद्युपेतस्य सर्वान्तर्य्यामितया तत्तद्देहसम्बन्धावस्थाभेदात्ते दोषाः स्युरिति चेन्न । कुतः ? प्रत्येकमतद्वचनात् । प्रत्येकं प्रत्यवस्थं परमपुरुषदोषापादकवचनाभावात् । जीवस्याऽपहतपाप्मत्वादियुतस्यापि तत्कर्म्मानुसारिपराभिध्यानात्तिरोहितस्वरूपस्योक्तदोषाः सन्ति, नतु नित्याविर्भूतस्वरूपस्य परस्य, तथाहि "जागरे कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्ते" इत्यादिजीवदोषप्रतिपादकवचनानि सन्ति, न परविषयानि । स्वप्नमधिकृत्याथ "यदा स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ती"त्यादीनि । सुषुप्तिमधिकृत्य "सर्वाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्य एनं ब्रह्मलोकं न विदन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा" इत्यादीनि च जीवविषयकाणि वाक्यानि सन्ति, न परविषयकाणि । एवमुत्क्रान्त्यादावप्येतद्वचनं बोध्यम् । बृहदारण्यके "यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयती"त्युपक्रम्य पृथिव्यबन्न्यन्तारिक्षादिषु त्वग्विज्ञानरेतःपर्य्यन्तेषु नियम्येषु प्रतिपर्य्यायम् "एष ते आत्मान्तर्याम्यमृत" इत्यन्तर्य्यामिणो

निर्दोषत्वापादकामृतत्ववचनाच्च ॥ १२ ॥

सू० अपि चैवमेके ॥ ३ । २ । १३ ॥

(वे०पा०सौ०) अपि च "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" इति एके शाखिन अधीयते ॥ १३ ॥

(वे०कौ०) अपि चैकत्र स्थितयोरपि जीवपरमेश्वरयोर्मध्ये कर्म्मवश्यस्य जीवस्यैव दोषभाक्त्वमपरस्याकर्म्मवश्यस्य न तथात्वमिति एके शाखिनोऽधीयते । "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशी"ति इति ॥ १३ ॥

सू० अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ ३ । २ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) "नामरूपे व्याकरवाणी" त्यस्मिन्कार्य्येऽपि परस्य नामरूपनिर्वाहकत्वेन प्रधानत्वाद्धेतोः स्वोत्साद्यनामरूपभोक्तृत्वाभावाद्ब्रह्मारूपवद्भवति, अतो दोषगन्धाऽनाघातं ब्रह्म ॥ १४ ॥

(वे०कौ०) नन्वस्तु स्थानतोऽपि ब्रह्मणि दोषाभावः, तथापि नामरूपकर्तृत्वेन ब्रह्मणस्तद्भोक्तृत्वं प्राप्नोति, कर्तुः प्रवृत्तेस्तदभ्युदयार्थत्वात्, "नामरूपे व्याकरवाणी"ति नामरूपयोरुत्तमपुरुषप्रयोगाद्ब्रह्मकर्तृकत्वमवगम्यते, तस्मात्परस्य ब्रह्मणः कर्मवश्यत्वसिद्धिः, कर्म्मवश्ये सर्वदोषाः सम्भवन्तीत्यत्राह ।

रूपाणि नामसहितानि देवदेहादीनि जीवकर्म्मानुसारिब्रह्मकृतानि भोग्यत्वेन न विद्यन्ते अस्य अतोऽरूपवदेव ब्रह्म नामरूपयोर्व्याकरणे स्वभोगार्थं नैव प्रवर्त्तते इत्यर्थः, आप्तकामत्वात् । हिशब्दः प्राकृतनामरूपनिबन्धनानां सर्वेषां दोषाणां ब्रह्मण्यभावं सूचयति । कुतः ? तत्प्रधानत्वात्, तस्मिन्कार्य्ये ब्रह्मणो नामरूपनिर्वहितृत्वेन प्रधानत्वात् । "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते"ति श्रुतेः जीवार्थं नामरूपनिर्वहितृत्वं परस्य जीवेनेतिपद-

मपि सूचयति । पूर्वोक्तलक्षणो ब्रह्मांशो जीवपदार्थस्तत्रांशित्वेन ब्रह्मापि वर्त्तते "य आत्मनि तिष्ठन्नि"ति श्रुतेः । तत्र देवादिना-मरूपोत्पादनेऽशप्रवृत्त्यनुपपत्त्यांशकार्य्यसिद्ध्यर्थं प्रवृत्तेंऽशिनि ब्रह्मणि जीवशब्दप्रवृत्तिर्मुख्यैव । अतो जीवेनात्मनेति सामानाधिकरण्यम्, जीवस्य कर्म्मवश्यत्वात्तद्रूपसम्बन्धित्वेन दोषाः सम्भवन्ति । ब्रह्मणो जीवकर्म्मानुरूपकर्तृत्वेऽपि तत्फलभोक्तृत्वाभावान्नोक्तदोषाः सम्भवन्ति । तस्मादुभयलिङ्गं ब्रह्म ॥ १४ ॥

सू० प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ ३ । २ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) तम अस्पृष्टं प्रकाशवदेवंभूतमुभयलिङ्गं ब्रह्म "आदित्यवर्णं तमसः परस्तादि"त्यनेनैकेन वाक्येनाभिधीयते, वाक्यस्यावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

(वे०कौ०) उभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणो द्रढयति ।

प्रकाशवत् प्रकाशः धर्म्मलक्षणं ज्योतिरस्यास्तीति प्रकाशवत् । चकारात्प्रकाश्यदोषास्पृष्टं ब्रह्मोभयलिङ्गं भवति । कुतः ? "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । आदित्यवर्णं तमसः परस्तादि"त्यादिवाक्यानामवैयर्थ्यात् । एकैकस्य वाक्यस्योभयलिङ्गब्रह्माभिधायित्वं द्योतयितुमिदं सूत्रम् ॥१५॥

सू० आह च तन्मात्रम ॥ ३ । २ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) वाक्यं यावान् यस्यार्थस्तावन्मात्रमाह यदा तदा तदेवावैयर्थ्यं बोध्यम् ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) वाक्यानामवैयर्थ्यं वैयर्थ्यं च यथा भवति तदाह ।

यस्याः श्रुतेर्यो यावांस्तत्रोऽर्थस्तन्मात्रं सा आह यदा तदा तस्या अवैयर्थ्यम्भवति । (एवं सत्युभयलिङ्गवादिवाक्यानां परस्पराविरोधेन स्वार्थे प्रामाण्यमस्तीति ध्वनिः) ॥ १६ ॥

सू० दर्शयति चाथो अपि स्मर्य्यते ॥ ३ । २ । १७ ॥

(वे०पा०सौ०) "य आत्माऽपहतपाप्मा, निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं, सत्यकामः सत्यसङ्कल्प" इत्यादिवाक्यगणः उभयलिङ्गं ब्रह्म दर्शयति। अथ स्मर्य्यतेऽपि "यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः । अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते । अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ! । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगदि"त्यादिना ॥ १७॥

(वे०कौ०) उभयलिङ्गमेव ब्रह्म श्रुतिगणो दर्शयति च "य आत्माऽपहतपाप्मा, निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं, सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, यः सर्वज्ञः सर्ववित्, पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम्, स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः, स एको ब्रह्मण आनन्दः, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्च ने"त्यादिः । स्मर्य्यतेऽपि "यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् । न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ! विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् । मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय । अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव चे"त्यादिना ।१७।

सू० अतएव चोपमा सूर्य्यकादिवत् ॥ ३ । २ । १८ ॥

(वे०पा०सौ०) यतः सर्वगमपि ब्रह्मोभयलिङ्गत्वान्निर्दोषमेव, अतएव "यथाऽऽत्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमानि"त्यादौ शास्त्रे ब्रह्मणो निर्दोषत्वं स्थापयितुं सूर्य्यकादिवदुपमोच्यते ॥ १८ ॥

(वे०कौ०) यतो विषमेषु स्थानेषु स्थितस्यापि ब्रह्मण उ-

भयलिङ्गत्वान्न स्थानप्रयुक्तदोषगन्धसम्बन्धः, अतएव कारणात् यथा जलादौ प्रतिबिम्बितोऽपि सूर्य्यादिस्तत्प्रयुक्तदोषैर्न स्पृश्यते, तथा चेतनेऽचेतने च स्थितमपि परं ब्रह्म तत्तद्दोषैर्न स्पृष्टमिति शास्त्रे उपमोपादीयते । शास्त्रं तु "आकाशमेकं तु यथा घटादिषु पृथग्भवेत् । तथाऽऽत्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान् । एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदि"त्यादि ॥ १८ ॥

(वे०पा०सौ०) शङ्कते—

सू० अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ ३ । २ । १९ ॥

सूर्य्यादम्बु दूरस्थं गृह्यते, तद्वद्देशिनः सकाशात्स्थानस्याग्रहणाद्दृष्टान्तवैषम्यमिति ॥ १९ ॥

(वे०कौ०) दृष्टान्तवैषम्यं शङ्कते ।

तुशब्दः शङ्काद्योतकः । ननु तथात्वं ब्रह्मणः प्रतिबिम्बितसूर्य्यादितुल्यत्वं नास्ति, कुतः ? अम्बुवदग्रहणात् । सूर्य्यादेः सकाशादम्बु दूरस्थं गृह्यते, तत्र प्रतिबिम्बितोऽपि सूर्य्यादिस्तत्प्रयुक्तैर्दोषैर्न स्पृश्यते स्वरूपस्य बिम्बस्य दूरस्थत्वात्, ब्रह्मणः सकाशात्तु चेतनाचेतनस्य सर्वस्याम्बुवत् दूरतोऽग्रहणात् । "यः पृथिव्यां तिष्ठन् योऽप्सु तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन् यस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे" इत्यादिश्रुतिभ्यः, "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति । मयि सर्वमिदं प्रोतमि"त्यादिस्मृतिभ्यश्च । तस्मात्प्रकृतस्य परमपुरुषस्य न प्रतिबिम्बितसूर्य्यादितुल्यतेति १९॥

(वे०पा०सौ०) तत्राह—

सू० वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ ३ । २ । २० ॥

स्थानिनः स्थानान्तर्भावात्तत्प्रयुक्तवृद्धिह्रासभाक्त्वं दृष्टान्तेन निराक्रियते, उभयसामञ्जस्यादेवं विवक्षितांशमात्रं गृह्यते ॥ २० ॥

(वे०कौ०) तत्रोत्तरमाह ।

नेति वर्त्तते । ब्रह्मणः परस्य स्थानिनः "यः पृथिव्यां तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिश्रुतेः स्थानान्तर्भावात्प्राप्तमपि स्थानप्रयुक्तवृद्धिह्रासभाक्त्वं नेति सूर्य्यादिदृष्टान्तेन निवार्य्यते । उभसामञ्जस्यादेवम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोः सामञ्जस्याद्विवक्षितांशमात्रं गृह्यते इत्यर्थः । तत्र यथाऽऽकाशो घटशरावादिषु वस्तुतः प्रविष्टोऽपि वृद्धिह्रासादिदोषभाग्न भवति, प्रतिघटमस्मिन् घटान्तराले जलमन्यस्मिञ्छर्करेत्येवंभेदेन व्यवह्रियतेऽपि तथाप्येक एवास्ति, यथा च जलाधारेषु विषमेषु प्रतिबिम्बितोंऽशुमान् तदीयवृद्धिह्रासादिदोषभाग्न भवति प्रत्युत जलभाजनजातं प्रकाशयति, तथा परं ब्रह्म चेतनाचेतनवस्तुषु एकमेव तत्तदन्तर्य्यामितया बहुधा वर्त्तते, न तत्तद्दोषैः संस्पृश्यते, न तत्तद्भेदैर्भिद्यते च, न वृद्धिह्रासभाग्भवतीत्युभयसामञ्जस्यादेवं खलु विवक्षितांशमात्रं गृह्यते, अन्यथा तयोरसामञ्जस्यं स्यात् । येन दृष्टान्तेन दार्ष्टान्ते वैगुण्यं स्यान्न तयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तभाव इति फलितोऽर्थः । सूर्य्यादिदृष्टान्तद्वयसामञ्जस्यादिति वा ॥ २० ॥

सू० दर्शनाच्च ॥ ३ । २ । २१ ॥

(वे०पा०सौ०) सिंह इव माणवक इति लोके दर्शनाच्चैवम् ॥२१॥

(वे०कौ०) सिंह इव माणवक इति लोके प्रयोगदर्शनाच्चैवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं विवक्षितांशमात्रेण ग्राह्यम् । तस्मादुभयलिङ्गं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥२१॥ इत्युभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू० प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ ३ । २ । २२ ॥

(वे०पा०सौ०) किं "नेति नेती"ति वाक्यं "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्चे"त्यादिना प्रकृतं मूर्त्तामूर्त्तादिरूपं प्रतिषेधत्यथवा प्रकृतरूपयोगात्प्राप्तम्ब्रह्मण एतावत्त्वमिति ? सन्देहे, रूपं प्रतिषेधतीति प्राप्ते, उच्यते—प्रकृतैतावत्त्वमेव प्रतिषेधति, ततो भूयो न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्तीत्यादिवाक्यशेषो ब्रवीति ॥ २२ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्रोभयलिङ्गं ब्रह्मेत्युक्तमिदानीं ब्रह्मरूपत्वेन प्रमाणान्तराऽनवगतं श्रुतिवेद्यं ब्रह्मात्मकत्वाद्ब्रह्मणो रूपं नेदम्ब्रह्मणो रूपमित्येवंश्रुत्यप्रतिषेध्याश्चिदचिदात्मकञ्जगत्सत्यमस्ति तद्योगात्प्राप्तम्परिच्छिन्नत्वञ्चानन्ताचिन्त्यकल्याणगुणशक्तिमतस्तद्रूपवतो ब्रह्मणो निवार्य्यते।

बृहदारण्यके "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्चे"त्युपक्रम्य "तस्य ह वा एतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजतमि"त्यादिना महारजतादीनि रूपविशेषाणि च दर्शयित्वाऽऽम्नायते "अथात आदेशो नेति नेती"ति। तत्र मूर्त्तं तेजोऽबन्नात्मकम्भूतत्रयममूर्त्तञ्च वाय्वाकाशात्मकम्भूतद्वयं महारजतादीनि रूपविशेषाणि(१) च प्रकृतानि। तत्र संशयः किं "नेति नेती"तिश्रुतिः प्रकृतं ब्रह्मणो मूर्त्तामूर्त्तादिरूपजातं प्रतिषेधति, किं वा प्रकृतं यद्ब्रह्मणो मूर्त्तामूर्त्तादिरूपजातं तद्रूपत्वेन प्राप्तं ब्रह्मणो यदेतावत्त्वं तन्निषेधतीति? तत्र मूर्त्तामूर्त्तादिरूपजातं प्रतिषेधतीति प्राप्ते, उच्यते प्रकृतं यद्यन्मूर्त्तामूर्त्तादिकं ब्रह्मणो रूपं तत्तद्रूपयोगात्प्राप्तं यद्यदेतावत्त्वं तत्तन्नेति नेतीतिश्रुतिः प्रतिषेधति। हिशब्दः "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे तदि"त्यादिश्रुतिशतसिद्धं चिदचिदात्मकं सर्वं ब्रह्मात्मकत्वाद्ब्रह्मणो रूपं

(१) जीववासनाभूतानि।

प्रतिषेधानर्हमिति दर्शयति, इयत्तानवच्छिन्नत्वम्परस्य ब्रह्मणो दर्शयति "ततो ब्रवीति च भूय" इति । ततः एतावत्त्वनिषेधानन्तरं भूयः पुनः इयत्तानवच्छिन्नं ब्रह्म वाक्यशेषो ब्रवीति । यद्वा पूर्वोक्तान्मूर्त्तामूर्त्तादिकाद्रूपाद्भूयो भूयस्त्वं वाक्यशेषो ब्रवीति, नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति । "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वाव सत्यं तेषामेष सत्यमि"ति । अस्यार्थः—एतस्मात्पूर्वोक्तादन्यद्ब्रह्मस्वरूपं न हीति न वाच्यम् । एतस्मात्परमुत्कृष्टमियत्तानवच्छिन्नं समानातिशयशून्यं ब्रह्मास्ति । तस्य सर्वोत्कृष्टस्य ब्रह्मणो नामधेयमप्यस्ति । तदेवाह—सत्यस्य सत्यमिति । ननु कस्य सत्यस्य सत्यमित्याकाङ्क्षायामाह—प्राणा वाव सत्यं तेषां सत्यमिति । प्राणाः प्राणवन्तो जीवास्ते वियदादिवत्स्वरूपान्यथाभावं सृष्टिवेलायां न प्राप्नुवन्त्यतस्ते सत्यं, ब्रह्मणो हि सर्वकारणत्वाद्वेदा यथा नित्यास्तथाऽपि सुप्तोत्थितन्यायेन यत उत्पद्यन्ते । तथा जीवा अप्यनादिकर्म्मवशाद्देहयोगेन जन्मभाजः ज्ञानसङ्कोचविकाशरूपविकारवन्त एतत्परस्य ब्रह्मणो नास्त्यतस्तदंशित्वाच्च तेषामपि सत्यमित्यर्थः । अतएवाह श्रुतिः—"नित्यो नित्यानाश्चेतनश्चेतनानामि"ति ॥ २२ ॥

सू० तदव्यक्तमाह हि ॥ ३ । २ । २३ ॥

(वे०पा०सौ०) "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचे"त्यादिशास्त्रं ब्रह्माव्यक्तमाह ॥ २३ ॥

(वे०कौ०) एवम्भूतं ब्रह्म मूर्त्तादिरूपवदपि ततो भूयस्त्वेन रूपेण वर्त्तमानं सत्साधारणैः करणैर्न गृह्यत इत्याह ।

तद्ब्रह्माव्यक्तमग्राह्यं हि शास्त्रमाह "न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वे"त्यादि ॥ २३ ॥

सू० अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ ३ । २ । २४ ॥

(वे०पा०सौ०) भक्तियोगे ध्याने तु व्यज्यते "ब्रह्मज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः, भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !। ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप" इत्यादि-श्रुतिस्मृतिभ्याम् ॥ २४ ॥

(वे०कौ०) ननु तर्हि "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्य" इत्यादिवाक्यव्याकोपः स्यादित्याशङ्क्य, शास्त्रानुसारिभिर्दर्शनेप्सुभिर्महानुभावैः कृते यत्ने तु व्यक्तो भवतीत्याह ।

अपिशब्दः सम्भावनायाम् । संराधने सम्यगाराधने निदिध्यासनलक्षणे भक्तियोगे ब्रह्म व्यक्तम्भवति । एतच्च प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां गम्यते । "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्, ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इत्यादिश्रुतेः, "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !। ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ! ॥ यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः । ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥ योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनमित्यादि"-स्मृतेश्च ॥ २४ ॥

सू० प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्म्म-ण्यभ्यासात् ॥ ३ । २ । २५ ॥

(वे०पा०सौ०) सूर्य्याग्न्यादीनां यथा तदर्थिकृतसाधनाभ्यासादाविर्भावस्तद्वद्ब्रह्मणोऽप्यवैशेष्यं ब्रह्मप्रकाशो भवति, संराधनलक्षणादुपायाद्ब्रह्मदर्शनं भवतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

(वे०कौ०) नन्विदमसङ्गतं संराधने हि व्यक्तं भवति ब्रह्म-

ति, सर्वात्मभूतं सर्वगं ब्रह्म सर्वेऽविशेषेण कुतो न पश्यन्त्यत आह ।

यथा सर्वसाधारणस्यापि सूर्य्यलक्षणस्य प्रकाशस्य कुन्तीयुधिष्ठिरादीनां कर्म्मण्यभ्यासात् मन्त्रजपाद्यभ्यासात् प्रकाश आविर्भावः, यथा च सर्वसाधारणस्याग्नेर्द्विजानां कर्म्मणि मन्थनादौ अभ्यासात् प्रकाशः, यथा च सुवर्णकारस्य सुवर्णप्राप्तिसाधनभूते कर्म्मण्यभ्यासात् सुवर्णप्रकाशः, एवं खलु प्रकाशादिवत् सूर्य्यादीनामिव ब्रह्मणोऽप्यवैशेष्यम् । सर्वसाधारणमपि ब्रह्म मुमुक्षूणां संराधनाभ्यासादाविर्भवतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

सू॰ अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ ३ । २ । २६ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) ब्रह्मसाक्षात्काराद्धेतोस्तेन सह साम्यं याति, "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषम्ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"ति ज्ञापकात् ॥ २६ ॥

(वे॰कौ॰) प्रसङ्गाद्ब्रह्मसाक्षात्कारस्य फलमाह ।

अतः प्रकाशाद्ब्रह्मसाक्षात्काराद्धेतोः अनन्तेन ब्रह्मणा श्रीपुरुषोत्तमेन सह साम्यं गच्छति । तथा हि लिङ्गम् एतदर्थज्ञापकं वाक्यमस्ति हि "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"ति ॥ २६ ॥

सू॰ उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ ३ । २ । २७ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) मूर्त्तामूर्त्तस्याप्रतिषेध्यत्वं द्रढयति, मूर्त्तामूर्त्तादिकं विश्वं ब्रह्मणि स्वकारणे भिन्नाभिन्नसम्बन्धेन स्थातुमर्हति, भेदाभेदव्यपदेशादहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

(वे॰कौ॰) मूर्त्तामूर्त्तादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्य्यतया ब्रह्मरूपत्वेन श्रुत्युक्तस्य नेति नेतीति निषेधानर्हत्वं ब्रह्मणस्ततो भूय-

स्त्वेन निर्दोषत्वं चोक्तमेतदाक्ष्यर्थं प्रपञ्चस्य कार्य्यस्य कारणेन ब्रह्मणा सह भेदाभेदसम्बन्धं सर्वश्रुत्यर्थनिर्वाहकं स्वकीयं सिद्धान्तम्भगवान्सूत्रकार आह ।

मूर्त्तामूर्त्तादिसर्वकार्य्यजातस्य ब्रह्मभिन्नत्वेऽपि तदभिन्नत्वम् । कुतः ? उभयव्यपदेशात् भेदाभेदव्यपदेशात् । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादिभेदव्यपदेशात्, "सर्वङ्खल्विदम्ब्रह्मे"त्याद्यभेदव्यपदेशात् । तत्र दृष्टान्तमाह–अहिकुण्डलवदिति । सर्वत्र विवक्षितांशमात्रेण दृष्टान्ता उपादीयन्ते । कुण्डलोपादानभूतो रज्ज्वाकार अहिः कारणं, तत्स्थानीयं सर्वशक्त्युपेतं जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणं ब्रह्म वलयाकारं कार्य्यभूतं कुण्डलं तत्स्थानीयं कार्य्यभूतं मूर्त्तामूर्त्तादिकं विश्वम्, तत्र कुण्डलं परतन्त्रं व्याप्यं कार्य्यञ्च, अहिस्तदपेक्षया स्वतन्त्रो व्यापकः कारणञ्च, अतस्तयोर्भेदः । अहिव्यतिरेकेण कुण्डलस्य स्थितिप्रवृत्त्यभावात्ततोऽभेदश्च । एवं प्रपञ्चस्यापि चिदचिच्छक्तिमद्ब्रह्मकार्य्यस्य कारणेन ब्रह्मणा सह स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवतः । सूत्रानुरूपः श्रुतिपूगः "द्वा सुपर्णा सयुजा, पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा, सर्वङ्खल्विदम्ब्रह्म, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, ब्रह्मैवेदं सर्वं, आत्मैवेदं सर्व"मित्यादिः । ब्रह्मात्मकत्वान्मूर्त्तामूर्त्तादिकस्य प्रतिषेधत्वं नेति भावः ॥ २७ ॥

सू॰ प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २ । २ । २८ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) जीवपुरुषोत्तमयोरपि तथा सम्बन्धो ज्ञेयः, उभयव्यपदेशात् प्रभातद्वतोरिव । अतोऽनन्तेनेत्यनेन केवलभेदो न शक्य इति भावः ॥ २८ ॥

(वे॰कौ॰) ननु भवत्वचेतनवर्गस्य ब्रह्मणा सह भेदाभेदसम्बन्धः, जीवस्य तु तेन सह भेदाभेदसम्बन्धो न सङ्गच्छते,

"अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गमि"त्यत्र जीवोऽनन्तेन सह साम्यं प्राप्नोतीति तयोरत्यन्तभेदप्रतीतिरित्यत आह ।

उभयव्यपदेशादित्यनुवर्तते । वाशब्दश्चोद्यनिवृत्त्यर्थः । नास्ति तयोरत्यन्तभेदः "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः, ब्रह्मविदाप्नोति परम्, परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्, ज्ञाज्ञौ जन्तुरनीशश्च, यः सर्वज्ञः सर्ववित्, अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः, एष आत्माऽपहतपाप्मा, सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, य आत्मनि तिष्ठन्नि"त्यादिस्वाभाविकभेदव्यपदेशात् । "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिस्वाभाविकाभेददर्शनाच्च जीवस्य ब्रह्मणा सह भेदाभेदः सम्बन्धः । दृष्टान्तमाह—प्रकाशाश्रयवदिति । प्रकाशः सूर्य्यादिप्रभारूपः आश्रयः सूर्य्यादिः । तत्र हि प्रकाशस्य आश्रयेण सह स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवतः, तस्य तं विना पृथगवस्थानाभावात् । नन्वत्यन्तभिन्नयोस्तयोरभेदे कोऽयं निर्बन्धः ? तत्र हेत्वन्तरमाह—तेजस्त्वादिति । प्रकाशाश्रययोस्तेजस्त्वादप्यभेदस्तद्वदंशभूतस्य जीवस्यांशिना सह स्वाभाविकौ भेदाभेदौ(१) भवत इत्यर्थः । "अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापी"त्यत्रोभयश्रुतिविरोधपरिहाराय जीवपुरुषोत्तमयोः सम्बन्ध उक्तः । इह तु तार्किकादिपक्षवदत्यन्तभेदनिषेधाय पुनरुक्त इति विवेकः ॥ २८ ॥

पूर्ववद्वा ॥ ३ । २ । २९ ॥

(वे०पा०सौ०) कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषाभावश्च पूर्ववद्बोध्यः ॥ २९ ॥

(वे०कौ०) ननु अहेः कुण्डलवद्ब्रह्मणोऽवस्थाविशेष एव प्रपञ्चश्चेत्तर्हि कृत्स्नप्रसक्तिनिरवयवशब्दव्याकोपादिदोषपूगश्च

(१) पुस्तकान्तरे भेदाभेदौ भवतीत्यपि पाठो भाति ।

प्राप्नोतीत्यत आह ।

वाशब्दश्चोद्यनिषेधार्थः । न कश्चिद्दोषः पूर्ववत्, "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादि"त्यादिवन्निरस्तो वेदितव्यः ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ २ । २ । ३० ॥

(वे०पा०सौ०) "न लिप्यते लोकदुःखेने"त्यादिप्रतिषेधाच्च न प्रकृतस्य ब्रह्मणो दोषयोगः ॥ ३० ॥

(वे०कौ०) किञ्च सर्वान्तःस्थत्वेन सर्वकारणत्वेन च ब्रह्मणः सर्वरूपत्वेऽपि न दोषयोगः, "सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्चे"त्यादिश्रुतिप्रसिद्धाद्दोषप्रतिषेधाच्च । इति सर्वरूपस्य ब्रह्मणः सर्वदोषास्पृष्टत्वं कल्याणगुणगणनिलयत्वं सर्वतोभूयस्त्वञ्च सिद्धम् ॥ ३० ॥ इति प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(वे०पा०सौ०) पूर्वपक्षयति—

सू० परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥
२ । २ । ३१ ॥

अतः प्रकृताद्ब्रह्मणः परमपि किञ्चित्तत्त्वमस्ति "अथ य आत्मा सेतुरि"ति सम्बन्धव्यपदेशात्, "तेनेदं पूर्णं सर्वं ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयमि"ति भेदव्यपदेशाच्च ॥ ३१ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र सर्वकारणं सर्वशक्ति सर्वदा सर्वदोषास्पृष्टं नित्यानन्तकल्याणगुणगणमन्दिरमियत्तानवच्छिन्नं सर्वभिन्नाभिन्नं ब्रह्मेत्युक्तमिदानीं तदियत्तानवच्छिन्नत्वपोषकं तन्निरतिशयत्वं प्रतिपाद्यते । तत्र ब्रह्म सातिशयम्, उत निरतिशयम् ? इति सं-

श्रये पूर्वपक्षमाह ।

अतो ब्रह्मणः सर्वशक्तिनो जगत्कारणात्परमपि किञ्चित्तत्त्वमस्ति, तस्मात्सातिशयं ब्रह्म । कुतः ? सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः । तथा हि "अथ य आत्मा स सेतुरि"ति परस्य ब्रह्मणः सेतुत्वव्यपदेशात् । अनेन व्यपदेशेन सेतुस्थानीयाद्ब्रह्मणः द्वीपान्तरस्थदुर्लभवस्तुस्थानीयं परं गम्यं वस्त्वस्तीति गम्यते । किञ्च "एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवती"ति वाक्येनापि ब्रह्मणस्तरितव्यत्वमात्रं सेतोरिव निश्चीयते । प्राप्यं त्वन्यदेवेति गम्यते "चतुष्पाद्ब्रह्म षोडशकलमि"त्युन्मानव्यपदेशाच्च, परब्रह्मणः एतावदिदमित्युन्मितत्वव्यपदेशात् । अनेन व्यपदेशेन सेतुना प्राप्यस्यानुन्मितस्यास्तित्वं द्योत्यते । "अमृतस्यैष सेतुरि"ति सम्बन्धव्यपदेशाच्च ब्रह्मणः परमस्तीति गम्यते । "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयमि"ति च भेदव्यपदेशात् पुरुषशब्दवाच्याद्ब्रह्मणः यदुत्तरतरमिति तत्त्वान्तरस्य निरूपणादित्यर्थः । एभ्यो हेतुभ्यः परस्माद्ब्रह्मणोऽपि परं तत्त्वमस्तीति निश्चीयते इति पूर्वः पक्षः ॥ ३१ ॥

(वे०पा०सौ०) सिद्धान्तमाह—

सू० सामान्यात्तु ॥ ३ । २ । ३२ ॥

तुशब्दः पक्षनिषेधार्थः । जगत्कारणात्सर्वेश्वरात्परं न किञ्चिदस्ति, सेतुव्यपदेशस्तद्विधारणसारूप्यात् ॥ ३२ ॥

(वे०कौ०) सिद्धान्तमाह ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिषेधार्थः । परमत इति नैव शक्यते वक्तुम् । कुतः ? एतेभ्यो हेतुभ्यः । सेतुत्वव्यपदेशस्तावत् सामान्यात् लोकप्रसिद्धसेतुसादृश्यात् । लोके यथा सेतुर्जलस्य व्यवस्थापकः, परमात्माऽपि तथा जगन्मर्यादाव्यवस्थापकतया से-

तुर्भवतीत्यर्थः, "एषां लोकानामसम्भेदाये"ति वाक्यशेषात्। "एतं सेतुं तीर्त्वे"ति तरतिस्त्वत्र वेदान्तं तरतीतिवत् प्राप्तिवचनः ॥ ३२ ॥

सू० बुध्यर्थः पादवत् ॥ ३ । २ । ३३ ॥

(वे०पा०सौ०) उन्मानव्यपदेश उपासनार्थः "मनो ब्रह्मेत्युपासी"तेत्यध्यात्मं तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाक् पाद"इत्यादिपादव्यपदेशात्॥ ३ ३॥

(वे०कौ०) उन्मानव्यपदेशोऽपि बुद्ध्यर्थः। बुद्धिरुपासना, तदर्थः। पादवत् मनआदिपादव्यपदेशवत्। तथा हि यथा "मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मं तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाक् पादः प्राणपादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद" इत्यत्र ब्रह्मप्रतीकभूतमनसो वागादिपादव्यपदेशः। यथा चाकाशस्याग्न्यादिपादव्यपदेशश्चोपासनार्थः न तु परिमाणविशेषद्योतनार्थः, तथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"त्यादावपरिमितत्वेन निश्चितस्य जगत्कारणस्य ब्रह्मणोऽपि "चतुष्पाद्ब्रह्मे"ति व्यपदेशो बुद्ध्यर्थ एव, न तन्मितत्वद्योतक इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

सू० स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३ । २ । ३४ ॥

(वे०पा०सौ०) अपरिमितस्य परिमितत्वेन चिन्तनं स्थानविशेषात् प्रकाशादिवदुपपद्यते ॥ ३४ ॥

(वे०कौ०) नन्वपरिच्छिन्नस्योपासनार्थमपि परिमितत्वं कथं सम्भवतीत्यत्राह।

स्वयमपरिमितस्यापि ब्रह्मणः स्थानविशेषात्परिमितत्वसम्भावना सम्भवति खलु प्रकाशादिवत्। यथा प्रकाशाकाशादे(१)रपरिमितस्यापि परिमितत्वं वातायनघटादिस्थानयोगात्प्रतीयते ॥ ३४ ॥

(१) प्रकाशाकाशोदरपरिमितत्वमित्यपि पाठो भाति।

सू॰ उपपत्तेः ॥ २ । २ । ३५ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) स्वस्य स्वप्रापकतया सम्बन्धव्यपदेशोपपत्तेश्च तत्त्वान्तराभावः ॥ ३५ ॥

(वे॰कौ॰) यत्तु "अमृतस्यैष सेतुरि"ति प्राप्यप्रापकसम्बन्धव्यपदेशात्परमतोऽस्तीत्युक्तं तत्राह ।

परमपुरुषः प्राप्यभूतस्वात्मप्रापकः, इत्थं प्राप्यप्रापकव्यपदेशोपपत्तेश्च परमतोऽस्तीति नोपपद्यते । "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वामि"ति श्रुतेः, "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥" इति श्रीपुरुषोत्तमवचनाच्च ॥ ३५ ॥

सू॰ तथान्यप्रतिषेधात् ॥ २ । २ ३६ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) तथा "ततो यदुत्तरतरमि"ति भेदव्यपदेशाद्ब्रह्मेतरतत्त्वमस्तीत्यपि न वाच्यम् । "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिदि"ति प्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

(वे॰कौ॰) यच्चोक्तं "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं ततो यदुत्तरतरं तद्रूपमनामयमि"ति भेदव्यपदेशात्परमतोऽस्तीति तत्राह ।

यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यः ब्रह्मणोऽसमानातिशयत्वं तथाऽन्ययोः समानाधिकयोः प्रतिषेधादपि तस्यासमानातिशयत्वसिद्धिः । "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिदि"त्यादिश्रुतेः परमुत्कृष्टमपरं सममित्यर्थः । "मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जये"त्यादिस्मृतेश्च प्रकृतपुरुषपरत्वात्प्रकरणस्य "ततो यदुत्तरतरमि"त्यनेन तत्त्वान्तरं न प्रतिपाद्यते, किन्तु "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चिद्वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमि"ति ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्यासमा-

नातिशयत्वं सर्वगतत्वमस्ति, ततो हेतोर्यत्पुरुषाख्यं ब्रह्म तदुत्तरतरमित्युच्यते ॥ ३६ ॥

सू० अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३ । २ । ३७ ॥

(वे०पा०सौ०) अनेन ब्रह्मणः सर्वगतत्वं दृढीकृतम्, "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं ब्रह्मैवेदं सर्वमि"त्यादिशब्देभ्यः ॥ ३७ ॥

(वे०कौ०) अनेन समानातिशयशून्यत्वबाद्यधिकरणेन प्रकृतस्य ब्रह्मणः सर्वगतत्वं दृढीकृतमस्ति, सति समानेऽधिके च सर्वगतत्वाभावः प्रसज्येत। तत्र प्रमाणमाह—आयामशब्दादिभ्यः। आयामशब्दोऽत्र सर्वगतत्ववाचकः "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं, यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥ नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्ममि"त्यादिः । आदिना सर्वगतत्वपोषकभूतसर्वकारणत्वसर्वात्मत्ववाचकाः शब्दा गृह्यन्ते "स कारणं कारणाधिपाधिपः, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्मैवेदं सर्वं, आत्मैवेदं सर्वमि"-त्याद्याः। अतः समानातिशयशून्यं जगत्कारणं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ ३७ ॥ इति पराधिकरणम् ॥ ७ ॥

सू० फलमत उपपत्तेः ॥ ३ । २ । ३८ ॥

(वे०पा०सौ०) अतो ब्रह्मण एव तदधिकारिणां तदनुरूपफलं भवत्यस्यैव तद्दातृत्वोपपत्तेः ॥ ३८ ॥

(वे०कौ०) एवमपहतपाप्मत्वनित्यानन्तकल्याणगुणाकरत्वसाम्यातिशयशून्यत्वादयो गुणा भजनीयस्य ब्रह्मण उक्ताः, इदानीं फलदातृत्वं गुणविशेषं परस्य ब्रह्मण आह ।

तत्तदधिकारिणां तत्तदनुरूपं फलं भोगलक्षणं मोक्षलक्षणञ्च अतः परस्मादेव भवितुमर्हति । कुतः ? उपपत्तेः । श्रीपुरुषोत्तमस्यैव सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः सर्वनियन्तुः फलदातृत्वोपपत्तेः ॥३८॥

सू० श्रुतत्वाच्च ॥ ३ । २ । ३९ ॥

(वे०पा०सौ०) "स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदान एष ह्येवानन्दयाती"ति तत्फलदत्वस्य श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

(वे०कौ०) "स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदान एष ह्येवानन्दयातीति" परमात्मफलदातृत्वस्य श्रुतत्वाच्च अस्मादेव फलं भवितुमर्हति ॥ ३९ ॥

सू० धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ३ । २ । ४० ॥

(वे०पा०सौ०) धर्मं फलहेतुं जैमिनिर्मन्यते, कृष्यादिवत्तस्यैव तद्धेतुत्वोपपत्तेः, "यजेत स्वर्गकामः" इति तद्धेतुत्वश्रवणाच्च ॥ ४० ॥

(वे०कौ०) सिद्धान्ते उपपत्तेः श्रुतत्वाच्च परस्मात्फलं भवतीत्युक्तमत एव हेतुद्वयादेव कृष्यादिवत् कर्म्मण एव फलहेतुत्वोपपत्तेः, "यजेत स्वर्गकाम" इत्यादिविधिविषयस्य यागादेः कर्म्मणः फलहेतुत्वस्य श्रुतत्वाच्च जैमिनिराचार्य्यः कर्म्मापरपर्य्यायं धर्ममेवापूर्वाख्यव्यापारद्वारा फलहेतुं मन्यते । यागस्योत्तरावस्थाविशेषोऽपूर्वाख्यो व्यापार इत्युच्यते ॥ ४० ॥

सू० पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ३ । २ । ४१ ॥

[वे०पा०सौ०] तुशब्दः पक्षनिरासार्थः । फलदं पूर्वोक्तं परमात्मानं वेदाचार्य्यो मन्यते, "पुण्येन पुण्यं लोकं नयती"ति, "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति च परस्य तद्धेतुत्वव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्क वि० शा० मी० वाक्यार्थे
वेदान्तपारिजातसौरभे तृतीयाध्यायस्य २ पादः ।

(वे०कौ०) तुशब्देन जैमिनिपक्षस्य बालभाषितत्वं द्योत्यते । नहि कृष्यादिकर्म स्वातन्त्र्येण कालत्रयेऽपि कर्षकाय फलं प्रयच्छति, किन्तु परमेश्वर एव तत्फलं ददाति । तद्वद्वैदिकं क-

र्म्मापि स्वपरस्वरूपानभिज्ञं जगच्चक्रार्दितपरतन्त्रपुरुषकर्त्तृकं नैव स्वातन्त्र्येण फलं दातुं शक्नोति। "यजेत स्वर्गकाम" इत्यादावपि न केनाप्यंशेन कर्म्मणः स्वातन्त्र्येण फलदत्वं प्रतीयते, अपि तु स्वर्गमुद्दिश्य धात्वर्थवशाद्देवताराधनलक्षणे कर्म्मणि पुरुषः प्रवर्त्यते। भोगापवर्गरूपफलदं तु पूर्वं पूर्वोक्तं सर्वात्मानं सर्वज्ञं परमात्मानं बादरायणो मन्यते। कुतः? हेतुव्यपदेशात्। परमात्मन एव कर्म्मकारयितृत्वेन तत्फलदत्वेन च हेतुत्वस्य व्यपदेशात् "एष ह्येव साधु कर्म्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इत्यादिश्रुतिकदम्बेन, "लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" इत्यादिस्मृतिपूगेन च। तस्मात्फलमत इति सिद्धम् ॥ ४१ ॥ इति फलाधिकरणम् ॥ ८ ॥

हरिॐ तत्सदिति श्रीश्रीनिवासाचार्य्येण वि० शा० मी०
भाष्ये श्री० वे० कौस्तुभे तृतीयाध्या० २ पादः ॥

तृतीयाध्याये तृतीयपादारम्भः ॥

सू० सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्॥ ३ । ३ । १॥

[वे०पा०सौ०]अनेकत्र प्रोक्तमप्युपासनमेकमेव चोदनाद्यविशेषात्।१।

(वे०कौ०) एवं खलु परमात्मभावापत्तिसाधनभूते तदुपासने मुमुक्षुं प्रवर्त्तयितुं परमात्मगुणा उक्ताः। अथेदानीं ज्ञानस्य परमात्मभावापत्तिसाधनत्वेऽपि मन्त्रो गुर्वादिभ्य सुज्ञातोऽपि यथोपासित एव फलदो भवति, तथा सुज्ञातोऽपि परमात्मोपासित एव फलदो भवतीत्येवम्भूतस्य परस्य ब्रह्मण उपासनास्तासु गु-

णोपसंहारविकल्पनिर्णयाय विद्याभेदाभेदविचारश्च प्रारभ्यते ।

उद्गीथविद्याशाण्डिल्यविद्यापुरुषविद्यादहरविद्यावैश्वानरविद्याद्याः एकैका अनेकशाखासु पठितास्तासु चेतरेतरगुणानामुपसंहारं कृत्वोपासनीयमिति स्फुटीभविष्यत्यग्रे । सूत्राक्षरयोजना तु एकाविद्याऽनेकेषु वेदान्तेषु श्रूयते, सा भिद्यते, उत एकैवानेकत्र श्रूयते ? इति संशयेऽविशेषेण पुनः पुनः श्रूयमाणत्वात्प्रकरणवशाच्च भिद्यते । अत एव खलु "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णमि"ति शिरोव्रतिनामाथर्वणिकानां विद्योपदेशनियमोपपत्तिः, इतरथा विद्याङ्गस्य शिरोव्रतस्यान्यशाखिनामपि प्राप्तत्वादाथर्वणिकानामेवेति नियमानुपपत्तिरिति पूर्वपक्षेऽभिधीयते सर्ववेदान्तप्रत्ययमिति । सर्वैरनेकैर्वेदान्तैः प्रत्ययं प्रतीयमानमुपासनमेकमेव ज्ञेयम् । कुतः ? चोदनाद्यविशेषात् । तत्र चोदना "विद्यादुपासीते"त्येवंरूपो विधिः । आदिशब्देन यथा खल्वनेकशाखासु "अग्निहोत्रं जुहोती"ति चोदनाद्यविशेषाच्चित्याग्निहोत्रमेकमित्येवं पूर्वतन्त्रे कर्मभेदहेतुत्वेन "एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषादि"ति शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रोक्ताः संयोगरूपसमाख्याः गृह्यन्ते । तेषां चोदनासंयोगरूपसमाख्यानामविशेषादित्यर्थः । यथा वैश्वानरविद्या छान्दोग्ये वाजसनेयके च श्रूयते । तत्र "वैश्वानरमुपास्ते" इति चोदनारूपसमाख्यानां ब्रह्मप्राप्तिरूपसंयोगस्य चाविशेषाद्विद्यैक्यम् । तत्रात्मेर्धातोः प्रयोगाचोदनाऽविशिष्टकर्मत्वेन निर्दिष्टं वैश्वानरात्मकं रूपमविशिष्टम् । समाख्या च वैश्वानरविद्येत्यविशिष्टेति विवेकः ॥१॥

सू० भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ॥ ३ । ३ । २ ॥

(वे०पा०सौ०) विद्यायां पुनः श्रुत्वा वेद्यभेदान्न विद्यैक्यमिति चेन्न । कचित्प्रतिपत्तृभेदात् कचित्प्रकरणशुद्ध्यर्थमेवास्यामपि विद्यायां पुनरु-

क्त्यानुपपत्तेः ॥ २ ॥

(वे०कौ०) नन्वविशेषेण पुनरुक्त्या प्रकरणान्तराच्च वेद्यभेदाच्च विद्यैक्यं सम्भवतीति चेत् । [तत्रोच्यते] एकस्यामपि विद्यायां प्रयोजनवशात्पुनरुक्तिः प्रकरणान्तरश्च सङ्गच्छते । यस्याः शाखाया अन्येऽध्येतारस्तेषां प्रतिपत्त्यर्थं सैव विद्या पुनरविशेषेण श्राव्यते । कस्मिंश्चिदंशे विशेषे सति गुणोपसंहारन्याय आश्रयणीयः । एकस्यां शाखायां तु प्रतिपत्तुरभेदे प्रतिप्रकरणं विद्याभेदो वाक्यानां परस्परं निराकाङ्क्षत्वात् ॥ २ ॥

सू० स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ । ३ । ३ ॥

(वे०पा०सौ०) यथाथर्वणे "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णमि"ति शिरोव्रतं तदपि विद्याभेदकं न, यतः स्वाध्यायाध्ययनाङ्गतया शिरोव्रतं विधीयते । तस्याध्ययनाङ्गत्वे सति आथर्वणिकत्वमात्रतया तन्नियमोऽस्ति । यतः समाचाराख्ये ग्रन्थेऽपि वेदव्रतत्वेन शिरोव्रतमामनन्ति, "नैतदचीर्णव्रतो अधीते" इति वचनाच्च सौर्य्यादिहोमवच्च तन्नियमः सङ्गत एव ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णमि"त्याथर्वणे कर्त्तव्यत्वेनोपदिष्टस्य शिरस्यङ्गारपात्रधारणरूपस्य व्रतस्य विद्योपदेशाङ्गत्वे सति विद्याभेदकत्वं प्रसज्यते । तत्तु विद्याङ्गत्वाभावाद् नास्ति । हिर्हेतौ । यतः स्वाध्यायस्यैव शिरोव्रताख्यो धर्मोऽङ्गं, न तदुक्तविद्यायाः, तथात्वे शिरोव्रतस्य स्वाध्यायाध्ययनद्वारा तदङ्गत्वे तन्नियमः व्रतोपदेशनियमः, आथर्वणिकेन शिरोव्रताख्यो धर्म्मोऽनुष्ठेयो, नेतरेणेति । एतत्कुतोऽवगम्यते ? समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे आथर्वणिकाः शिरोव्रतस्य वेदव्रतत्वेनामनन्ति, तस्मादवगम्यते

इत्यर्थः । अधिकाराच । "नैतदचीर्णव्रतोऽधीत" इत्येतच्छब्दात् अधिकृतमुण्डकग्रन्थजातपरात् , अधीते इत्यध्ययनशब्दाच । तस्य शिरोव्रताख्यस्य धर्म्मस्य वेदाध्ययने नियमः इत्यत्र दृष्टान्तमाह—सववच्चेति । यथा खलु सवाः सप्तहोमाः सौर्य्यादयः शतौदनान्ताः शाखान्तरोक्तत्रेताग्निसम्बन्धाभावादथर्वणोक्तैकाग्निसम्बन्धाचैकाग्निभिराथर्वणिकैरेवानुष्ठीयन्ते, तथा शिरोव्रताख्योऽध्ययनाङ्गभूतो धर्मस्तेषामेव, [नान्येषाम्] । "ब्रह्मविद्यां वदेते"त्यत्र ब्रह्मशब्दस्तु शब्दब्रह्मवाचकः ॥ ३ ॥

सू० दर्शयति च ॥ ३ । ३ । ४ ॥

(वे०पा०सौ०) "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"ति श्रुतिर्दर्शयति च विध्यैक्यम् ॥ ४ ॥

(वे०कौ) विध्यैक्यं श्रुतिर्दर्शयति, "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"ति "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इति स्मृतिश्च ॥ ४ ॥

सू० उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥३।३।५॥

(वे०पा०सौ०) विध्यैक्ये सति गुणोपसंहारः कर्त्तव्यः, प्रयोजनाभेदात् अग्निहोत्रादिविधिशेषवत् ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) इत्थं निर्णीते विध्यैकत्वे तत्प्रयोजनमाह ।

समाने चोपासने सति उपसंहारः गुणोपसंहारः कर्त्तव्यः । एकस्मिन्वेदान्ते दृष्टा गुणा अपरस्मिन्नपि योजनीया इत्यर्थः । अर्थाभेदात्प्रयोजनैक्यात् । विधिशेषवत् । यथाऽग्निहोत्रादिविधिशेषस्य खलु सर्वत्रोपसंहारस्तद्वत् । तस्माच्चोदनाद्यविशेषाद्विध्यैक्यं, तत्र गुणोपसंहारश्चेति सिद्धम् ॥ ५ ॥ इति सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ३ । ३ । ६ ॥

(वे०पा०सौ०) "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाये"ति "तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायती"ति वाजसनेयके श्रूयते । "अथ ह य एवायं मुख्यप्राणस्तमुपासाञ्चक्रिरे" इति छान्दोग्ये च श्रूयते । किमत्र विद्यैक्यमुत तद्भेदः ? इति संशये विद्यैक्यमिति । ननु प्राणस्य वाजसनेयके "त्वं न उद्गाये"ति कर्तृत्वं, छान्दोग्ये च "तमुद्गीथ"मिति कर्मत्वमवगम्यते, अतो विद्यानानात्वमिति चेन्न उपक्रमेऽविशेषात् । "उद्गीथेनात्ययाम उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिहनिष्याम"इति उद्गीथस्यैवोपास्यत्वप्रतीतेः । तस्मादुभयत्र विद्यैक्यमिति प्राप्तम् ॥ ६ ॥

(वे० कौ) पूर्वत्रानेकत्र पठिताया अपि विद्याया अभेदश्चोदनाद्यविशेषादुक्तस्तत्र गुणोपसंहारश्च दर्शितः । इदानीं कतिपयविद्याभेदविवक्षुः पूर्वपक्षयति ।

"प्राजापत्या देवाश्चासुराश्चे"त्युपक्रम्य "ते ह वा देवा ऊचुः हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामे"ति देवप्रतिज्ञामभिधाय वागादिद्वारा कृतप्रयत्नानामप्यसुरविध्वंसलक्षणकार्य्याभावमुक्त्वा "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाये"ति "तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायदि"त्यादिनोद्गीथविद्ययाऽसुरपराभव"मात्मना परस्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति, य एवं वेदे"त्युद्गीथविद्याफलं च वाजसनेयिनः समामनन्ति । "तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिहनिष्याम" इत्युपक्रम्य पूर्ववदेव कृतयत्नानामपि कार्य्याभावं दर्शयित्वा "अथ ह य एवायं प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे" इत्यादिनोद्गीथविद्यया परिभवं "एवमेव स विध्वंसते य एवंविदि पापं कामयते" इति विद्याफलञ्च छन्दोगा अप्यामनन्ति । किमत्र विद्यैक्यम्, उत विद्याभेद ? इति संशये, उच्यते—विद्यैक्यमस्त्विति । कुतः ? चोदनाद्यविशेषात् । तथाहि चोदना तावद्विद्विधात्वर्थगताऽविशिष्टा, फलसंयोगोऽपि शत्रुपराभवरूपोऽविशिष्टः,

रूपमपि प्राणदृष्ट्योद्गीथाख्योपास्यैक्यादविशिष्टम् , आख्या चा-द्गीथविद्येत्यविशिष्टा । ननु चान्यथात्वं विद्यैक्यात्स्वीकृतादन्य-थात्वं तन्नानात्वमस्ति, कस्मात् ? प्राणस्य "त्वं न उद्गाय एष प्राण उदगायदि"ति प्रथमान्तशब्देन वाजिभिरुद्गीथकर्तृत्वं छ-न्दोगैस्तु तमुद्गीथमिति द्वितीयान्तशब्देनोद्गीथरूपकर्म्मत्वं निर्दि-श्यते एवम्भूताच्छब्दादिति चेन्न । कुतः ? "अथ विशेषतः उ-द्गीथेनात्ययाम उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिहनिष्याम" इत्युद्गीथस्यै-वोपास्यत्वप्रतीतेः । न खलु विभक्तिकृताद्विशेषाद्विद्याभेदो वक्तुं शक्यः बहुतरस्यांशस्याविशिष्टत्वात् । "त्वं न उद्गाय एष प्राण उदगायदि"ति कर्म्मण्येवोद्गीथे कर्तृत्वमुपचर्यत इति ॥ ६ ॥

(वे०पा०सौ०) तत्रोच्यते—

सू० न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ३ । ३ । ७ ॥

न विद्यैक्यम्, "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्युद्गीथे प्रणवमु-पास्यं प्रक्रम्यो"द्गीथमाजह्रुरि"ति वचनात् तदवयवभूतः प्रणवः प्राण-दृष्टेर्विषयः छान्दोग्ये विहितः । वाजसनेयके तु "अविशेषण उद्गीथे-नात्ययाम" इत्युपक्रमात्कृत्स्नोद्गीथः प्राणदृष्टेर्विषयः । इत्थं प्रक्रमभेदा-द्विद्याभेद एव सिद्ध्यति । यथोद्गीथावयवे प्रणवे परमात्मदृष्टिविधाना-विशेषेऽपि हिरण्मयपुरुषदृष्टिविधानात्परोवरीयस्त्वादिगुणविशिष्टवि-धानमन्यत् ॥ ७ ॥

(वे०कौ०) परिहरति ।

न वेति पक्षस्य व्यावृत्तिः । नोद्गीथविद्यायाः एकत्वम् । कु-तः ? प्रकरणभेदात् । प्रकरणशब्दोऽत्रोपक्रमवाचकः । उपक्रमभे-दात् । तथाहि छान्दोग्ये "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्युद्गा-तृकर्म्मभूतोद्गीथावयवं प्रणवमुपास्यं प्रक्रम्यो"द्गीथमाजह्रुरि"तिव-चनादुद्गीथावयवभूतः प्रणवः प्राणदृष्टेर्विषय उक्तः । वाजसनेयके

तु "अविशेषेणोद्गीथेनात्वयाम"इत्युपक्रमात्कृत्स्नोद्गीथः प्राणदृष्टेर्विषयः। अतः प्रक्रमभेदाद्विधेयभेदः, विधेयभेदे च रूपभेदस्तस्माचानयोर्विद्ययोर्भेदः। परोवरीयस्त्वादिवत्। यथैकस्यामपि शाखायामुद्गीथावयवभूते प्रणवे परमात्मदृष्टिविधानसाम्येऽपि हिरण्मयपुरुषदृष्टिविधानात्परोवरीयस्त्वादिगुणविशिष्टविधानमर्थान्तरम्॥ ७॥

सू० संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि॥ ३। ३। ८॥

(वे०पा०सौ०) संज्ञातो विद्यैक्यमिति चेत्तस्याः दुर्बलत्वं "न वा प्रकरणभेदादि"त्यनेनोक्तं, संज्ञैकत्वं तु विधेयभेदेऽप्यस्ति। यथाऽग्निहोत्रसंज्ञा नित्याऽग्निहोत्रे कुण्डपायिनामयनाग्निहोत्रे च॥ ८॥

(वे०कौ०) ननु संज्ञातः उद्गीथविद्येति संज्ञैक्यादुद्गीथे विद्यैक्यमिति चेत्। तत्रोत्तरं "न वा प्रकरणभेदादि"त्यनेनोक्तम्। प्रक्रमभेदाद्विद्याभेदे सिद्धे संज्ञाया न विद्यैक्यसम्पादकत्वमित्यर्थः। किञ्च तदपि संज्ञैकत्वमपि विद्ययोर्भिन्नयोरप्यस्ति। यथाऽग्निहोत्रसंज्ञा नित्याग्निहोत्रे कुण्डपायिनामयनाग्निहोत्रे च, यथा च द्वादशाहे गवामयने च प्रथममहः प्रायणीयम्॥ ८॥

सू० व्याप्तेश्च समञ्जसम्॥ ३। ३। ९॥

(वे०पा०सौ०) छान्दोग्ये सर्वासूद्गीथविद्यासु प्रथमं प्रस्तुतस्य प्रणवस्योपास्यत्वेन व्याप्तिः "उद्गीथमाजह्रुरि"ति मध्यगतस्योद्गीथशब्दस्यापि प्रणवविषयत्वं समञ्जसम्। छान्दोग्ये उद्गीथावयवः प्रणवः, वाजसनेयके कृत्स्नोद्गीथः प्राणदृष्ट्योपास्य इति विद्याभेदः॥ ९॥

(वे०कौ०) छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके नानोद्गीथविद्या उक्तास्तासु "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्युद्गीथावयवत्वेनोपास्यतयोपक्रान्तस्य प्रणवस्य व्याप्तेश्च व्यापित्वाच "तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरि"त्युद्गीथशब्दस्य मध्यगतस्यापि प्रणवविषयत्वं स-

मञ्जसम् । अवयवेऽपि पटैकदेशे दग्धे पटो दग्ध इत्यादाववयविशब्दप्रवृत्तिर्दृश्यते । एवंसति छान्दोग्ये उद्गीथशब्दव्यपदिष्ट उद्गीथावयवभूतः प्रणव एव प्राणदृष्ट्योपास्यः । वाजसनेयके उद्गीथशब्देनोद्गातृकर्मभूतः कृत्स्नोद्गीथः ग्राह्यः, स एव प्राणदृष्ट्योपास्य इत्यर्थः । तस्माच्छान्दोग्योक्तोद्गीथविद्याऽन्या, वाजसनेयकोक्तोद्गीथविद्याऽन्येति सिद्धम् ॥ ९ ॥ इत्यन्यथात्वाधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ ३ । ३ । १० ॥

(वे०पा०सौ०) छान्दोग्ये वाजसनेयके च प्राणसंवादे ज्येष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणोपेते प्राणे उपास्यतया वागादयो वसिष्ठत्वादिगुणका उक्ताः । ते च गुणाः प्राणे समर्पिताः । कौषीतकीप्राणसंवादे तु वागादीनां गुणा उक्ता, न तु प्राणे समर्पिताः । तत्रोच्यते । अन्यत्र कौषीतकीप्राणसंवादेऽपि प्राणसम्बन्धित्वेन ते उपादेयाः, ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यनिमित्तस्य वागादीनां प्राणायत्तत्वादेः सर्वत्रैक्यात् ॥ १० ॥

(वे०कौ०) उद्गीथशब्दस्यैकत्र कृत्स्नार्थपरत्वेऽपीतरत्र स्वार्थैकदेशपरत्वेन कृत्स्नस्वार्थपरत्वाभावादुद्गीथोपासना भिद्यते, तथा प्राणस्य क्वचिद्वसिष्ठत्वादिगुणान्वितत्वात्क्वचिच्च तदभावात्प्राणोपासनाऽपि भिद्यते, इति शङ्कामिदानीं गुणोपसंहारबलेन निराकरोति ।

प्राणसंवादे छन्दोगा वाजसनेयिनश्च ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणान्वितमुपास्यतया प्राणं "यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च स्वानां भवति, प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चे"त्यादिना प्रतिपादयन्ति । वागादीनाञ्च वसिष्ठत्वादीन् गुणान्प्रतिपादयन्ति "एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदिरे"इत्यादिना । "अहं श्रेयसे विवदमाना" इत्यादिना च वागादीनां देहस्य च प्राणाधीनस्थि-

तिमत्त्वेन प्राणाधीनकार्य्यकरत्वेन च प्राणस्य श्रैष्ठ्यमुपपादयन्ति। "अथ हैनं वागुवाच यद्वाऽहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसी"त्यादिना वागादीनां गुणान् वसिष्ठत्वादीन् ज्येष्ठे श्रेष्ठे प्राणे प्रत्यपर्यन्ति। एवं खलु वागाद्युपकारकतया ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यवसिष्ठत्वादिगुणान्वितं प्राणं ते उपास्यमामनन्ति। कौषीतक्यादिशाखागतप्राणसंवादेषु तु प्राणस्य श्रैष्ठ्यं प्रतिपादितम्, वागादिसम्बन्धिनो गुणास्तु प्राणे न प्रत्यर्पिताः। गुणास्तु वाक्चक्षुःश्रोत्रमनसां वसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसम्पत्त्वायतनत्वाख्याः "यो ह वै वसिष्ठं वेद वाग्वाव वसिष्ठा यो ह वै प्रतिष्ठां वेद चक्षुर्वै प्रतिष्ठा यो ह वै सम्पद्वेद श्रोत्रं सम्पत् यो ह वा आयतनं वेद आयतनं स्वानां भवति मनो ह वा आयतनमि"त्यादिवाक्यादवगन्तव्याः। तत्र कौषीतकिप्राणविद्यायां प्राणे एते गुणा उपसंहर्त्तव्याः, उत नेति? संशये प्राणसम्बन्धित्वेनाश्रुतत्वादनुपसंहार इति पूर्वः पक्षः। तत्राभिधीयते। छान्दोग्याद्यन्यत्र कौषीतकिप्राणविद्यायामपीमे वागादिसम्बन्धिनो वसिष्ठत्वादयो गुणाः प्राणसम्बन्धित्वेनोपादेयाः। कुतः? सर्वाभेदात् उपास्यभूतप्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यनिमित्तस्य सर्वत्रैक्यात्। यथा छान्दोग्यादिप्राणविद्यायां प्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यसम्पादनाय वागादीनां देहस्य च प्राणाधीनत्वं वसिष्ठत्वादिगुणानां प्राणसम्बन्धित्वं चोक्तम्, तथा कौषीतकिप्राणविद्यायामपि उपास्यभूतप्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यसम्पादनायैव वागादिषु वसिष्ठत्वादयो गुणा उक्ताः। "अथ हेमा देवताः प्रजापतिं पितरमब्रुवन् को वै नः श्रेष्ठ" इति "सहोवाच प्रजापतिर्यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठ" इति "सा ह वागुच्चक्रामदि"त्यादिना वागादीनां तद्गतगुणानां देहस्य च प्राणायत्तत्वं प्रतिपादितम्। तत्र वागादिभिः स्वगुणाः

वसिष्ठत्वादयः प्राणे न प्रत्यर्पितास्तस्मात्ते प्राणे उपसंहर्त्तव्या इति सिद्धम् ॥ १० ॥ इति सर्वाभेदाधिकरणम् ॥ ३ ॥

सू० आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ३ । ३ । ११ ॥

(वे०पा०सौ०) सर्वत्र गुणिनोऽभेदादानन्दादयो गुणाः परविद्यासूपसंहर्त्तव्याः ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) इदानीं ब्रह्मस्वरूपगुणानामुपसंहारश्चिन्त्यते । अभेदादिति वर्त्तते । आनन्दादीनां ब्रह्मगुणानां सर्वासु ब्रह्मविद्यासूपसंहारोऽस्ति, न वेति ? संशये, प्रतिवेदान्तं वाक्यानां निराकाङ्क्षत्वादप्रकरणपठितानामुपसंहारे नियामकाभावाच्च यत्र ये पठितास्तत्प्रकरणाद्धि ध्यातॄणां तादृक्ब्रह्मज्ञानादेव प्रयोजनसिद्धेश्च (नोपसंहार), इति प्राप्तेऽभिधीयते प्रधानस्य गुणिनो ब्रह्मणः सर्वासु ब्रह्मविद्यास्वैक्यात्तद्गुणा आनन्दादयः सर्वत्रोपसंहर्त्तव्याः । एकान्ततो वाक्यानां निराकाङ्क्षत्वस्यासम्भवादप्रकरणपठितानामपि प्रकरणान्तराद्ध्यातुरुपकारायोपसंहारो न्याय्यः॥११॥

सू० प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ ३ । ३ । १२ ॥

(वे०पा०सौ०) परस्वरूपगुणप्राप्तौ प्रियशिरस्त्वादीनां प्राप्तिस्तु नेष्यते, शिरआद्यवयवभेदे सति ब्रह्मण्युपचयापचयप्रसङ्गात् ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) ननु तर्हि ब्रह्माऽभेदादानन्दादीनां स्वरूपगुणानामिव तैत्तिरीयकपठितानां "तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे"त्येषामपि सर्वत्र प्राप्तिः स्यादित्यत आह ।

प्रियशिरस्त्वादीनां ब्रह्मस्वरूपगुणपरिग्रहेऽप्यप्राप्तिस्तेषां ब्रह्मस्वरूपधर्मत्वाऽभावात् , इतरथा शिरःपक्षाद्यवयवभेदे सति

ब्रह्मण उपचयापचयौ स्याताम् , एवंसति "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"त्यादि विरुध्येत ॥ १२ ॥

सू० इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ ३ । ३ । १३ ॥

(वे०पा०सौ०) आनन्दादयस्तु गुणा गुणिनः सर्वत्रैक्यादुपसंह्रियन्ते ॥ १३ ॥

(वे०कौ०) प्रियशिरस्त्वाद्यपेक्षयेतरे तु आनन्दादयस्तु सर्वत्रानुवर्त्तन्ते, अर्थसामान्यात् अर्थस्य प्रतिपाद्यस्य गुणिनो ब्रह्मणः सामान्यात्सर्वत्रैकत्वात् । सर्वत्र तत्पुरुषविधत्वनिरूपणाभावात्संयोजितास्तेऽनर्थकाः स्युः । ब्रह्मस्वरूपज्ञानार्थमानन्दादयो ब्रह्मस्वरूपसम्बन्धित्वेन सर्वत्रोपसंह्रियन्ते । आनन्दादीनां सर्वत्रोपसंहारे हेतुप्रदर्शनार्थमितरेषां सर्वत्रोपसंहारे आनर्थक्यसूचनार्थञ्चेदं सूत्रम् ॥ १३ ॥

सू० आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ ३ । ३ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) "तस्य प्रियमेव शिरः" इत्याद्यभिधानं तु अनुचिन्तनार्थमितरप्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

(वे०कौ०) तर्हि प्रियशिरस्त्वाद्युपदेशवैयर्थ्यमित्यत्राह ।

"तस्य प्रियमेव शिरः" इत्यादिना ब्रह्मणः पुरुषविधत्वनिरूपणोपदेशस्तु आध्यानाय सुखेनानुचिन्तनाय, प्रयोजनान्तराभावादिदमेव तदभिधानप्रयोजनमित्यर्थः ॥ १४ ॥

सू० आत्मशब्दाच्च ॥ ३ । ३ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) "अन्योऽन्तर आत्मे"त्यात्मनः शिरःपक्षाद्यसम्भवात् तदनुध्यानाय तदभिधानम् ॥ १५ ॥

(वे०कौ०) आनन्दमयप्रक्रमे "तस्य प्रियमेव शिर" इत्यादेः आध्यानार्थं पुरुषविधत्वनिरूपणमात्रार्थपरत्वमात्मशब्दाच्च नि-

श्रीयते । तथा हि "अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमय" इत्यात्मशब्दवाच्यस्य वस्तुनः प्रियमोदप्रमोदादिविलक्षणस्वरूपस्य प्रियादिरूपशिरःपक्षाद्यसम्भवादात्मन एव चिन्तनाय प्रिय इत्यादिना पुरुषविधत्वमभिधीयत इत्यात्मशब्दादपि गम्यते ॥ १५ ॥

सू० आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ ३ । ३ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) "अन्योऽन्तर आत्मे"त्यत्रात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणं, यथा "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यत्रात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम् तद्वत् । "सोऽकामयत बहु स्यामि"त्यानन्दमयविषयादुत्तरवाक्यादपि तद्ग्रहणम् ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) ननु "पूर्वमन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय" इत्यात्मशब्दस्यानात्मपरत्वावगमाद् "अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमय" इत्यात्मशब्दस्यात्मपरत्वं न शक्यते वक्तुमित्यत आह ।

"अन्योऽन्तर आत्मे"त्यात्मशब्देन आत्मगृहीतिः आत्मनः परमात्मन एव ग्रहणम्, इतरवत् । "अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय" इति वाक्यापेक्षया इतरत्र "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत् । स ऐक्षत लोकान्नुसृजा स इमांल्लोकानसृजते"त्यैतरेयकवाक्ये यथा आत्मशब्देन जगद्धेतोरात्मनो ग्रहणं, तद्वत् । "सोऽकामयत बहु स्यामि"त्यानन्दमयात्मविषयादुत्तरवाक्यादप्येतन्निश्चीयते ॥ १६ ॥

सू० अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ ३ । ३ । १७ ॥

(वे०पा०सौ०) पूर्वत्रानात्मनि प्राणादावात्मशब्दान्वयदर्शनाद् "आत्माऽऽनन्दमय"इत्यात्मशब्देन परमात्मनोऽपरिग्रह इति चेत् । स्यादेव तेन शब्देन तत्परिग्रहः पूर्वत्रापि परमात्मबुद्ध्यैवानात्मनि प्राणादावात्मशब्दान्वयनिश्चयात् ॥ १७ ॥

(वे०कौ०) ननु पूर्वत्र "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय"

इत्यादावात्मशब्दस्यानात्मन्यन्वयात् "अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय" इत्यत्राध्यात्मशब्देन परमात्मनोऽग्रहणमिति चेत्। परमात्मन आत्मशब्देन परिग्रहः स्यादेव, कुतः? अवधारणात्। पूर्वत्रापि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इति प्रकृतं परमात्मानं बुद्धौ निधाय तत्स्वरूपगुणनिर्णयार्थं प्राणमयादौ परमात्मबुद्ध्यैवात्मशब्दान्वयस्यावधारितत्वात्। तस्मादानन्दादीनां गुणानामेव गुणिस्वरूपनिरूपणस्य उपसंहारः, न प्रियशिरस्त्वादीनामतद्गुणानामिति सिद्धम् ॥ १७ ॥ इत्यानन्दाधिकरणम् ॥ ४ ॥

कार्य्याख्यानादपूर्वम् ॥ ३ । ३ । १८ ॥

(वे०पा०सौ०) "अशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इत्यादिनाऽपां प्राणवासस्त्वध्यानमप्राप्तं विधीयते, स्मृत्याचारप्राप्तस्याचमनस्य तु तत्रानुवादमात्रत्वात् ॥ १८ ॥

(वे०कौ०) इदानीं पूर्वोक्तप्राणविद्याऽङ्गविशेषश्चिन्त्यते।

वाजसनेयके "किं मेऽन्नं किं मे वास" इति प्राणो वागादीन् पप्रच्छ। ते प्रत्यूचुः "यदिदं किञ्चाश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतङ्गेभ्योऽन्नं तत्तेऽन्नमापो वास" इति। तदनन्तरञ्च "तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्ति एतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते, तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुत" इति श्रूयते। तथैव छान्दोग्येऽपि "सहोवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो भवती"ति। तत्र संशयः किं तत्राचमनं विधीयते, अथवाऽऽचमनमनूद्यापां प्राणवासस्त्वध्यानमिति? "तत्रैतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इत्यपां प्राणवासस्त्वध्याने

विधिप्रत्ययाश्रवणात्, अशिष्यन्नाचामेदित्याचमने विधिप्रत्ययश्रवणाच्चाचमनं विधीयते । आचमनस्तुत्यर्थं चापां प्राणवासस्त्वं व्यपदिश्यत इति प्राप्ते, उच्यते अपूर्वत्वादपां प्राणवासस्त्वध्यानमेव विधीयते । अतएवा "द्भिः परिदधती"ति छान्दोग्ये परिधानस्यैवोक्तिः । आस्तभ्य इत्यादि प्राणविद्याङ्गभूतश्वादिमर्य्यादाद्यध्यानसाहचर्य्याच्च वासस्त्वध्यानस्यैव विधेयत्वं गम्यते, नत्वाचमनं विधेयम् । कुतः ? कार्य्याख्यानात् । कार्य्यस्य प्रत्यनुष्ठानमन्वहं कर्त्तव्यस्य स्मृत्याचारप्राप्तस्य प्राणविद्यायामपि प्राणपरिधानविधानार्थं कृतानुवादस्याख्यानात्, कथनात् । तस्मादाचमनमनूद्याचमनीयास्वप्सु प्राणवासस्त्वध्यानं प्राणविद्याङ्गत्वेन विधीयते इति सिद्धम् ॥ १८ ॥ इति कार्य्याख्यानाधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू० समान एवञ्चाभेदात् ॥ ३ । ३ । १९ ॥

(वे०पा०सौ०) वाजसनेयिशाखायां "सत्यं ब्रह्मेत्युपासीते"त्यारभ्य "आत्मानमुपासीत मनोमयमि"त्यादि । अग्निरहस्ये "मनोमयोऽयं पुरुष" इत्यादि । बृहदारण्यके च शाण्डिल्यविद्याऽऽम्नाता, सा च यथाऽनेकशाखासु वैधैक्याद्विधैक्यं तथैकस्यामप्येकैव, विधैक्याद्गुणोपसंहारः ॥ १९ ॥

(वे०कौ०) इदानीं शाण्डिल्यदृष्टविद्याऽभेदमाह ।

वाजिसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्या श्रुता "सत्यं ब्रह्मेत्युपासीताथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति एवंक्रतुर्भूत्वाऽमुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवति स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसङ्कल्पमाकाशात्मानमि"ति । तस्यामेव शाखायां बृहदारण्यके सा विद्या पुनः पठ्यते "मनोमयं पुरुषो भाः सत्यं तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्र-

शास्ति यदिदं किञ्चे"ति । तत्राग्निरहस्यबृहदारण्यकप्रोक्तयोर्वि-
द्ययोर्भेदः, किं वाऽभेदः ? इति संशयः । तत्र विद्याभेदोऽ-
भ्यासात् । यथा पञ्चकृत्वोऽभ्यासात् प्रयाजभेदस्तद्वदिहापीति
प्राप्ते उच्यते । यथा खलु भिन्नासु शाखासु विद्यैक्यं तन्निबन्ध-
नो गुणोपसंहारश्चास्ति, एवं समाने शाखैकत्वे विद्यैक्यम्, ततो
गुणोपसंहारश्च भवति । कुतः ? अभेदात् । वेद्यस्य मनोमयत्वा-
दिगुणोपेतस्योभयत्राभेदात् । ननु स्यादुभयत्र विद्यैक्यं, सर्वेशा-
नत्वादिगुणोपसंहारश्च, मनोमयत्वादीनां पुनर्विधानं तु नोपप-
द्यते अविदितानां गुणानामेकत्र विधाने सत्यन्यत्र तदुपसंहा-
रेणैवेष्टसिद्धेरिति चेन्न । कतिपयविहितगुणसङ्कीर्तनात्प्रत्यभिज्ञान-
सिद्धेः । तस्मादुभयत्र विद्यैक्यमिति सिद्धम् ॥ १९ ॥ इति स-
मानाधिकरणम् ॥ ६ ॥

सू० सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ ३ । ३ । २० ॥

(वे०पा०सौ०) यथा शाण्डिल्यविद्यैक्यं तत्सम्बन्धाद्गुणोपसंहार-
एवं "सत्यं ब्रह्मे"त्युपक्रमादेकविद्यात्वसम्बन्धात् "तस्योपनिषदहमित्य-
धिदैवतं" "तस्योपनिषदहमित्याध्यात्ममि"ति श्रुत्युक्ते द्वे नामनी उपसंह्रि-
येते इति पूर्व पक्षः ॥ २० ॥

(वे०कौ०) इदानीं शाण्डिल्यविद्यायां यथा वेद्यैक्याद्गु-
णोपसंहारस्तथा सत्यब्रह्मणो व्याहृतिशरीरस्योपासनायामपि ना-
म्नोरुपसंहार इत्येकेन पूर्वपक्षं प्रदर्श्य समाधत्ते सूत्रद्वयेन ।

बृहदारण्यके "सत्यं ब्रह्मे"त्युपक्रम्य "तद्यत्सत्यमसौ स
आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पु-
रुष" इत्यादि श्रूयते । तत्र सत्यस्य ब्रह्मणो "भूरिति शिरः भुव
इति बाहू स्वरिति प्रतिष्ठे"ति व्याहृतिशरीरत्वेनादित्यमण्डलेऽक्षि-
णि चोपास्यत्वमुक्त्वा द्वे उपनिषदौ रहस्यनामनी उपासनशेषत-

या श्रूयेते। तत्र "तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतं, तस्योपनिषदहमित्यध्यात्ममि"ति क्रमेणादित्याधारस्याक्ष्याधारस्य च सत्यब्रह्मणोऽहर्नामत्वमहंनामत्वञ्चोक्तम्। तत्र संशयः किमुक्तनाम्नोर्यथास्थानं ध्यानं कर्त्तव्यमुतोपसंहारपूर्वकमुभयत्रेति। यथा शाण्डिल्यविद्यायां विद्यैक्यसम्बन्धाद्गुणोपसंहार एवमन्यत्रापि आदित्यमण्डलेऽक्षिणि च विद्यैक्यसम्बन्धात् उभे नामनी उभयत्रोपसंह्रियेते इति पूर्वपक्षसूत्रार्थः॥ २०॥

सू० न वा विशेषात्॥ ३। ३। २१॥

(वे०पा०सौ०) सिद्धान्तस्तु स्थानभेदादुपसंहारो नोपपद्यते इति २१

(वे०कौ०) समाधानमाह।

नहि नामनी उपसंह्रियेते। कुतः? विशेषात् स्थानभेदात्। यथाचार्यस्यासीनस्योक्तो धर्म्मो गच्छतो न भवत्येवमेव सत्यब्रह्मण एकस्यैव तत्तत्स्थानसम्बन्धित्वेन रूपभेदाद्विद्याभेदेऽनुपसंहारः। तथाहि सत्यस्यैकत्रादित्यस्थानसम्बन्धितयोपास्यत्वं, तत्र "तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतमि"ति नाम युक्तम्, नैवंविधस्य नाम्नः अक्षिस्थाने उपसंहारसम्भवः। अन्यत्राक्षिस्थानसम्बन्धितयोपास्यत्वं, तत्र तु "तस्योपनिषदहमित्यध्यात्ममि"ति नाम युक्तम्, न चास्याऽऽदित्यस्थाने उपसंहार इति। शाण्डिल्यविद्यायां तु स्थानभेदो नास्ति, उपास्यस्योभयत्र हृदयस्थत्वात्॥ २१॥

सू० दर्शयति च॥ ३। ३। २२॥

(वे०पा०सौ०) "तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपमि"ति श्रुतिश्चाक्षिस्थादित्यस्थयोर्गुणोपसंहाराभावं दर्शयति॥ २२॥

(वे०कौ०) अन्यत्र चातिदेशश्रुतिरक्षिस्थादित्यस्थयोर्गुणोपसंहाराभावं दर्शयति। तथाहि "तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपमि"त्यातिदेशश्रुतिः आदित्यस्थपुरुषरूपमक्षिस्थपुरु-

पेऽतिदिशति। सा च तादृशस्थले गुणोपसंहाराभावं द्योतयति, सति गुणोपसंहारेऽतिदेशवैयर्थ्यापत्तेः। तस्मान्नाम्नो रुपसंहारो नेति सिद्धम्॥ २२॥ इति सम्बन्धाधिकरणम्॥ ७॥

सू॰ सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः॥ ३। ३। २३॥

(वे॰पा॰सौ॰) "ब्रह्मज्येष्ठा वीर्य्याः सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान"इत्यादिना तैत्तिरीयकविहितानी सम्भृतिज्येष्ठा वीर्य्या सम्भृतानि च द्युव्याप्तिप्रभृतीनां गुणानामपि स्थानभेदादेव विद्यान्तरेणोपसंहारः॥ २३॥

(वे॰कौ॰) इदानीं पूर्वोक्तन्यायमतिदिशति।

"ब्रह्मज्येष्ठा वीर्य्याः सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान। ब्रह्मभूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं कः॥" इति तैत्तिरीयके राणायनीयानां खिलेषु वीर्य्यसम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतिब्रह्मगुणजातमाम्नातम्। वीर्य्याः वीर्य्याणि ब्रह्मश्रेष्ठास्तत्प्रधानानि तद्गुणभूतानीत्यर्थः। सम्भृतानि गुणिना धृतानीति वीर्यसम्भृतिरुक्ता। तथा ज्येष्ठं ब्रह्माग्रे दिवमाततानेति द्युव्याप्तिरुक्ता। तत्र संशयः किं ते ब्रह्मगुणास्तदीयोपनिषद्विहितासु शाण्डिल्यादिब्रह्मविद्यासूपसंह्रियन्ते, उत नोपसंह्रियन्ते, अपि तु तद्गुणयुक्तोपासनान्तरं विधीयते? इति। तत्रोपसंह्रियन्ते इति प्राप्ते, उच्यते यथा नामनी नोपसंह्रियेते तद्वत्सम्भृत्यादिगुणजातमपि नोपसंह्रियते। कुतः? अतो विशेषादेव शाण्डिल्यादिविद्यासु ब्रह्मणोऽल्पमायतनम् "एष मे आत्माऽन्तर्हृदये" इत्यादिषु वाक्येषु श्रूयते, न तथाऽत्र द्युव्याप्तेस्तावदनल्पस्थानगुणत्वं तत्साहचर्य्यात्सम्भृत्यादयोऽप्यनल्पस्थानगुणाः इत्येवं विशेषात्स्थानभेदात्। तस्माद्वीर्य्यसम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतिगुणविशिष्टमुपासनान्तरमिति सिद्धम्॥२३॥ इति सम्भृत्यधिकरणम्॥८॥

सू० पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ॥ ३।३।२४॥

(वे०पा०सौ०) "पुरुषो वाव यज्ञ" इत्यादिना छान्दोग्ये "तस्यैव विदुषो यज्ञस्ये"त्यादिना तैत्तिरीयके च श्रूयमाणायां पुरुषविद्यायामपि एकत्रोक्तानां "तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनमि"-त्यादीनां प्रकाराणामन्यत्रानाम्नानाद्विद्याभेदः ॥ २४ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र विशेषादिति हेतुमाश्रित्य शाण्डिल्यादिब्रह्मविद्याभ्यः सम्भृत्यादिगुणयुक्तं विद्यान्तरमित्युपपादितमिदानीं पुरुषविद्याभेदं दर्शयन् पुरुषविद्यायां समाख्याद्यविशेषाद्विद्यैक्यमस्त्वित्याशङ्कां निराकरोति ।

छान्दोग्ये ताण्डिनां पैङ्गिनाञ्च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्याऽऽम्नायते "पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनमथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनमथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयं सवनमि"त्यादिका । तैत्तिरीयकेऽपि पुरुषविद्याऽस्ति "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिरि"त्येवमाद्यनुवाके । तत्र संशयः किमुभयत्राम्नातयोर्विद्ययोर्भेदः, अथवा विद्यैक्यमिति ? समाख्याद्यविशेषाद्विद्यैक्यमिति प्राप्ते, सिद्धान्तमाह पुरुषविद्यायामपीति । पुरुषविद्या भिद्यते । कुतः ? छान्दोग्यतैत्तिरीयकयोः पुरुषविद्यात्वाविशेषेणाम्नातायां पुरुषविद्यायामपि परस्परापेक्षयेतरेषां गुणानामन्यत्रान्यत्रानाम्नानादनुक्तत्वात् । तथाहि छान्दोग्ये षोडशाधिकशतवर्षपरिमितस्य त्रेधाविभक्तस्य पुरुषायुषः सवनत्वेन कल्पनम्, तैत्तिरीयके तु यत्सायं प्रातर्मध्यन्दिनञ्च तानि सवनानीत्येवं सवनत्रयकल्पनम्, छान्दोग्ये इत्थं सवनत्रयकल्पनं न कृतम् । किञ्च छान्दोग्ये आशिषादीनां दीक्षादित्वेन कल्पनम्, तत्तैत्तिरीयके न कृतम् । छा-

न्दोग्ये "पुरुषो वाव यज्ञ" इति पुरुषो यज्ञत्वेन कल्पितस्तस्यात्मादिषु यजमानादिकल्पनं न कृतम्। तैत्तिरीयके तु "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी" इत्यादिना पुरुषस्यात्मादिषु यजमानत्वादिकल्पनं कृतम्। अत उभयत्र रूपभेदः। सर्वत्र प्रकारभेदो ह्युपासनाभेदे बीजम्। फलसम्बन्धभेदोऽप्युभयत्रास्ति। छान्दोग्ये तावत्पुरुषविद्यायाः आयुःप्राप्तिः फलम्, तैत्तिरीयके तु ब्रह्मप्राप्तिः पुरुषविद्यायाः फलम्। तथाहि पूर्वस्मिन्ननुवाके "ब्रह्मणो त्वामहसे ओमित्यात्मानं युञ्जीते"ति ब्रह्मविद्यामुपन्यस्य ब्रह्मणो महिमानमाप्नोतीति ब्रह्मविदो ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलमुक्त्वा "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्ये"ति पुरुषविद्यायां तच्छब्देन ब्रह्मवित्परामर्शात् सन्निधिपाठाच्च पुरुषविद्यायाः ब्रह्मविद्याऽङ्गत्वं, फलान्तरानपेक्षत्वञ्चेति गम्यते। एवंसति ब्रह्मविद्याऽङ्गभूतायाः पुरुषविद्यायाः ब्रह्मप्राप्तिरेव फलमिति गम्यते। तस्मादुभयत्र पुरुषविद्येति समाख्यामात्राविशेषस्याकिञ्चित्करत्वाद्विद्याभेदस्तथात्वे सति गुणानामनुपसंहार इति सिद्धम्॥२४॥ इतिपुरुषविद्याधिकरणम्॥ ९॥

सू० वेधाद्यर्थभेदात्॥ ३। ३। २५॥

(वे०पा०सौ०) "सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्ये"त्यादिमन्त्राणां "देवा ह वै सत्रं निषेदु"रित्यादिनोक्तानां यागादिकर्म्मणाञ्च न विद्यायामुपसंहारः। कुतः? वेधादीनामर्थानां विद्याभिन्नत्वात्॥ २५॥

(वे०कौ०) इदानीं यथा सन्निधिपाठात् पुरुषविद्याया ब्रह्मविद्याङ्गत्वं तथा वक्ष्यमाणमन्त्राणां कर्म्मणाञ्च ब्रह्मविद्यासन्निधिपाठात्तदङ्गत्वेन तत्रोपसंहारोऽस्ति, न वेति? विचार्य्यते।

आथर्वणिका उपनिषदारम्भे "सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्त" इत्यादीन्मन्त्रान-

धीयते । हे देवते ! मद्रिपोः सर्वमङ्गं प्रविध्य विदारय, तत्र हृदयं प्रविध्य १ धमनीः प्रवृञ्ज२ शिरो३ऽभिप्रवृङ्ग्धीत्यं मद्रिपुस्त्रिधा विपृक्तो विश्लिष्टो भवतु । ताण्डिनः सामगा अपि रहस्यब्राह्मणारम्भे ४ देवसवितः ५प्रसुव यज्ञं प्रसुवे"त्यधीयते । शाट्यायनिनः "६श्वेताश्वो हरितनीलोऽसी" त्यामनन्ति । कठास्तैत्तिरीयकाश्च " शं नो मित्रः शं वरुणः" इत्यादिकमामनन्ति । ऐतरेयिणोऽपि "इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महानभवदि"त्यादिमहाव्रतब्राह्मणमधीयते । कौषीतकिनोऽपि "प्रजापतिर्वै सम्वत्सरस्तस्यैष आत्मा यन्महाव्रत" इति महाव्रतब्राह्मणमधीयते । वाजसनेयिनस्तूपनिषदारम्भे "देवा ह वै सत्रं निषेदुरि"त्यादिप्रवर्ग्यब्राह्मणमधीयते । तत्र संशयः किं तत्र तत्र पठिताः मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्म्माणि तत्तदुक्तविद्यासु तत्तद्विद्याऽङ्गतयोपसंह्रियेरन् , उत नेति ? मन्त्राणां कर्म्मणाञ्च विद्याऽङ्गत्वेनोपसंहारो युक्तः सन्निधिपाठादिति प्राप्ते, उच्यते उपसंहारो नास्ति । कस्मात् ? वेधाद्यर्थभेदात् । वेधाद्यर्थानां विद्याभिन्नाऽभिचाराद्युपयोगित्वेन विद्यातो भिन्नत्वात् तत्तद्वाक्यप्रकाशिता वेधाद्यर्था विद्यायां नोपयुज्यन्त इत्यर्थः । तथा च मन्त्राणां सन्निधेः प्रबलेन स्वार्थप्रकाशनसामर्थ्यलक्षणलिङ्गेन चाभिचाराध्ययनादिकर्म्माङ्गत्वं गम्यते । प्रवर्ग्यादिकर्म्मणाञ्च सन्निधेर्बलीयसा श्रुत्यादिना ज्योतिष्टोमादौ विनियोगो गम्यते, नतु विद्याऽङ्गत्वेन तेषां तत्रोपसंहार इति सिद्धम् ॥ २५ ॥ इति वेधाद्यधिकरणम् ॥ १० ॥

सू० हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाछन्दस्तु-

---

(१) शिराः । (२) त्रोटय । (३) अभितो नाशय ।
(४) हे देव सवितः ! । (५) निर्वर्त्तय ।
(६) श्वेतोऽश्वो यस्येन्द्रस्य स त्वं हरितमणिवन्नीलोऽसि ।

स्त्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ ३ । ३ । २६ ॥

(वे०पा०सौ०) "तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूये"त्यादिश्रुतिप्रोक्तायां पुण्यपापविमोचनात्मिकायां हानौ "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामि"ति विद्वत्त्यक्तपुण्यपापसहभूतमुपायनमुप संह्रियते । कुतः ? शाखान्तरीयोपायनशब्दस्य हानिशब्दशेषत्वात् । यथा "कुशा वानस्पत्या" इति कुशानां वानस्पत्यत्वप्रकाशकवाक्ये शेषतामौदुम्बरा इति वाक्यं भजते, यथा च "छन्दोभिः स्तुवीते"ति वाक्यशेषतां "देवछन्दांसि पूर्वाणी"ति वाक्यं भजते, यथा च "हिरण्येन षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोती"ति वाक्यशेषतां "समयाध्युषिते सूर्ये" इति वाक्यं गच्छति, यथा च "ऋत्विज उपगायती"ति अस्य "नाध्वर्युरुपगायती"ति शेषतामापद्यते । "अपि वाक्यशेषत्वादन्याय्यत्वात् विकल्पस्ये"त्याद्युक्तञ्जैमिनिनाऽपि ॥ २६ ॥

(वे०कौ०) इदानीं यत्र यस्यार्थस्य योगस्तस्य शाखान्तरस्थत्वेऽप्युपसंहारो युक्त इत्याह ।

ताण्डिनां रहस्ये "अश्व इव रोमाणि विधूय पापञ्चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीर(१)मकृतं (२)कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामी"ति श्रूयते । तथाऽथर्वणेऽपि श्रूयते "तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति । शाट्यायनिनः "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामि"ति पठन्ति । कौषीतकिनस्तु "तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति अप्रिया दुष्कृतमि"ति पठन्ति । तत्र ताण्डिनां रहस्ये आथर्वणे च पुण्यपापयोर्हानिः श्रूयते । शाट्यायनिश्रुतौ पुण्यपापयोः प्रियाप्रियेषु प्राप्तिः श्रूयते ।

(१) कृतस्थं ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि ।
(२) कृतात्मा निर्मलीकृतचित्तः ।

कौषीतकिवाक्ये तूभयं श्रूयते । एवंसति यत्रोभयं त्यागमुपादानं च श्रूयते तत्र न काचिच्छङ्का । यत्रोपादानमात्रं श्रूयते तत्र त्यागोऽप्याक्षिप्यते, त्यागं विनोपादानासम्भवात् । यत्र तु हानिरेव श्रूयते तत्रेदं विचार्य्यते । किं त्यक्तयोः पुण्यपापयोरितरत्र श्रूयमाणमुपायनं ताण्डिनां रहस्ये आथर्वणवाक्ये चोपसंह्रियते, उत नेऽति संशयः । नोपसंह्रियते, पृथक् पठनसामर्थ्यात्, अन्यथोपसंहारफलस्योभयानुसन्धानस्य ताण्ड्यथर्ववाक्यद्वये कौषीतकिवाक्यादुपसंहारेण सिद्धौ वाक्यद्वये हानिपठनं व्यर्थमेव स्यादिति प्राप्ते, उच्यते हानौ तूपायनशब्दशेषत्वादिति । तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति । हानौ केवलायां श्रुतायामुपायनमुपसंहर्त्तव्यम् । कस्मात् ? उपायनशब्दशेषत्वात्, उपायनशब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात् । कौषीतकिरहस्ये सुकृतदुष्कृतत्यागवादिवाक्यशेषत्वेन सुकृतदुष्कृतग्रहणवादिवाक्यं श्रूयते, तथेहापि विदुषा त्यक्तयोः पुण्यपापयोरन्येन ग्रहणमावश्यकमित्यर्थः । शाखान्तरस्थवाक्यस्य शाखान्तरस्थवाक्यशेषत्वे दृष्टान्तपूगमाह— कुशाछन्दस्तुत्युपगानवदिति । तत्र यथा कौषीतकिश्रुतौ "कुशा (१)वानस्पत्याः स्थ ता मा पाते"ति सामान्यतो हि कुशानां वानस्पत्यत्वेऽवगते सति शाट्यायनिनामौदुम्बरा इति विशेषवचनादौदुम्बर्य्यः कुशा गृह्यन्ते । एवंसति कौषीतकिवाक्यशेषतां शाट्यायनिवाक्यमापद्यते । हे कुशाः! यूयं वानस्पत्याः स्थ मां यजमानं पात रक्षतेत्यन्वयः । यथा च "छन्दोभिः स्तुवीत" इत्यत्राविशेषेण देवासुरपौर्वापर्य्यप्रसङ्गे "देवच्छन्दांसि पूर्वाणी"ति पैङ्गीवाक्येन क्रमविशेषो गृह्यन्ते, इत्थं तद्वाक्यशेषतां पैङ्गिवाक्यमापद्यते । यथा च पात्रविशेषस्य षोडश्याख्यस्य ग्रहणे अङ्गभूत-

(१) कुशा उद्गातॄणां स्तोत्रगणनार्थाः शलाका दारुमय्यः ।

स्तोत्रकालाकाङ्क्षायां "हिरण्येन षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति" इति कालविशेषेण प्राप्ते "समयाध्युषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोती"ति तत्कालविशेषवाचि तैत्तिरीयकवाक्यं तद्वाक्यशेषतामापद्यते । यथा च "ऋत्विज उपगायन्ती"ति शाखान्तरीयस्याविशेषविषयस्य वाक्यस्य "नाध्वर्युरुपगायती"ति शाखान्तरीयं तत्पर्युदासरूपं वाक्यशेषतां गच्छति, एवं प्रकृतेऽपि हान्याख्येऽर्थे उपायनाख्यस्यार्थस्यान्वयः । सामान्यवाक्यस्य विशेषसापेक्षत्वे आचार्यान्तरसम्मतिं दर्शयति—तदुक्तमिति । जैमिनिनेति शेषः । "अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यादि"ति । तत्र तत्रोभयानुसन्धानसमर्थनं तु तत्तत्प्रतिपत्त्रुपकारार्थमिति ज्ञेयम् । अतो हानावुपायनं संह्रियते इति सिद्धम् ॥ २६ ॥ इति हान्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

सू० सम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ ३ । ३ । २७ ॥

(वे०पा०सौ०) शरीरादपक्रमणवेलायां निःशेषतया पापपुण्यहानिः । कुतः ? शरीरवियोगात् पश्चात्ताभ्यां तर्त्तव्यभोगाभावात् । एवमेवान्येऽधीयते "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादि । एवंसति देहवियोगसमये जात एव कर्मक्षयो "विरजां नदीं तां मनसाऽत्येति, तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते" इति नदीतरणानन्तरं पठ्यते ॥ २७ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र विद्वत्पापहानोपायनानुसन्धानमुक्तमिदानीं पुण्यपापयोर्हानस्य कालश्चिन्त्यते ।

किं विदुषः पुण्यपापयोः कश्चिदंशश्चरमशरीरवियोगवेलायां कश्चिदंशश्च तत्परित्यज्य परब्रह्मलोकं व्रजतोऽध्वनि क्षीयते, अथवा तद्वियोगकाल एव तद्धानिमिति संशयः । तत्र पूर्वः प-

क्षः "स एनं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छती"त्युपक्रम्य "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसाऽत्येति यत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते" इत्यामनन्ति कौषीतकिनस्तत्र नदीतरणानन्तरमध्वनि तद्धानप्रतीतेः, "अश्व इव रोमाणि विधूय पापमि"ति ताण्डिनां रहस्ये शरीरवियोगकाले तद्धानिप्रतीतेश्च अन्त्यशरीरवियोगवेलायां सुकृतदुष्कृतयोः किञ्चिद्धानिः, किञ्चिदध्वनि चोभयवाक्यबलादिति । तत्रोच्यते साम्पराये इति । साम्पराये परलोकगमने शरीरादुत्सर्पणकाले एव विद्वत्पुण्यपापहानिः । कुतः? तर्त्तव्याभावात् । पुण्येनेष्टस्य पापेनानिष्टस्य च तर्त्तव्यस्य निर्वर्त्त्यस्य फलस्य शरीरत्यागादूर्द्धमविद्यमानत्वात्, तत ऊर्द्ध विद्याफलस्यैव ब्रह्मभावापत्तिलक्षणस्य सत्त्वात् । तथाऽन्येपि शाखिनो विदुषः शरीरपातात्पश्चाद्ब्रह्मभावप्राप्तिव्यतिरिक्तस्य कर्म्मफलस्याभावमामनन्ति "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः, एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति । शरीरादुत्सर्पणकाले जात एव कर्म्मक्षयः "विरजां नदीं तां मनसाऽत्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते" इति कौषीतकिवाक्ये विरजातरणानन्तरं पठ्यते इति बोध्यम् । यतस्ताण्ड्यादयः शरीरादुत्सर्पककाले एव हानमामनन्ति "अश्व इव रोमाणी"त्यादिना ॥ २७ ॥

सू० छन्दत उभयाविरोधात् ॥ ३ । ३ । २८ ॥

(वे०पा०सौ०) विदुषः पुण्यं पापं क्रमात्सुहृद्दुर्हृच्च छन्दतः प्राप्नोत्येवमुभयाविरोधो भवति ॥ २८ ॥

(वे०कौ०) अन्येन विदुषा कृतयोः पुण्यपापयोरन्यास्मिन् छन्दतः सङ्कल्पतः सङ्क्रमणमस्ति, उभयाविरोधात् । निर्निमित्तोऽन्यत्र विभागेन स्वकृतत्यागः समदर्शिनि विदुषि विरुद्धः,

अन्यकृतयोः पुण्यपापयोरन्येन निर्निमित्तं ग्रहणञ्च विरुद्धमेव भवति । यदा हि यः कश्चित्सुकृतिर्विदुषः शुभं सङ्कल्पयति स हि तेनैव निमित्तेन विदुषः पुण्यमादत्ते । यस्तु कश्चिद्दुष्कृतिर्विदुषोऽहितं सङ्कल्पयति, स हि तेनैव निमित्तेन विदुषः पापमादत्ते । इत्थं छन्दतः सुकृतदुष्कृतयोः सङ्क्रमणे त्यागग्रहणयोरविरोधो भवति । तथा च स्मृतिः "शप्यमानस्य यत्पापं शपमानं हि गच्छति" इति । भगवता मनुनाऽप्युक्तम् "प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् । विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनमि"ति ॥ २८ ॥

सू० गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥३ । ३॥ २९॥

(वे०पा०सौ०) सुकृतदुष्कृतयोरविशेषतया निवृत्त्या गतेरर्थवत्त्वं, यदि सुकृतमनुवर्त्तेत तदा तत्फलभोगानन्तरमावृत्तिः स्यात् । एवंसत्यनावृत्तिश्रुतिविरोधो भवेत् ॥ २९ ॥

(वे०कौ०) ननु सुकृतहानिर्देहवियोगकाले नोपपद्यते, अनिष्टत्वादित्याशङ्क्याह ।

देहवियोगकाले दुष्कृतनिवृत्त्या सुकृतनिवृत्त्या चेत्युभयथा गतेरर्थवत्त्वं देहपातानन्तरमेव प्राप्तविषयत्वं भवति, अन्यथा दुष्कृतमात्रहान्यङ्गीकारेऽविशिष्टस्य सुकृतस्य तत्फलभोगेन क्षयाङ्गीकारे च "तस्य सुहृदः साधुकृत्यामि"ति श्रुतिविरोधः गतेश्च विरोधः स्यादित्यर्थः । भोगावसाने पुनरावृत्तौ सत्यां "एतेन मार्गेण प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इत्यनावृत्तिश्रुतिविरोधश्च स्यात् । न च वाच्यं तेन स न गच्छतीति, मार्गान्तरेण विदुषो गमनस्याश्रुतत्वात् । विद्याफलं स्थिरं भविष्यतीति चेत् ,फले विकल्पः स्यात् ॥ २९ ॥

सू० उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३ । ३ । ३० ॥

(वे०पा०सौ०) ब्रह्मोपासकस्य शरीरवियोगकाले सर्वकर्म्मक्षयेऽपि पन्था उपपन्नः । कुतः ? "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स तत्र पर्य्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः" इत्यादिषु देहादिसम्बन्धलक्षणार्थोपलब्धेः, यथा भूपसेवकस्य भौमार्थसिद्धिस्तद्वत् । स स्थूलशरीरसर्वकर्म्मक्षयेऽपि विद्याप्रभावाद्विशिष्टस्थानगमनार्थं सूक्ष्मशरीरमनुवर्त्तते, तद्वियोगानन्तरं युक्तं श्रुतिप्रोक्तं रूपं विद्वान् प्राप्य ब्रह्मभावापन्नो भवतीति भावः ॥ २० ॥

(वे०कौ०) ननु स्थूलशरीरत्यागकाले सर्वकर्म्मक्षयाङ्गीकारे सूक्ष्मशरीरस्यापि नाशस्तदैव स्यादेवंसति देवयानलक्षणः पन्था अनुपपन्न इत्यत्राह ।

विदुषां शरीरत्यागकाले सर्वकर्म्मक्षयेऽपि देवयानः पन्था उपपन्नः । कुतः ? तल्लक्षणार्थोपलब्धेः । प्रक्षीणसुकृतदुष्कृतस्यापि विदुष आविर्भूतस्वरूपस्याकर्म्मजन्यदेहादिसम्बन्धलक्षणार्थोपलब्धेः । उपलभ्यते हि अकर्म्मजन्यदेहादिसम्बन्धलक्षणार्थः "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति, परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स तत्र पर्य्येति जक्षत् क्रीडन्रममाणः, स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु कालेषु कामचारो भवति, स एकधा भवति स त्रिधा भवति" इत्यादिषु । यथा लोके स्वकर्म्मणा सम्पादयितुमशक्यमप्यर्थं राजसेवकस्तदनुग्रहाल्लभते, तद्वत्परमपुरुषानुग्रहात् विद्वानकर्म्मजन्यं परमाद्भुतं देहादिकं सर्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । अयमभिप्रायः । यदा क्षीणकर्म्मणो विदुषो विद्याप्रभावादकर्म्मजन्यात्यद्भुतदेहादिप्राप्तिर्भवति तदा विद्या खलु स्वसामर्थ्यात्स्वफलभूतब्रह्मप्राप्तिप्रदानाय सुखदुःखोपभोगसाधनस्य स्थूलशरीरस्य सर्वकर्म्मणाञ्च निरशेषं क्षयेऽप्येनं देवयानेन पथा गमयितुं सूक्ष्मशरीरं किं नोपस्थापयतीति । अयमर्थः । लिङ्गशरीरं

विरजानदीप्राप्तिपर्य्यन्तमनुवर्त्तते, तदनन्तरं कारणे समवलीयते । वक्ष्यति च "तानि परे तथा ह्याहे"ति । तस्माच्चरमशरीरवियोगकाले सर्वकर्म्मक्षय इति सिद्धम् ॥ ३० ॥ इति साम्परायाधिकरणम् ॥ १२ ॥

सू० अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्॥३।३।३१॥

(वे०पा०सौ०) उपकोशलविद्यापञ्चाग्निविद्यादिषु श्रूयमाणा गतिस्तद्विद्यावतामेवेति नियमो न, किन्तु स ब्रह्मोपासीनानां सर्वेषाम् । तथाहि गतेः सर्वसाधारणत्वे सति "य एवमेतद्विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" । "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यामविरोधः ॥ ३१ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र स्थूलदेहक्षयकाले सुकृतावृत्त्या दुष्कृतनिवृत्त्या च गतेरर्थवत्त्वमुक्तमिदानीमेवम्भूताऽत्युत्कृष्टा गतिः सर्वेषां ब्रह्मविद्यावताम् , उत येषां विद्याप्रकरणे पठिता तेषामेवेति विचार्य्यते ।

कासुचिदुपकोशलविद्यापञ्चाग्निविद्यादहरविद्यादिष्वर्चिरादिमार्गः श्रूयते, मधुविद्याशाण्डिल्यविद्यावैश्वानरविद्यादिषु च न श्रूयते । तत्र किमुपकोशलादिविद्यावतामेव मार्गोऽस्ति, किं वा सर्वेषां ब्रह्मविद्यावतामिति संशयः । तत्र यासु ब्रह्मविद्यासु मार्गः श्रुतस्तद्विद्यावतामेव प्रकरणबलात् स उचितो नेतरेषामिति नियम इति पूर्वपक्षः । तत्रोच्यते अनियम इति । येषां विद्याप्रकरणे मार्गः पठ्यते तेषामेवायमिति नियमो नास्ति, किन्तु सर्वेषां ब्रह्मविद्यावतामयं मार्गः । नन्वेवंसति प्रकरणेन विरोधः । अत्रोच्यते । अविरोध इति वाक्येन प्रकरणस्य बाध्यत्वात् । कुतोऽवगम्यते ? शब्दानुमानाभ्याम् श्रुतिस्मृतिभ्याम् । तथा

हि "य एवमेतद्विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ती"त्यादिश्रुतिभ्यः, "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥"इत्यादिस्मृतिभ्यश्च । तत्र"ये एतद्द्युलोकादिमेवमग्नित्वेन विदुस्ते पञ्चाग्निनिष्ठा अर्चिषमभिसम्भवन्ती"त्यभिधाय, "ये चेमेऽरण्ये"इत्यादिना श्रद्धापूर्वकं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"-त्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धं सत्यं ब्रह्मोपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्तीति श्रुत्योच्यते । इत्थं खलु पञ्चाग्निविद्यावतामिव सर्वेषां ब्रह्मोपासीनानां (मार्गप्राप्तिरतः) अर्चिरादिगतिवादिवाक्येन बलीयसा प्रकरणं बाधितमिति निश्चीयते । एव सर्वेषां ब्रह्मोपासीनानामनेनैव मार्गेण गमनं स्मृत्याऽपि प्रतिपाद्यते । तस्मात्सर्वासु विद्यासु प्राप्त एवार्चिरादिमार्गोऽनूद्यत इति सिद्धम् ॥ ३१ ॥
इत्यानियमाधिकरणम् ॥ १२ ॥

सू॰ यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥३।३।३२॥

(वे॰पा॰सौ॰) वशिष्ठादीनां स्वाधिकारफलकर्म्मवशाद्यावदाधिकारमवस्थितिः ॥ ३२ ॥

(वे॰कौ॰) ननु यदुक्तं विदुषां विद्याप्रभावादेहवियोगकाले सर्वकर्म्मक्षयोऽर्चिरादिमार्गेण विशिष्टपदप्राप्तिरिति, तन्नोपपद्यते, विद्यावतां महामुनीनां वसिष्ठादीनामपि पुनर्जन्मसुखदुःखानुभवदर्शनात् । वसिष्ठस्य पुनर्जन्म, कुम्भे प्रसिद्ध एव तस्य दुःखानुभवः स्मर्य्यते "शताञ्छक्त्यवरान्पुत्रान् वसिष्ठस्य महात्मनः । भक्षयामास संक्रुद्धः सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ वशिष्ठो घातितांच्छ्रुत्वा विश्वामित्रेण तान्सुतान् । धारयामास तं शोकं महाद्रिरिव मेदिनीम् ॥ चक्रे चात्मविनाशाय बुद्धिं स मुनिसत्तमः ॥ नत्वेव कौशिकोच्छेदे मेने मतिमतां वरः ॥ स मेरुकूटादात्मानं मुमोच

भगवानृषिः । गिरेस्तस्य शिलायां तु तूलराशाविवापतत् ॥ न ममार च पातेन स यदा तेन पाण्डवः । तदाऽग्निमिद्धं भगवान्संविवेश महावने ॥ तं तदा सुसमिद्धोऽपि न ददाह हुताशनः । स समुद्रमभिप्रेक्ष्य शोकाविष्टो महामुनिः ॥ बद्ध्वा कण्ठे शिलां गुर्वीं निपपात तदाऽम्भसि । स समुद्रोर्मिवेगेन स्थले न्यस्तो महामुनिः ॥ जगाम स ततः खिन्नः पुनरेवाश्रमं प्रति ॥" इत्यादिना । हर्षानुभवश्च स्मर्य्यते "अदृश्यन्त्याख्यया वध्वा चाश्रमेऽनुसृतोऽभवत् । अथ शुश्राव सङ्गत्या वेदाध्ययननिःस्वनम् ॥ पृष्ठतः परिपूर्णार्थं षड्भिरङ्गैरलङ्कृतम् । अनुव्रजति को न्वेष मामित्येवाथ सोऽब्रवीत् ॥ अहमित्यदृश्यन्तीमं सा स्नुषा प्रत्यभाषत । शक्तेर्भार्य्या महाभागा तपोयुक्ता तपस्विनी ॥ पुत्रि ! कस्यैष साङ्गस्य वेदस्याध्ययनस्वनः । पुरा साङ्गस्य वेदस्य शक्तेरिव मया श्रुतः ॥ अयं कुक्षौ समुत्पन्नः शक्तेर्गर्भः सुतस्य ते । समा द्वादश तस्येह वेदानभ्यस्यतो मुने ! ॥ एवमुक्तस्तया हृष्टो वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः । अस्ति सन्तानमित्युक्त्वा मृत्योः पार्थ ! न्यवर्त्तत"-त्यादि । इत्याशङ्कामिदानीं निराकरोति ।

आधिकारिकाणां वसिष्ठादीनां कर्म्मविशेषेण वेदप्रवर्त्तनादिष्वधिकारेषु वर्त्तमानानां यावदधिकारमवस्थितिः, अधिकारप्रदस्य प्रारब्धकर्म्मणोऽनिवृत्तत्वात् । तस्मात्तेषामप्यधिकारप्रदप्रारब्धकर्म्मणः भोगेन क्षये सति अधिकारसमाप्तौ चरमदेहवियोगकाले सर्वकर्म्मक्षयोऽर्चिरादिमार्गप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

इति यावदधिकाराधिकरणम् ॥ १४ ॥

सू॰ अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३ । ३ । ३३ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति,

अस्थूलमनण्वह्रस्वमि''त्यक्षरसम्बन्धिनीनामस्थूलत्वादिधियां ब्रह्मविद्यासु सर्वासु परिग्रहः । कुतः ? सर्वत्राक्षरस्य ब्रह्मणः प्रधानस्य समानत्वाद्गुणानां च स्थूलत्वादीनां तत्स्वरूपानुसन्धानान्तर्भावाच । यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु सामवेदपठितस्य मन्त्रस्या''ग्नेर्वेहोत्रमि''त्यादेर्याजुर्वेदिकेन स्वरेण प्रयोगः क्रियते, तदुक्तं ''गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वात् मुख्येन वेदसंयोग'' इति ॥ ३३ ॥

(वे०कौ०) विदुषामप्यधिकारसमाप्तिपर्य्यन्तस्थितिकथनेन तेषामपि चेतनाचेतनात्मकात् प्रपञ्चादुत्क्रमणं प्रपञ्चविलक्षणपुरुषोत्तमाधीनमेवेति सूचितम् । इदानीं तस्यैव जगज्जन्मादिहेतोः सर्वचेतनाचेतननियन्तुः सर्वस्मात्स्थूलत्वादिनोपलभ्यमानादचेतनवर्गात् अणुत्वादिना श्रूयमाणाच्च चेतनवर्गाद्विलक्षणस्वरूपस्य स्वाभाविकानित्यानन्तगुणगणनिधेः श्रीपुरुषोत्तमस्य गुणाः अस्थूलत्वानणुत्वादयो विद्वद्भिः सर्वासु तद्विषयिकासु विद्यासु चिन्तनीया इत्याह ।

बृहदारण्यके गार्गीं प्रति याज्ञवल्कयस्योत्तरं श्रूयते ''एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन, एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत'' इति । एवमाथर्वणेऽपि ''अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'' इत्यक्षरं ब्रह्मोपक्रम्य श्रूयते ''यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादमि''ति । तत्राक्षरशब्दनिर्दिष्टस्य ब्रह्मणो जडाजडविलक्षणत्वापादका अस्थूलत्वानणुत्वाद्रेश्यत्वाग्राह्यत्वादयो गुणा बृहदारण्यकाथर्वणपठिताः सर्वासु ब्रह्मविद्यासूपसंहर्त्तव्याः, उत नेति ? संशयः । नोपसंहर्त्तव्याः

प्रयोजनाभावादिति प्राप्ते, अस्ति प्रयोजनं तास्वपि ब्रह्मविद्यासु प्रतिपत्तृभिश्चिदचिद्विलक्षणं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमित्याह—अक्षरधियां त्ववरोध इति। अक्षरं ब्रह्म तत्सम्बन्धिन्यश्चिदचिद्विलक्षणतत्स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थाः अस्थूलत्वानणुत्वादिबुद्धयस्तासामपि सर्वासु ब्रह्मविद्यास्ववरोधः परिग्रहः। आनन्दादीनां स्वरूपगुणानामुपसंहारः "आनन्दादयः प्रधानस्ये"त्यत्रोक्तः । तद्वदस्थूलत्वानणुत्वादिगुणानां तदितरानन्दसादृश्यभ्रान्तिशान्तये सर्वत्रोपसंहारो न्याय्यः इत्यर्थः। कस्मात् ? सामान्यतद्भावाभ्याम्। चिदचिद्विलक्षणस्योपास्यस्वरूपस्य प्रतिपत्तव्यस्य सर्वासु ब्रह्मविद्यासु समानत्वात् तेषामस्थूलत्वानणुत्वादीनां गुणानां प्रधानस्वरूपानुसन्धानान्तर्भावाच्च तेषां तदनुवर्तित्वादित्यर्थः। गुणानां प्रधानानुवर्तित्वे दृष्टान्तः औपसदवदिति। यथा "जमदग्निः पुष्टिकामश्चतुरात्रेणायजते"ति (१)जामदग्न्येऽहीने (२)पुरोडाशिनीषूपसत्सु "पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्ती"त्युपदिष्टासु सामवेदपठिताः "(३)अग्ने वेर्होत्रंवे"रित्येवमादयो मन्त्राः प्रधानानुवर्तितया अध्वर्युणोपांशुत्वेन याजुर्वेदिकेन स्वरेण प्रयुज्यन्ते। तदुक्तं जैमिनिनेति शेषः। "गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोग" इति ॥३३॥

सू० इयदामननात् ॥ ३ । ३ । ३४ ॥

(वे०पा०टी०) स्थूलत्वादिविशेषितैरानन्दादिभिः सर्वोत्कृष्टब्रह्मचिन्तनाद्धेतोरियदा(नन्दा)दिकं सर्वत्रानुवर्तनीयम्, प्रधानानुवर्तिनोऽ-

(१) जमदग्निना कृतो जामदग्न्य अहीनश्चतूरात्रः क्रतुस्तस्मिन्।

(२) क्रतौ पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्तीति पुरोडाशसाध्या इष्टयस्तासु।

(३) वेरित्यगणस्य होत्रमध्वरञ्च कर्माग्नेस्त्वत्त एवेत्यग्न्यामन्त्रणमन्त्रार्थः।

पि सर्वकर्म्मत्वादयः यत्रोक्तास्तत्रानुसन्धेयाः ॥ ३४ ॥

(वे०कौ०) ननु "सर्वकर्म्मा सर्वगन्धः सर्वरसः" इत्यादिश्रुत्युक्तानां गुणानामपि प्रधानानुवर्त्तित्वेन सर्वत्रोपसंहार उक्तन्यायेन प्राप्नोतीत्यत्राह ।

इयत् अस्थूलत्वादिविशेषितमानन्दादिकं सर्वासु ब्रह्मविद्यासु प्राप्नोति । कुतः ? आमननात् । अस्थूलत्वादिविशेषितेनानन्दादिगुणजातेनेतरव्यावृत्तिपूर्वकं चिदचिद्विलक्षणब्रह्मामननमाभिमुख्येन तच्चिन्तनं भवति, तस्माद्धेतोरित्यर्थः । सर्वकर्म्मत्वादीनां प्रधानानुवर्त्तित्वेऽपि सर्वत्रोपसंहारे प्रयोजनविशेषाभावाद्यत्र पाठस्तत्रैवोपयोगः । तस्मादक्षरधियामेवावरोध इति सिद्धम् ॥ ३४ ॥ इत्यक्षरध्यधिकरणम् ॥ १५ ॥

सू० अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३ । ३ । ३५ ॥

(वे०पा०सौ०) ननु बृहदारण्यके "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व" इत्युषस्तप्रश्ने "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तर" (इत्यादिप्रतिवचनम्, तत्र अन्तरा स ते आत्मा सर्वान्तर) इति देहाद्यन्तरत्वेन प्रत्यगात्मसम्बन्ध्युपदेशः, तस्यैव प्राणापानादिहेतुत्वात्, तथैव "तत्र यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्वे"ति कहोलप्रश्ने "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येती"त्यादिप्रतिवचनम्, तत्र तु परमात्मविषय उपदेश इति विद्याभेदः, इतरथा प्रतिवचनभेदानुपपत्तिरिति चेन्न । उभयत्र मुख्यस्यैव सर्वान्तर्य्यामिणः प्रश्नप्रतिवचनयोर्विषयत्वात् । यथा सत्यविद्यायां सतः परमात्मनस्तत्तद्गुणप्रतिपादनाय "भगवांस्त्वेवमेतद्ब्रवीतु भूय एव मां भगवान्विज्ञापयत्वि"ति प्रश्नस्य "एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यमि"ति प्रतिवचनस्य चावृत्तिर्दृश्यते, तद्वदत्रापि वेद्यस्याशनायाद्यतीतत्व-

प्रतिपादनाय प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिरुपपद्यते ॥ ३५ ॥

(वे०कौ०) अस्थूलत्वादिगुणोपसंहारार्थके पूर्वाधिकरणे तत्त्वान्तरविलक्षणत्वं वेद्यस्य दर्शितम्। तदाढ्यार्थमिदानीं वक्ष्यमाणवाक्यद्वये विद्यैक्यं दर्शयन्नेकस्मिन्नपि वेद्ये तत्त्वद्वयभ्रान्तिं निराकरोति।

बृहदारण्यके "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्वे"त्युषस्तो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ। तत्र "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेन पानिति स त आत्मा सर्वान्तर" इत्यादि प्रतिवचनम्। एवमेतदनन्तरब्राह्मणे "यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्वे"ति कहोलप्रश्ने "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरामृत्युमत्येति एवं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्चेत्याद्यतोऽन्यदार्तमि"त्यन्तं प्रतिवचनम्। तत्र संशयः किमुभयत्र प्रश्नप्रतिवचनयोर्विद्याद्वयपरत्वम्, उत विद्यैक्यपरत्वमिति। तत्र पूर्वपक्षमुपन्यस्य दूषयति अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नेति। "य आत्मा सर्वान्तर" इत्युषस्तप्रश्ने "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तर" इति अन्तरा सर्वात्मत्वेन प्रतिवचनं भूतग्रामवतः स्वात्मनः प्रत्यगात्मनोऽभ्युपगन्तव्यम्। जीवस्य प्राणनादिहेतुत्वात्सर्वस्य देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादेरन्तरात्मत्वेन सर्वान्तरत्वोपपत्तेश्च। परिशेषात्कहोलप्रश्नोत्तरं मुख्यान्तरात्मभूतपरमात्मविषयं, परमात्मन एव अशनादिरहितत्वात्। एवं रूपभेदाद्विद्याद्वयपरत्वं प्रश्नप्रतिवचनयोः, अन्यथोभयत्र प्रश्नप्रतिवचनयोः परमात्मपरत्वेन विद्यैक्ये प्रतिवचनभेदानुपपत्तिः इति चेत्। न, विद्याभेदो नास्तीत्यर्थः, प्रश्नप्रतिवचनद्वयस्यैकरूपपरमात्मपरत्वात्। तथाहि

"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्वे"-ति उपस्तप्रश्नस्तावत्परमात्मपर एव। भगवन्याज्ञवल्क्य! यद्ब्रह्म तन्मे व्याचक्ष्व। सत्त्वादित्रिगुणयोगादेवात्मशक्तिभूतं ब्रह्म न पृच्छामीत्याशयेनाह "अपरोक्षाद्ब्रह्माचक्ष्व य आत्मेति"। प्रत्यगात्माऽपि धर्मभूतज्ञानात्मकगुणयोगाद्ब्रह्म तल्लक्षणं ब्रह्म न पृच्छामीत्याशयेनाह "साक्षाद्ब्रह्म व्याचक्ष्व य आत्मा सर्वान्तर" इति। एवम्भूतं तु ब्रह्मोक्तलक्षणं जगत्कारणं पुरुषोत्तमाख्यमेवेति प्रश्नस्य परब्रह्मपरत्वमवगम्यते। "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, एष ते आत्माऽन्तर्य्यामी, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां, यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरः, यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च। "यः प्राणेन प्राणिति स ते आत्मा सर्वान्तर" इत्यादिप्रतिवचनमपि श्रीपुरुषोत्तमपरमेव, परस्यैव मुख्यप्राणनकर्तृत्वात्। "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि"ति श्रुतेः उत्तरप्रश्नप्रतिवचनयोः परमात्मपरत्वमङ्गीकृतमेव। पूर्वपक्षेऽपि सर्वप्राणिप्राणनहेतोः पुरुषोत्तमस्य अशनादिरहितत्वप्रतिपादनाय प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिः। तत्र दृष्टान्तमाह उपदेशान्तरवदिति। यथा खलु एकस्यामेव सद्विद्यायां "स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्य" इति प्रक्रान्तायां "भगवांस्त्वेवमेतद्ब्रवीतु भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु" इति प्रश्नावृत्तिः, "एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यमि"ति प्रतिवचनावृत्तिश्चैकरूपैव वेद्यस्य तत्र तत्र गुणविशेषप्रतिपादनाय दृश्यते, तद्वत्॥ ३५॥

सू० व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरत्वात्॥ ३। ३। ३६॥

(वे०पा०सौ०) सर्वप्राणिप्राणनादिहेतुत्वेन जीवाद्व्यावृत्तस्य परस्यानुसन्धानमुषस्तवत्कहोलेनापि कार्य्यं, तथाऽशनायाद्यतीतत्वेन जीवाद्व्यावृत्तस्य कहोलवदुषस्तेनापि कार्य्यमेवमन्योऽन्यमनुसन्धानव्यत्ययः। एवंसति जीवाद्ब्रह्म व्यावृत्तम्भवति। यतो याज्ञवल्क्यप्रतिवचनान्युभयत्रैकं सर्वात्मानमुपास्यं विशिंषन्ति। यथा सद्विद्यायामेकमेव सद्ब्रह्म सर्वाणि प्रतिवचनानि विशिंषन्ति ॥ ३६ ॥

(वे०कौ०) ननुभयत्र प्रश्नस्य प्रतिवचनस्य च मुख्यसर्वान्तरात्मविषयत्वमस्तु, तथाऽपि विद्यैक्यं न भवति, पूर्वब्राह्मणे सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वगुणविशिष्टस्य मुख्यान्तरात्मनः उषस्तप्रतिपत्तव्यतया भिन्नरूपत्वेन उत्तरब्राह्मणेऽशनायाद्यतीतत्वगुणविशिष्टस्य मुख्यान्तरात्मनः कहोलप्रतिपत्तव्यतया भिन्नरूपत्वेन च विद्याभेदसम्भवादित्यत्राह।

सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वाशनायाद्यतीतत्वयोर्गुणयोर्व्यतिहारो व्यत्ययोऽस्ति। उषस्तेनापि गुणद्वयेन व्यावर्त्तकेन चेतनात् व्यावृत्तं सर्वान्तरात्मभूतमेकं परम्ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमेवं कहोलेनापि हि यतोऽल्पदेशस्थत्वादिगुणयुक्तात् क्षेत्रज्ञात् श्रीमत्पुरुषोत्तमं सर्वान्तरात्मनाद्युपास्यं व्यावृत्तमवगमयितुं सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वाशनायाद्यतीतत्वादिगुणनिरूपणेन याज्ञवल्क्यप्रतिवचनानि विशिंषन्ति क्षेत्रज्ञाद्व्यावृत्तं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति, इतरवत्। इतरत्र सद्विद्यायां यथा भूयोभूयः प्रतिवचनैर्नानागुणप्रतिपादकैः एकमेव वेद्यतया ब्रह्म व्यवच्छिद्यते, नतु गुणभेदेन तत्र तत्रोपास्यतया भिद्यते, तद्वत् ॥ ३६ ॥

सू० सैव हि सत्यादयः ॥ ३ । ३ । ३७ ॥

(वे०पा०सौ०) सैव सत्यशब्दाभिहिता "सेयं देवतैक्षत तेजः परस्यां देवतायामि"ति प्रकृतैव सद्ब्रह्म "यथा सौम्य! मधु मधुकृतो नि-

स्तिष्ठन्ति" इत्यादिपर्य्यायेष्वनुवर्त्तते। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यमि"-ति प्रथमपर्य्याये पठिता एव सत्यादयः सर्वेषु पर्य्यायेषूपसंह्रियन्ते ॥३७॥

(वे०कौ०) ननु सद्विद्यायामपि प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिसत्त्वे कुतो निश्चीयते उपास्यमेकमेवेत्यत्राह ।

सैव हि सच्छब्दनिर्दिष्टा परा देवतैव खलु "सेयं देवतैक्षत तेजः परस्यां देवतायामि"ति प्रकृता सर्वेषु "यथा सौम्य ! मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ती"त्यादिषु पर्य्यायेषु अनुवर्त्तते । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मे"ति प्रथमपर्य्याये पठिता एव सत्यादयः सर्वेषु पर्य्यायेषूपसंह्रियन्तेऽतः सद्विद्यायामुपास्यमेकमेव । तस्मादुभयत्र प्रश्नप्रतिवचनयोर्विद्यैक्यपरत्वमिति सिद्धम् ॥ ३७ ॥ इत्यन्तरत्वाधिकरणम् ॥ १६ ॥

सू० कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३ । ३ । ३८ ॥

(वे०पा०सौ०) "अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमि"ति उपक्रम्य, "एष आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिना सत्यकामत्वादिगुणवतः छान्दोग्ये, "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिञ्छेते, सर्वस्य वशी सर्वस्येशान" इति वशित्वादिगुणवतः परमात्मन उपास्यत्वं वाजसनेयके च श्रूयते । इहोभयत्र विद्यैक्यं, यतः सत्यकामत्वादि वाजसनेयके वशित्वादि च छान्दोग्ये गृहीतव्यम् । कुतः ? आयतनाद्यविशेषात् ॥ ३८ ॥

(वे०कौ०) एकत्र पठितेन ब्राह्मणद्वयेन प्रतिपादिता विद्या रूपाभेदान्न भिद्यते इति किमु वक्तव्यम्, रूपाभेदात्पृथक् ग्रन्थेऽपि श्रूयमाणा विद्या न भिद्यते इतीदानीमाह ।

"अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमि"त्याकाशशब्देन

परमात्मानमुक्त्वा, तस्य गुणाष्टकवैशिष्ट्यं छन्दोगैः पठ्यते "एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प" इति। वाजसनेयिभिश्च "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिंच्छेते" इत्युक्त्वा "सर्वस्य वशी सर्वस्येशान" इत्यादिना वशित्वादिगुणवैशिष्ट्यं परमात्मनः पठ्यते। तत्र संशयः किं छन्दोगानां वाजसनेयिनाञ्च विद्या भिद्यते, किं वा विद्यैक्यमिति ? एकत्राकाशशब्दवाच्यस्यापहतपाप्मत्वादिगुणवतः परमात्मन उपास्यत्वमितरत्राकाशविशेषणान्तर्गतस्य वशित्वादिगुणवतः उपास्यत्वमेवंसति रूपभेदेन वेद्यभेदः प्राप्नोति तस्माद्विद्या भिद्यत इति प्राप्ते, ब्रूमः विद्यैक्यमिति। रूपाद्यभेदाच्चवाह—कामादीति। कामादि सत्यकामत्वादि छान्दोग्यश्रुत्या "ऽपहतपाप्मे" त्यादिनोक्तं गुणजातमितरत्र वाजसनेयके योजनीयम्। तत्र च छान्दोग्ये च वाजसनेयकश्रुत्युक्तं वशित्वादिगुणजातं योजनीयम्। एवंसति रूपं न भिद्यते, तथात्वे वेद्यैक्याद्विद्यैक्यम्। अन्योन्यगुणयोगे हेतुनाह—आयतनादिभ्यः। हृदयाख्यस्यायतनस्य वेद्यस्य ब्रह्मणः सेतुव्यपदेशस्य "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, अभयं वै ब्रह्म भवती"ति ब्रह्मप्राप्तिरूपस्य फलसंयोगस्य चोभयत्राविशेषात् ॥ ३८ ॥

सू० आदरादलोपः ॥ ३ । ३ । ३९ ॥

(वे०पा०सौ० आदरादाम्नातानां सत्यकामत्वादीनां प्रतिषेधो नास्ति "नेह नाने"ति प्रतिषेधस्याब्रह्मात्मकपदार्थपरत्वात् ॥ ३९ ॥

(वे०कौ०) ननु यदुक्तं वाजसनेयके पठितं वशित्वादिगुणजातं छान्दोग्ये योजनीयमिति, तन्नोपपद्यते, "मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव

पश्यति, एकधैवानुद्रष्टव्यम् एतदप्रमेयमि"ति प्रकृतवाक्यात् "स एष नेति नेत्यात्मे"त्युपरितनाद्वाक्याच्च निर्विशेषत्वं परस्य प्राप्नोत्यतः स्थूलत्वाणुत्वादिवद्वशित्वादिगुणजातं निषेधविषयमित्यवगम्यतेऽतश्छान्दोग्येऽपि सत्यकामत्वादिगुणजातं प्रतिषेध्यं बोध्यमेवंसत्येवञ्जातीयकगुणाभावो मोक्षार्थासूपासनासु प्राप्नोतीत्यत्राह ।

"तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् ,एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, तद्य इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, अथ य इह आत्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति, सर्वस्य वशी सर्वस्येशान, एष सर्वेश्वरः एष सर्वभूताधिपतिरेष भूतपाल, एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाये"त्यादिनाऽपूर्वत्वेनादरादुपदिष्टानां प्रतिषेधानर्हाणां सत्यकामत्वादीनां वशित्वादीनाञ्च परब्रह्मगुणानामलोपोऽप्रतिषेधः, अपि तूपसंहारः कर्त्तव्यः, प्रतिषेधे प्रमाणाभावात् । "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इत्यादिश्रुतिस्तु चिदचिद्भिन्नाभिन्ने पूर्वोक्तलक्षणे ब्रह्मणि जगत्कारणे नानातन्निरपेक्षस्थितिप्रवृत्तिमत्तयेतरेतरसत्ताश्रयं वस्तुजातं किञ्चन नास्ति, सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वात्तत्राब्रह्मात्मकतया नानेव यः पश्यति स मृत्योर्मृत्युमाप्नोति, एकधैवानुद्रष्टव्यं सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वादब्रह्मात्मकतत्त्वान्तराभावादिति वदति, नतु पारमार्थिकानां ब्रह्मगुणानां लोपं प्रतिपादयति ॥ ३९ ॥

सू० उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ३ । ३ । ४० ॥

(वे०पा०सौ०) उक्तलक्षणया ब्रह्मोपासनया ब्रह्मोपसम्पन्ने सर्वलोकेषु कामचारो भवति । ननु तत्तल्लोकप्राप्तिसङ्कल्पपूर्वकं तत्तत्साधना-

नुष्ठानं विना कुतः सर्वत्र कामचारः ? तत्रोच्यते (अतः) उपसम्पत्ते-रेव हेतोः "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स स्वराट् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती"ति वचनात् ॥ ४० ॥

(वे०कौ०) ननु "तद्य इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति स यदि पितृलोककामो भवती"त्यादिषु सत्यकामत्वादिगुणवत्प्रकृतब्रह्मविदां मुमुक्षूणामपि बुभुक्षुसाधारणलोकप्राप्तिः श्रूयते । एवंसति कर्म्मनिष्ठातो ज्ञाननिष्ठायाः को विशेष इत्यत्राह ।

उपस्थिते परब्रह्मभावमापन्ने कार्य्यकारणप्रकृतिसम्बन्धविनिर्मुक्ते विदुषि सति सर्वलोकेषु कामचारो भवति । कुतः ? अत एव ब्रह्मभावप्राप्तेरेव हेतोः । अयमर्थः । यथा साम्राज्यकामः पुरुषः सर्वजनसाधारणान् भोग्यपदार्थान् तत्साधनान्यतिहाय साम्राज्यं तदुपायेन प्राप्नोति, तत एव हेतोः पश्चादनीप्सितेष्वपि सर्वजनसाधारणेषु भोग्येषु तद्दुर्लभेषु च कामचारस्तस्य भवति । तथा विद्वान्सर्वानैहिकानामुष्मिकान्भोगान् तत्तल्लोकसाधनानि च विहाय भगवच्छ्रवणमननध्यानाराधनादिना तद्भावं प्राप्नोति, तद्भावप्राप्तेरेव सर्वत्र कामचारो भवति । कुतोऽवगम्यते ? इत्यत्राह तद्वचनादिति । तद्वचनात्सर्वत्र कामचारविषयकवचनात् "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्य्येति जक्षत्क्रीडन् रममाणस्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराट् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।" "या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः" इत्यादेः । इति सत्यकामत्वादिगुणविशिष्टब्रह्मज्ञाननिष्ठायाः कर्म्मनिष्ठातो महद्वैलक्षण्यमस्ति । तस्माच्छ्र-

न्दोगानां वाजसनेयिनाञ्च सत्यकामत्वादेर्वैश्वानरादेश्चेतरेतरोपसंहारेण ब्रह्मविद्यैकैवेति सिद्धम् ॥४०॥ इति कामाधिकरणम् ॥१७॥

सू० तन्निर्द्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ३ । ३ । ४१ ॥

(वे०पा०सौ०) "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्यादिकर्म्माङ्गाश्रयोपासनस्य कर्म्मस्वनियमः । कुतः ? "तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च नैवं वेदे"ति श्रुतौ तस्यानियमस्य दर्शनात् । अनुपासकस्यापि प्रणवेन कर्म्माङ्गभूतेन कर्म्माणि कर्त्तृत्वश्रवणादुपासनकर्म्मस्वनियतत्वं निश्चीयते । यतश्च कर्म्मफलादुपास्यस्य पृथक् फलं "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवती"त्युपलभ्यते ॥ ४१ ॥

(वे०कौ०) कर्म्मणः सकाशाद्विद्यायाः सर्वलोकेषु विद्वत्कामचारपरमपदहेतुतया महद्वैलक्षण्यं पूर्व्वाधिकरणान्ते दर्शितमिदानीं साङ्गस्यापि कर्म्मणोऽनुष्ठितस्य फलात् कर्म्माङ्गाश्रितायाः विद्यायाः फलस्य श्रेष्ठत्वात्कर्म्मणो विद्यायाः श्रैष्ठ्यं दर्शयति ।

सन्ति खलु कर्म्माङ्गभूतोद्गीथाद्याश्रयाण्युपासनानि "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्यादीनि । तत्र किं तानि कर्म्मसु पर्णमयीत्वादिवन्नियमेनोपसंहर्त्तव्यानि, उत गोदोहनादिवदनियमेनेति संशयः । तत्र पूर्व्वः पक्षः "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरमि"त्याद्युद्गीथाद्युपासनविषयकनिर्देशस्य "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोती"ति पर्णमयीत्वादिसम्बन्धपापश्लोकश्रवणवत् पृथक्फलत्वाभावात् कर्म्माङ्गाश्रयाण्युपासनानि कर्म्माङ्गभूतोद्गीथादिद्वारा जुह्वादिद्वारा पर्णतादिवत् कर्म्माङ्गतया नियमेनोपसंहर्त्तव्यानीति । तत्र ब्रूमः तन्निर्द्धारणानियम इत्यादि । मनसा निरवशेषतया धारणं निर्द्धारणमुपासनमित्यर्थः । तच्चस्य कर्म्माङ्गाश्रयस्य निर्द्धा-

रणस्योद्गीथाद्युपासनस्यानियमः, क्रतुषु तदङ्गतया नियमेनोद्गीथाद्युपासनं नोपसंहार्य्यमित्यर्थः । कुतः ? तद्दृष्टेः । तस्यानियमस्य दृष्टिः श्रुतौ दर्शनं तस्मादित्यर्थः । तथाहि "तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेदे"ति श्रुतौ अविदुषोऽपि कर्तृत्वकथनेन कर्म्माङ्गश्रितोद्गीथाश्रया विद्या कर्म्माङ्गतया कर्म्मणि नियमेनोपसंहार्य्येति नियमाभावो निश्चीयते । कर्म्मफलात्पृथग्भूतस्योपासनविधिफलस्य सत्त्वादपि तन्निर्द्धारणानियम इत्याह पृथग्घीति । हि यतः कर्म्मफलात्पृथक् अप्रतिबन्धोऽप्रतिबन्धरूपमुपासनविधेः फलं श्रूयते । प्रबलकर्म्मान्तरफलेन कर्म्मफलं प्रतिबध्यते, तद्विपरीतमुपासनविधेः फलमित्यर्थः । "तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवती"ति तेनोङ्कारेणोभौ खलु कर्म्म कुरुतः । य एतदोङ्काराख्यमक्षरमेवं रसतमत्वादिगुणकं वेद, यश्च न वेद, कर्तृत्वेन तयोः समत्वेऽपि विद्याऽविद्याभ्यां फले विकल्प इत्याह । तत्र ज्ञानं विद्या साऽविद्यापेक्षया नाना भिन्ना तया यत्कर्म्म विद्यया श्रद्धया उपनिषदा रहस्यदेवताध्यानेन करोति तद्वीर्य्यवत्तरं भवतीत्यर्थः । तस्माद्यथा गोदोहनेन पशुकामस्यापः प्रणयेदित्यत्राप्प्रणयनमाश्रित्य गोदोहनफलं (पशु) साधयति प्रणयति, शब्दोपादानसामर्थ्याच्च तत्र गोदोहनस्य कर्म्माङ्गत्वम्, तद्वत्कर्म्मसु कर्म्माङ्गाश्रयाण्युपासनान्यनियमेनोपसंहार्य्याणीति सिद्धम् ॥४१॥

इति तन्निर्द्धारणानियमाधिकरणम् ॥ १८ ॥

सू० प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ३ । ३ । ४२ ॥

(वे०पा०सौ०) दहरस्य गुणिनस्तद्गुणविशिष्टतया गुणचिन्तनेऽपि चिन्तनमावर्त्तनीयम्, "इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेदिन्द्रा-

धिराजाय स्वराज्ञ''इति पुरोडाशप्रदानवत् । तदुक्तम् ''नाना वा देवता पृथक्ज्ञानादि''ति ॥ ४२ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र कर्म्माङ्गाश्रयमुपासनं कर्म्मसु नियमेन नोपसंहार्य्यमित्युक्तम् । तत्राङ्गाश्रयमुपासनमङ्गिनिरपेक्षं यथा तथा गुणोपासनं गुणिनिरपेक्षमित्याशङ्क्येदानीमिदमुच्यते ।

''तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्ती''ति दहरविद्यायां दहराकाशमात्मानं गुणिनं पूर्वमुपास्यमुक्त्वा, पुनः ''एतांश्च सत्यान्कामानि''त्यपहतपाप्मत्वादिगुणानामप्युपासनं पृथगेवाभिधीयते । तत्र किं गुणवेदने दहराकाशस्य गुणिनस्तत्तद्गुणवत्त्वेन वेद्यत्वमस्ति, न वेति संशयः । सदैव दहराकाशस्यापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टत्वेन चिन्तयितुं शक्यत्वाद्गुणोपासने तत्तद्गुणविशिष्टतया तस्य चिन्तनं नावर्त्तनीयमिति प्राप्ते, प्रचक्ष्महे प्रदानवद्दहराकाशस्य गुणिनस्तेषां गुणानां चिन्तने तत्तद्गुणविशिष्टत्वेन चिन्तनमावर्त्तनीयम् । अयमर्थः । यद्यपि तेषां गुणानामपहतपाप्मत्वादीनामेक एव दहराकाशो गुणी, तथाऽपि तत्तद्गुणविशिष्टाकारविवक्षया''ऽपहतपाप्मा विजर'' इत्यादौ नानात्वेन चिन्तनीय इति । यथे''न्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेदिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे'' इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टाविन्द्रस्यैव राजत्वादिगुणविशिष्टत्वेऽपि राजाधिराजस्वराजगुणभेदेन तत्तद्गुणविशिष्टदेवताभेदात्पुरोडाशानां प्रदानस्य प्रक्षेपस्यावृत्तिः, तद्वत् । तदुक्तं देवताकाण्डे ''नाना वा देवता पृथक्ज्ञानादि''ति । तस्माद्गुणचिन्तनेऽपि दहराकाशस्य तत्तद्गुणविशिष्टतया तत्तदाकारेण चिन्तनमावर्त्तनीयमिति सिद्धम् ॥ ४२ ॥ इति प्रदानाधिकरणम् ॥ १९ ॥

सू० लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ३ । ३ । ४३ ॥

(वे०पा०सी०) "मनश्चितो वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः कर्म्मचितोऽग्निचित" इत्यादयस्त्रयः "यत्किञ्चेमानि मनसा सङ्कल्पयन्ति तेषामेव साकृति"रिति "तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इत्येवमादिलिङ्गानां बाहुल्याद्विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एव । लिङ्गं हि प्रकरणाद्बलीयस्तदपि शेषलक्षणे उक्तं "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादि"ति ॥ ४३ ॥

(वे०कौ०) इदानीं वक्ष्यमाणा अग्नयोऽपि कर्म्माङ्गाश्रयोपासनवत्कर्म्माङ्गतया न ग्रहीतव्या इत्याह ।

"नैव वा इदमग्रे सदासीन्नाप्यसदि"त्युपक्रम्य मनस आविर्भावमभिधाय "तन्मन आत्मनोऽग्नीनपश्यदि"ति मनोऽधिकृत्य "षट्त्रिंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितस्ते मनसैवाधीयन्त मनसाऽचीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽशंसन्, यत्किञ्च यज्ञे कर्म्म क्रियते" इत्यादि, एवमेव "वाक्चितश्चक्षुश्चितः कर्म्मचितोऽग्निचित" इति च साङ्कल्पिकान्मनश्चिदादीनग्नीन् वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये आमनन्ति । पुरुषायुश्शतं वर्षाणि, तत्र षट्त्रिंशत्सहस्राण्यहोरात्राणि भवन्ति, तत्रैकस्मिन्नहोरात्रे बह्व्यो मनोवृत्तय उत्पद्यन्ते । तासामेकाहोरात्रजन्यत्वेनैकत्वं गृह्यते । इत्थं षट्त्रिंशत्सहस्राहोरात्रावच्छिन्ना मनोवृत्तयः खलु षट्त्रिंशत्सहस्राणि भवन्ति । ताश्च क्रत्वङ्गभूतेष्टकात्वेन तथा भूताग्नित्वेन च "षट्त्रिंशद्सहस्राणी"त्यादिना प्रतिपाद्यन्ते । "तत्र मनसा चीयन्ते सम्पाद्यन्ते"इति मनश्चितः, एवं प्राणचित इत्यादिश्रुत्यर्थः यथायथं बोध्यः । तत्र संशयः एतेऽग्नयः मनश्चिदादयः कर्म्मप्रकरणपठितत्वात् किं क्रियामयक्रत्वङ्गभूताः आहोस्विद्विद्यामयक्रत्वङ्गभूताः ? इति । तत्र तावत्सिद्धान्तमुपक्रमते लिङ्गभूयस्त्वादिति । विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एव । कस्मा-

त् ? लिङ्गभूयस्त्वात् । "यत्किञ्चेमानि मनसा सङ्कल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिरिति, तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इत्यादीनां लिङ्गानां भूयस्त्वात् बाहुल्यात् । तद्धि लिङ्गं हि प्रकरणाद्बलीयः, तदपि बलीयस्त्वमपि कर्म्मकाण्डे उक्तम् "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादि"ति ॥ ४३ ॥

(वे०पा०सौ०) अथ पूर्वः पक्षः-

सू० पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया-
मानसवत् ॥ ३ । ३ । ४४ ॥

"इष्टकाभिरग्निं चिनुत" इति विहितस्य क्रियामयस्य पूर्वस्यैवायं विकल्पः प्रकरणात् स्यात् । लिङ्गस्यात्रार्थवादस्थत्वेन बलीयस्त्वाभावात् उक्ता अग्नयः क्रियारूपा एव, "मनो ग्रहं गृह्णाती"तिवत् ॥ ४४ ॥

(वे०कौ०) अथ पूर्वपक्षयति(१) ।

"इष्टकाभिरग्निं चिनुत" इति विहितस्य पूर्वस्यैवाग्नेरयं विकल्पः प्रकारः स्यात् । कुतः ? प्रकरणात् । "असद्वा इदमग्र आसादि"त्यादिना पूर्वत्रेष्टकाचितस्याग्नेः प्रकृतत्वात् । ननु प्रकरणस्य लिङ्गाद्दौर्बल्यमुक्तमिति चेन्न । उक्तलिङ्गस्यार्थवादस्थत्वेन प्रकृतसाङ्कल्पिकाग्निस्तुतिपरत्वेन विध्येकवाक्यतया स्वार्थपरत्वाभावात् । तस्मात्तेषां विद्यामयक्रत्वङ्गता प्रकरणेन बाध्यते । तस्मादेते विद्यारूपा अप्यग्नयः क्रियारूपा एव, मानसवत् । यथा द्वादशाहस्य दशमेऽहनि "अनया त्वापात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णाती"ति मानसग्रहस्य विद्यारूपस्यापि क्रियामयक्रत्वङ्गत्वेन क्रियारूपत्वम्, तद्वत् ॥ ४४ ॥

---

(१) द्वाभ्यां सूत्राभ्याम् ।

सू० अतिदेशाच्च ॥ ३ । ३ । ४५ ॥

(वे०पा०सौ०) "तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः" इति पूर्वस्याग्नेर्वीर्य्यं तेष्वतिदिश्यते, अतस्ते क्रियारूपा एव ॥ ४५ ॥

(वे०कौ०) "त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः" इति पूर्वस्येष्टकचितस्याग्नेर्वीर्य्यं तेष्वतिदिश्यते। एवम्भूतादातिदेशाच्च मनश्चिदादयोऽग्नयः क्रियारूपा एव ॥ ४५ ॥

सू० विद्यैव तु निर्धारणात् दर्शनाच्च ॥ ३ । ३ । ४६ ॥

(वे०पा०सौ०) सिद्धान्ते विद्यात्मका एव ते। कुतः? "ते हैते विद्याचित एवे"ति निर्द्धारणात्, अत्रैवैषामङ्गिनो विद्यामयक्रतो"स्ते मनसाऽधीयन्त मनसाऽचीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्णन्तमनसाऽस्तुवन्त मनसाऽशंसन्, यत्किञ्च यज्ञे कर्म्म क्रियते" इत्यादौ तदङ्गभूतविद्यामयक्रतुप्रतीतेश्च ॥ ४६ ॥

(वे०कौ०) सिद्धान्तमाह। (सिद्धान्तयति)

तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। एवकारोऽवधारणे। मनश्चिदादयोऽग्नयः क्रियारूपा न भवन्ति किन्तु विद्यैव विद्यात्मका एव विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एवेत्यर्थः। कुतः? निर्द्धारणदर्शनाच्च, निर्द्धारणात् दर्शनाच्च। "तत्र ते हैते विद्याचित एवे"ति निर्द्धारणात्, "ते मनसैवाधीयन्त मनसाऽचीयन्त, मनसैषु ग्रहा अगृह्णन्त मनसाऽस्तुवन्त मनसाऽशंसन्, यत्किञ्च यज्ञे कर्म्म क्रियते, यत्किञ्च यज्ञीयं कर्म्म मनसैव तेषु मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेवाक्रियत," इत्यादौ तेषामङ्गी विद्यामयः क्रतुरत्रैव प्रतीयते, इत्येवंदर्शनाच्च ॥ ४६ ॥

सू० श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ३ । ३ । ४७ ॥

(वे०पा०सौ०) "ते हैते विद्याचित एवे"ति श्रुतेः "एवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि विचिन्वन्ती"ति लिङ्गस्य "विद्यया हैवैते एवंविदश्चिता भवन्ती"ति वाक्यस्य च प्रकरणाद्बलीयस्त्वात्तेषामग्नीनां विद्यामयक्रत्वङ्गताबाधो न ॥ ४७ ॥

(वे०कौ०) ननु न तेषां मनश्चिदादीनामग्नीनामिह विद्यामयक्रत्वङ्गता युक्ता, "ते मनसाऽधीयन्ते"त्यादौ विधिपदाश्रवणात् फलसम्बन्धाप्रतीतेश्चैष्टकचिताग्न्युपस्थापितक्रियामयक्रतुप्रकरणेन तेषां विद्यामयक्रत्वङ्गता बाध्यते इत्यत्राह ।

न खलु प्रकरणेन तेषां विद्यामयक्रत्वङ्गताबाधः । कुतः ? श्रुत्यादेः प्रकरणाद्बलीयस्त्वात् । आदिशब्देन लिङ्गवाक्ययोर्ग्रहणम् । "तत्र ते हैते विद्याचित एवे"ति श्रुतिः, "तान्हैतान् एवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्ती"ति(१) लिङ्गम्, "विद्यया हैवैते एवंविदश्चिता भवन्ती"ति(२) वाक्यम् ॥ ४७ ॥

सू० अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम्

॥ ३ । ३ । ४८ ॥

(वे०पा०सौ०) "मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्ते"त्यादिभ्यः स्तोत्रशस्त्रादिभ्योऽनुबन्धेभ्यः श्रुत्यादिभ्यश्च विद्यामयः क्रतुः पृथगेव, शाण्डिल्यादिविद्यान्तरपृथक्त्ववत् । तथासति विधिः परिकल्प्यते । दृष्टश्चानुवादसरूपे "यदेव विद्यया करोती"त्यादौ कल्प्यमानो विधिः "वचनानि त्वपूर्वत्वादि"त्युक्तञ्च ॥ ४८ ॥

(वे०कौ०) यच्चोक्तं "मनसैवाधीयन्ते"त्यादौ विधिपदाश्रवणात्फलसम्बन्धाप्रतीतेश्च न तेषां विद्यामयक्रत्वङ्गता युक्तेति तत्राह ।

---

(१) शब्दसामर्थ्यलक्षणम् ।

(२) समभिव्याहारलक्षणम् ।

विद्यामयक्रतुः क्रियामयात्क्रतोः पृथगेव तदङ्गत्वेषां युक्तं च । कुतः ? अनुबन्धादिभ्यः, अनुबन्धातिदेशश्रुत्यादिभ्यः । तत्रानुबन्धाः "मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्ते"त्यादिनोक्ताः, क्रियामयक्रतोस्त्वङ्गानां प्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात् (तत्) पृथग्विद्यामयक्रत्वभावे पृथेव स्युः । यज्ञानुबन्धिनो ग्रहाः स्तोत्रशस्त्रादयः "तेषामेकैक एतावान्यावान् असौ पूर्वः" इत्यतिदेशः पूर्वोक्तः । अयमतिदेशोऽभेदेनोपपद्यते । श्रुत्यादयः प्राक् प्रदर्शिताः । तत्र दृष्टान्तः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववदिति । प्रज्ञान्तराणां शाण्डिल्यादिविद्यानां तत्तदसाधारणैरनुबन्धादिभिः क्रियामयात्क्रतोः (यथा पृथक्त्वं) विद्यान्तरेभ्यश्च पृथक्त्वं तद्वदत्रापि । एवंसति विधिः परिकल्प्यते । दृष्टश्चानुवादसरूपे "यदेव विद्यया करोती"त्यादौ कल्प्यमानो विधिः । तदुक्तम् "वचनानि त्वपूर्वत्वादि"ति । फलसम्बन्धोऽपि तेषामेकैक एव "तावान्यावानसौ पूर्व" इत्यतिदेशादवगन्तव्यः ॥ ४८ ॥

सू० न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः
॥ ३ । ३ । ४९ ॥

(वे०पा०सौ०) मानसग्रहसामान्यादप्येषां न क्रियामयक्रत्वङ्गत्वम्, विद्यारूपत्वोपलब्धेः । "स एष एव मृत्युर्य एष तस्मिन्मण्डले पुरुषः अग्निर्वै मृत्युरि"त्यग्न्यादित्यपुरुषयोर्मनःसादृश्येन वैषम्यापगमः, न हि "लोको गौतमाग्निरि"त्यग्नेर्लोकापत्तिः ॥ ४९ ॥

(वे०कौ०) यच्चोक्तं मानसवन्मनश्चिदादीनामग्नीनां क्रियामयक्रत्वङ्गत्वमिति तद्दूषयति ।

"अनया त्वापात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णामी"ति मानसेन ग्रहेण मनश्चिदादीनां मानसिकत्वसामान्यादपि क्रियामयक्रत्वङ्गत्वं न कल्प्यम्, कुतः ? तेषां श्रुत्यादिभ्यो विद्यामयक्रत्वङ्गतोपलब्धेः, किञ्चित्साम्यस्य महद्वैषम्यबाधक-

त्वाभावादिति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह मृत्युवत् । यथा "स एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष" इति "अग्निर्वै मृत्युरि-" ति वाऽऽदित्यपुरुषस्याग्नेश्च मृत्युशब्दनिर्दिष्टत्वसाम्येऽपि परस्पर-वैषम्यम् । यथा वा "असौ वाव लोको गौतमाग्निरि"ति नहि लोकस्याग्न्यापत्तिः, तद्वत् मनोग्रहस्य मनश्चिदादीनामग्नीनाञ्च मानसिकत्वसाम्येऽपि परस्परवैषम्यम् ॥ ४९ ॥

सू० परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ३ । ३ । ५० ॥

(वे०पा०सौ०) "अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चित" इत्यनन्तरेण चास्य शब्दस्य मनश्चिदाद्यग्निविषयस्य ताद्विध्यं मनश्चिदादिषूपादेयाना-मग्न्यङ्गानां भूयस्त्वाद्बहुत्वात्तेषां क्रियाऽभिसन्निधावनुबन्धः ॥ ५० ॥

(वे०कौ०) मनश्चिदाद्यग्निब्राह्मणात्परेण "अयं वाव लोक-एषोऽग्निश्चित" इत्यनेन लोकपूर्णब्राह्मणेन, चकारात् "यदेतन्म-ण्डलं तपती"त्यनेन पूर्वेण ब्राह्मणेनास्यापि (शब्दस्य) तन्म-ध्यस्थस्य ब्राह्मणस्य ताद्विध्यं विद्याविधि(वत्)त्वम् । वि-द्याप्रधानपूर्वोत्तरब्राह्मणसमभिव्याहारा(१)दत्रापि विद्यायाः प्रा-धान्यमिति यावत् । नन्वस्मिन्ब्राह्मणे विद्यायाः प्राधान्यं चे-त्तर्हि क्रियोपक्रमस्य किं प्रयोजनमित्यत्राह भूयस्त्वादिति । क्रियाग्न्यङ्गानां विद्याग्निषु संपादनीयानां भूयस्त्वाद्बहुत्वाद्विद्या-ऽग्नीनां क्रियाऽग्न्युपक्रमेणानुबन्धः प्रतिपादनम् । तस्मान्मनश्चि-दादयोऽग्नयो विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एवेति सिद्धम् ॥ ५० ॥ इति लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥ २० ॥

सू० एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ३ । ३ । ५१ ॥

---

(१) साहचर्यादस्यापि विद्यापरत्वम् ।

(वे०पा०सौ०) उपासनवेलायां बद्धावस्थः प्रत्यगात्मा चिन्तनीयः, शरीरे तादृशस्यैवात्मनः सत्त्वादित्येके ॥ ५१ ॥

(वे०कौ०) विद्यामयक्रत्वङ्गत्वेन मनश्चिदादीनामनुसन्धानमनन्तरं निर्णीतमिदानीमुपासनकाले तत्फलाधिकारी प्रत्यगात्माऽपि किमाकारोऽनुसन्धेय इति चिन्त्यन्ते ।

किमुपासनकाले ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्याकारमात्रो बद्धावस्थः प्रत्यगात्माऽनुसन्धेयः, आहोस्विन्मुक्तावस्थः आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टस्वरूपः ? इति संशयः । तत्रैके बद्धावस्थ एव ज्ञातृत्वाद्याकारमात्रोऽनुसन्धेयः । कुतः ? तदानीं शरीरेऽपहतपाप्मत्वाद्याकारस्याविर्भूतस्वरूपस्य मुक्तावस्थस्यात्मनोऽभावात् । यद्वा तादृशस्यैव बद्धावस्थस्य सत्त्वादिति मन्यन्ते ॥ ५१ ॥

सू० व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ३ । ३ । ५२ ॥

(वे०पा०सौ०) बद्धाकाराद्विलक्षणो मुक्ताकारः प्रत्यगात्मा साधनकालेऽनुसन्धेयस्तादृग्रूपस्यैव मुक्तौ भावित्वात् । ध्यानानुरूपपरमात्मप्राप्तिवत् ॥ ५२ ॥

(वे०कौ०) तत्रोच्यते ।

तुशब्दोऽवधारणे । ज्ञातृत्वकर्तृत्वाद्याकारमात्रो बद्धावस्थ एव प्रत्यगात्मा नाऽनुसन्धेयोऽपि तु बद्धावस्थस्वरूपादस्यात्मनो यो व्यतिरेकः आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणको ज्ञातृत्वादिधर्मको मुक्तावस्थस्वरूपः स उपासनकालेऽनुसन्धेयः । कुतः ? तद्भावभावित्वात् । तद्भावस्योपासनकाले यथाशास्त्रमनुसन्धेयस्य स्वरूपभावस्य मुक्त्यवस्थायां भावित्वात् । ब्रह्मोपलब्धिवत् । यथा ब्रह्मोपलब्धिर्यथाचिन्तनं भवति तद्वत्, "यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती"ति, "तं यथा यथोपा-

सते तदेव भवती"ति च श्रुतेः । तस्मान्मुक्तावस्थः प्रत्यगात्मा साधनावस्थायामनुसन्धेय इति सिद्धम् ॥ ५२ ॥ इति शरीरे भावाधिकरणम् ॥ २१ ॥

सू० अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ३ । ३ । ५३ ॥

(वे०पा०सौ०) "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्येवमाद्याः उद्गीथाङ्गप्रतिबद्धा उपासना न शाखास्वेव व्यवस्थिताः, अपि तु प्रतिवेदं सर्वशाखास्वेव प्रतिबध्यन्ते, यतः उद्गीथादिश्रुतेरविशेषात ॥ ५३ ॥

(वे० कौ०) उपासनवेलायां तत्कालिकाकारविशेषचिन्तां त्यक्त्वाऽऽविर्भूतापहतपाप्मत्वादिविशिष्टस्याकारविशेषस्यानुसन्धेयत्वं पूर्वत्रोक्तम् । एवमिहाप्याकारविशेषस्यार्थसाधकत्वाद्येन स्वरादिविशेषेण यस्यां शाखायामुद्गीथादयो यदाकाराः पठ्यन्ते, तत्तदाकारोद्गीथाद्यालम्बनास्तत्तदाश्रिता उपासनाः स्युरिति शङ्कां स्वसिद्धान्तमुपदिशन्निराकरोति ।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत उक्थमुक्थमिति वै प्रजाः वदन्ति तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चित" इत्येवमाद्याः कर्म्माङ्गभूतोद्गीथाद्याश्रया उपासनाः प्रतिवेदं शाखासु विधीयमानाः येन स्वरादिभेदेन यस्यां शाखायामुद्गीथादयः पठ्यन्ते तत्तदाकारेषूद्गीथादिषु व्यवतिष्ठेरन् , उत सर्वशाखागतोद्गीथादिषु सम्बध्यन्ते ? इति संशयः । तत्र येन स्वरादिभेदेन यस्यां शाखायामुद्गीथादयः पठ्यन्ते, तत्तदाकारेषूद्गीथादिषु व्यवतिष्ठेरन् न तु शाखान्तरगतोद्गीथादिषु सम्बध्यन्ते, सन्निधानादिति पूर्वः पक्षः । तत्र सिद्धान्तमाह—अङ्गावबद्धास्त्विति । तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । एताः अङ्गावबद्धाः क्रत्वङ्गाश्रया उपासनाः

न स्वशाखागतोद्गीथादिषु व्यवतिष्ठेरन् , अपि तु प्रतिवेदं सर्वशाखागतोद्गीथादिषु सम्बध्यन्ते । हि हेतौ । यतः स्वरादिभेदेनोद्गीथाद्याकारभेदेऽ"प्युद्गीथमुपासीते"त्यादावुद्गीथादिश्रुतिरविशेषेण वर्त्तते, तया सन्निधिर्बाध्यते ॥ ५३ ॥

सू० मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः । ३ । ३ । ५४ ॥

(वे०पा०सौ०) यथा "कुटरुरसी"ति मन्त्रः यथा वा प्रयाजास्तद्वदन्यत्रोक्तानामुपासानानामितरत्र योगोऽविरोधः ॥ ५४ ॥

(वे०कौ०) एकत्रोक्तानामुपासनानामन्यत्रोक्तोद्गीथादिसम्बन्धेऽविरोधः, मन्त्रादिवच्च । चार्थे वाशब्दः । यथा तण्डुलपेषणार्थमश्मादानमन्त्रः "कुटरुरसी"त्येकत्रोक्तोऽन्यत्रापि सम्बध्यते, तद्वच्च । आदिशब्देन यथा प्रयाजाः एकत्र पठिता अन्यत्रापि सम्बध्यन्ते । तस्मादेकत्राम्नाता उद्गीथाद्यङ्गाश्रिता उपासना अन्यत्राम्नातोद्गीथादिष्वपि सम्बध्यन्ते इति सिद्धम् ।५४

इत्यङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥ २२ ॥

सू० भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥३।३।५५॥

(वे०पा०) वैश्वानरविद्यायां समग्रोपासनस्य प्रशस्ता, यथा पौर्णमासादीनां साङ्गानामेकः प्रयोगः, एवं "मूर्द्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य"इत्यादिका प्रत्यङ्गमुपासने दोषं ब्रुवन्ती, समस्तोपासनस्य प्रशस्ततां दर्शयति श्रुतिः ॥ ५५ ॥

(वे०कौ) पूर्वत्र श्रुत्याऽन्यत्रोक्तानामुपासनानामन्यत्र योग उक्तः । अथेदानीं वैश्वानरविद्यायां श्रुत्या व्यस्तोपासनं कुतो नेत्यत आह ।

वैश्वानरविद्यायां प्राचीनशालादीनां षण्णामृषीणां केकयेन राज्ञा सह प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां द्युलोकादित्यवाय्वाकाशपृथिव्याख्येष्ववयवेषु व्यस्तेषु समस्तेषु च वैश्वानरोपासनं प्रतीयते ।

तत्र संशयः किं तत्र व्यस्तोपासनं कर्त्तव्यम् , उत समस्तोपासनमिति ? व्यस्तोपासनविधिश्रुतेर्व्यस्तोपासनं कर्त्तव्यमिति प्राप्ते, उच्यते—भूम्नः समग्रोपासनस्यैव ज्यायस्त्वं प्राधान्यमित्यर्थः, न व्यस्तोपासनानाम् । द्युमूर्द्धाद्यवयवस्यैकस्यैव वैश्वानरस्य वेद्यत्वेनोपक्रमोपसंहारयोरेकवाक्यत्वात् । क्रतुवद्यथा पौर्णमासादेः समस्तस्य क्रतोः प्रयोगे विवक्षिते प्रयाजादीनां व्यस्तानां न, तद्वत् । तथाहि समस्तोपासनमेव कर्त्तव्यं, न व्यस्तोपासनमिति दर्शयति "मूर्द्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इत्यन्धो भविष्यसि यन्मां नागमिष्य" इत्यादिका व्यस्तोपासने दोषं ब्रुवन्ती श्रुतिः । न च वाच्यं "औपमन्यवकं त्वमात्मानं वैश्वानरमुपास्त" इति राजप्रश्ने, "राजन्सुतेजा द्युलोको वैश्वानरो यं त्वं वैश्वानरमुपास्स" इत्यादौ व्यस्तोपासनेषु विधिश्रुतीनां वैयर्थ्यमिति व्यस्तोपासनानुवादेन समस्तोपासनस्य विधेयतया तच्छ्रुतीनामनुवादपरत्वात् । किञ्च "स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ती"ति व्यस्तोपासनं व्यावर्त्त्य समस्तोपासनत्वमेवानुकृष्य फलमभिधीयते, तस्मात्समस्तोपासनमेव कर्त्तव्यमिति सिद्धम् ॥ ५५ ॥ इति भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥ २३ ॥

सू० नाना शब्दादिभेदात् । ३ । ३ । ५६ ॥

(वे०पा०) शाण्डिल्यविद्यादीनां नानात्वम् , कुतः ? तच्छब्दादिभेदात् ॥ ५६ ॥

(वे०कौ०) इदानीं वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वेऽपि शब्दादिभेदान्नानाविद्याः सन्तीति प्रतिपादयन्ननन्तरं व्यस्तोपासनविधिश्रुतीनां सत्त्वेऽपि वेद्यैक्यादिना समग्रोपासनस्य ज्यायस्त्वमुक्तं, तद्वच्छाण्डिल्यविद्यादिकासु सर्वासु ब्रह्मविद्यासु विधिश्रुतीनां सत्त्वेऽपि वेद्यैक्याद्विद्यैक्यं भवत्विति शङ्कां निराकरोति ।

शाण्डिल्यविद्याभूमविद्यासद्विद्यादहरविद्योपकोशलविद्यावैश्वानरविद्यानन्दमयविद्याऽक्षरविद्यादिकानां ब्रह्मविद्यानां ब्रह्मप्राप्तिरूपमोक्षफलानां सर्वासां प्राणाद्येकविषयकफलानां च किं समुच्चित्योपासनं कर्त्तव्यम्, उत भेदेन ? इति संशयः । सर्वासु विद्यासु प्रत्येकं विधीनां सत्त्वेऽपि समुच्चित्योपासनं कर्त्तव्यम् वेद्यैक्यात् इति पूर्वः पक्षः । तत्रोच्यते—नानेति । विद्याः नानाभूताः । कस्मात् ? शब्दादिभेदात् । "वेद उपासीत स क्रतुं कुर्वीत, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः सत्यमुपासीते"त्यादिशब्दभेदात् । अयमर्थः । वेद्यस्यैकत्वेऽपि तत्तद्विद्याऽभिधायिवाक्योदिततत्तद्गुणयुक्तवेद्याकारभेदाद्विद्याभेद इति । आदिना शब्दान्तराभ्याससङ्ख्यासञ्ज्ञागुणप्रकरणानि कर्मभेदप्रमाणानि भेदलक्षणे दर्शितानि गृह्यन्ते । तैरिहापि विद्याभेदसिद्धिः ॥ ५६ ॥
इति शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥ २४ ॥

सू० विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ३ । ३ । ५७ ॥

(वे०पा०सौ०) विद्यभेद उक्तस्तत्रानुष्ठानविकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५७ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र विद्या नाना इत्युक्तमिदानीं तासां ब्रह्मप्राप्तिफलानामनुष्ठानप्रकारो विचार्य्यते ।

किमेता ब्रह्मप्राप्तिफलाः शाण्डिल्यविद्याभूमविद्यासद्विद्यादिकाः समुच्चयेनानुष्ठेयाः, किंवा विकल्पेन ? इति संशयः । अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिवत्समुच्चयेनानुष्ठेया इति प्राप्ते, आह—विकल्प इति । या काचिदेकैवानुष्ठेयेत्यर्थः । कुतः ? अविशिष्टफलत्वात् । सर्वासां ब्रह्मविद्यानामविशेषेण तद्भावापत्तिफलकत्वात्, एकयैव प्रयोजनसंसिद्धावितरानुष्ठाने प्रयोजनान्तराभावात्, "ब्रह्मविदाप्नोति परं, मद्भक्ता यान्ति मामपी"त्यादि-

श्रुतिस्मृतिभ्यः ॥ ५७ ॥

सू० काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ३ । ३ । ५८ ॥

(वे०पा०सौ०) ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफलानुष्ठानेऽनियमो नियमप्रयोजकपूर्वोक्तहेत्वभावात् ॥ ५८ ॥

(वे०कौ०) उक्तार्थदृढीकरणार्थं प्रत्युदाहरणसूत्रमिदम् । "स यो ह वै नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्र ! रोदं रोदिती"त्यादिकाः काम्याः ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफलाः प्रतीकोपासनास्तु यथाकामं स्वर्गादिफलप्रदकर्म्मवत् समुच्चीयेरन्, न वा समुच्चीयेरन् । कुतः ? पूर्वहेत्वभावात्, आसामविशिष्टफलत्वाभावात् । तस्माद्यथा ब्रह्मव्यतिरिक्तफलास्तदर्थिना यथाकाममनियमेनानुष्ठेयास्तद्वैपरीत्येनाविशिष्टफलत्वाद्ब्रह्मप्राप्तिफला विकल्पेन मुमुक्षुणाऽनुष्ठेया इति सिद्धम् ॥ ५८ ॥ इति विकल्पाधिकरणम् ॥ २५ ॥

(वे०पा०सौ०) बहुभिर्लिङ्गैः कर्म्माङ्गाश्रितानामुद्गीथादिविद्यानां नियमेन कर्म्मसूपादानमत्याक्षिपति—

सू० अङ्गेषु यथाश्रयभावः । ३ । ३ । ५९ ॥

उद्गीथादिष्वाश्रितानां विद्यानामुद्गीथादिवदङ्गभावः ॥ ५९ ॥

(वे०कौ०) अनन्तरं काम्यानां विद्यानां यथाकाममनुष्ठानं कर्त्तव्यमित्युक्तमिदानीं क्रत्वङ्गाश्रयाणामपि विद्यानां क्रतुषु यथाकाममुपादानं "तन्निर्द्धारणानियम" इत्यत्रोक्तमपि पुनर्दृढतया प्रतिपादयितुमङ्गवत्क्रत्वर्थतया क्रतुषु तासां नियमेनोपादानमस्तीत्याक्षिपति(१) ।

(१) चतुर्भिः सूत्रैः ।

कर्म्माङ्गेषूद्गीथादिषु या आश्रिता "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्येवमाद्या विद्यास्ताः किं कर्म्माङ्गवत्कर्म्मसु नियमेनोपादेयाः, किं वा यथाकाम?मिति संशये, कर्म्माङ्गत्वाविशेषेणेत्याह—अङ्गेष्वित्यादि। अङ्गेषु कर्म्माङ्गेषूपाश्रितानां विद्यानां कर्म्मसु यथाश्रयभावः, यथा कर्म्माङ्गानामुद्गीथादीनामङ्गत्वे तद्वद्विद्यानामित्यर्थः॥ ५९॥

सू० शिष्टेश्च ॥ ३। ३। ६०॥

(वे०पा०सौ०) "उद्गीथमुपासीते"ति शासनाच्चोपादाननियमः।६०

(वे०कौ०) "उद्गीथमुपासीते"त्युद्गीथाश्रयतया विद्याशासनाच्चोद्गीथवत्कर्म्मसु नियमेन विद्योपादानम्॥ ६०॥

सू० समाहारात्॥ ३। ३। ६१॥

(वे०पा०सौ०) "होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरती"ति प्रणवोद्गीथयोरैक्येन सम्पादनाच्च॥ ६१॥

(वे०कौ०) "होतृसदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरती"ति ऋग्वेदोक्तस्य प्रणवस्य सामवेदोक्तोद्गीथस्य च समाहाराच्च ऐक्येन सम्पादनाच्च कर्म्मसु वेदनस्य नियमेनोपादानं गम्यते। उद्गाता प्रणवस्योद्गीथस्य च समाहारमाहात्म्यात्स्वानुष्ठितमपि यथावत्स्वरादिज्ञानाभावाद् दुरुद्गीथं दुष्टमुद्गानं होतृषदनाद्धोतृकर्म्मणः शंसनादनुसमाहरतीति श्रुत्यर्थः॥ ६१॥

सू० गुणसाधारण्यश्रुतेश्च॥ ३। ३। ६२॥

(वे०पा०सौ०) "तेनेयं त्रयी वर्त्तते" इति गुणसाधारण्यश्रुतेश्च।६२।

(वे०कौ०) गुणस्य विद्याश्रयस्योङ्कारस्य "तेनेयं त्रयी वर्त्तते" इति सर्वकर्मसु साधारण्यश्रवणाच्च। तेन विद्याश्रयेणोङ्कारेणेयं त्रयी वर्त्तते, वेदत्रयीप्रोक्तं कर्म्म भवतीत्यर्थः। अङ्गव-

दङ्गाश्रयाणामुपासनानामपि कर्म्मसु नियमेनोपादानमिति भावः ६२

सू० न वा तत्सहभावाऽश्रुतेः ॥ ३ । ३ । ६३ ॥

(वे०पा०सौ०) नाङ्गाश्रितानां विद्यानामङ्गवत्क्रतुषूपादाननियमः, क्रत्वङ्गभावाश्रवणात् ॥ ६३ ॥

(वे०कौ०) अथ तत्परिहरति ।

यदुक्तमुद्गीथादिविद्यानां कर्म्माङ्गाश्रयाणामङ्गवत्कर्म्मसु नियमेनोपादानमिति । तन्न ! कुतः ? सहभावाऽश्रुतेः । यथा "ग्रहं वा गृहीत्वा चमसञ्चोन्नीय स्तोत्रमुपाकुर्य्यादि"त्यादिनाऽङ्गानां सहभावः श्रूयते, नैवं विद्यानामित्यर्थः ॥ ६३ ॥

सू० दर्शनाच्च ॥ ३ । ३ । ६४ ॥

(वे०पा०सौ०) "एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षती"ति श्रुतौ वेदनानियततादर्शनाच्च ॥ ६४ ॥

हरिरों त० श्रीभगवन्निम्बा० शा० मी० बा० वे० पा० सौ०

३ अध्याये ३ तृतीयः पादः ।

(वे०कौ०) वेदनानियततादर्शनाच्च क्रत्वङ्गाश्रयविद्यानां क्रतुषूपादानानियम एव । "एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षती"ति श्रुतिः ब्रह्मणा विदुषां सर्वेषां यज्ञयजमानादीनां रक्षणं ब्रुवती वेदनानियततां दर्शयति । तस्मात्कर्म्माङ्गाश्रितानामुद्गीथादिविद्यानां कर्म्मसु नियमेनोपादानं नास्ति, किन्तु गोदोहनादिवदिति सिद्धम् ॥ ६४ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्य्य श्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्य्येण विरचिते

शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे

तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

तृतीयाध्याये चतुर्थपादारम्भः ।

सू० पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ ३ । ४ । १ ॥

(वे०पा०सौ०) ब्रह्मप्राप्तिर्विद्यातः "ब्रह्मविदाप्नोति परमि"त्यादिशब्दादिति भगवान्बादरायणो मन्यते ॥ १ ॥

(वे०कौ०) पूर्वस्मिन्पादे विद्याभेदतन्निबन्धनगुणोपसंहारानुपसंहारादिविचारः कृतः । अथेदानीं विद्यातः पुरुषार्थः, आहोस्वित्तदङ्गात्कर्म्मणः इत्याद्यस्मिन्पादे विचार्य्यते ।

किं पुरुषार्थो विद्यातः, अथवा विद्याङ्गात्कर्म्मणः ? इति संशये, तावत्सिद्धान्तमुपक्रमते । पुरुषस्यार्थः प्रयोजनं ब्रह्मभावापत्तिः, अतो विद्यातो भवति । कुतः ? शब्दात् । "तरति शोकमात्मवित्स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, ब्रह्मविदाप्नोति परम्, सर्वाँल्लोकानाप्नोति, वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय । यथा नद्यः स्यन्यमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् । यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"त्यादेः शब्दादेवेति भगवान्बादरायणो मन्यते ॥ १ ॥

सू० शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ ३ । ४ । २ ॥

(वे०पा०सौ०) कर्म्माङ्गभूतकर्तृसंस्कारद्वारेण विद्यायाः कर्म्माङ्गत्वं, कर्तुः कर्म्मशेषत्वात्, फलश्रुतिरर्थवादः । यथा पर्णमयी द्रव्यादिष्वपापश्लोकश्रवणादिफलश्रुतिस्तद्वदिति जैमिनिर्मन्यते ॥ २ ॥

(वे०कौ०) इत्थमौपनिषदं सिद्धान्तमुपक्रम्यात्र पूर्वपक्षयति(१) ।

विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् । कुतः ? शेषत्वात् , कर्तृत्वेन वेद्यस्यात्मनः कर्म्मशेषत्वात् । कर्तुर्देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञाने सति स्वर्गाद्यर्थके कर्म्मणि प्रवृत्तिसम्भवात् । अतः कर्तृसंस्कारद्वारा विद्याया अपि कर्म्माङ्गत्वम् । "तरति शोकमात्मविद्ब्रह्मविदाप्नोति परमि"त्यादिफलश्रुतिस्तु पुरुषार्थवादोऽस्त्वर्थवादमात्रम् , यथाऽन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्म्मसु फलश्रुतिरर्थवादमात्रम् । तत्र द्रव्ये "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोती-"ति, संस्कारे(२)"यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य (३)वृङ्क्ते" इत्याद्याः, कर्म्मणि च "वर्म(४) वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते" इत्याद्याः । तदुक्तम् "द्रव्यगुणसंस्कारकर्म्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यादि"ति । तद्वदत्रापीति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ २ ॥

सू० आचारदर्शनात् ॥ ३ । ४ । ३ ॥

(वे० पा० सौ०) "जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे" इत्यादिश्रुतिभ्यो जनकादीनामाचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) ननु "नेतरोऽनुपपत्तेः,भेदव्यपदेशाच,अनुपपत्तेश्च न शारीर" इत्यादिसूत्रेभ्यः "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ,प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः, स कारणं करणाधिपाधिपः, य सर्वज्ञः सर्वविदि"त्यादिश्रुतिभ्यः, "यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथि-

(१) यज्ञमिः सूत्रैः । (२) अंजनकरणं संस्कारः ।
(३) भ्रातृ यस्य शत्रोः वृंक्ते वन्धयति । (४) कवचम् ।

तः पुरुषोत्तमः" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च जीवस्वरूपाद्भिन्नः परमात्मा वेद्यत्वेन निर्णीतः । स न कर्म्मशेषोऽतस्तद्विषयाया विद्याया न कर्म्माङ्गत्वमिति चेत् । वेदान्तवाक्योदितैरेव लिङ्गैर्वेदान्तवाक्यानि देहव्यतिरिक्तकर्तृस्वरूपयाथात्म्यपराणि तानि च लिङ्गान्युच्यन्ते ।

"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे, कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यो जनकादीनां ब्रह्मविद्यावतां विद्यया सह कर्म्माचारदर्शनात् विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥ ३ ॥

सू० तच्छ्रुतेः। ३ । ४ । ४ ॥

(वे०पा०सौ०) "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवती"ति विद्यायाः कर्म्मोपयोगित्वस्य श्रुतेः ॥ ४ ॥

(वे०कौ०) तद्विद्यायाः कर्म्माङ्गत्वं युक्तमेव । कुतः ? "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवती"ति श्रुतेः ॥ ४ ॥

सू० समन्वारम्भणात् । ३ । ४ । ५ ॥

(वे०पा०सौ०) "तं विद्याकर्म्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्म्मणोः साहित्यदर्शनाच्च ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) "तं (१) विद्याकर्म्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्म्मणोः साहित्यश्रवणादपि विद्यायाः कर्म्माङ्गत्वमवगम्यते ॥ ५ ॥

सू० तद्वतो विधानात् । ३ । ४ । ६ ॥

(वे०पा०सौ०) "आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः क-

(१) तं परलोकं गच्छन्तं विद्याकर्मणी अनुगच्छत इत्यर्थः ।

र्मातिशेषेणाभिसमावृत्य (स्वे) कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान" इति कर्म्मविधानाच्च ॥ ६ ॥

(वे०कौ०) "आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्म्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान" इति श्रुत्या तद्वतः सर्ववेदार्थज्ञानवतः कर्म्मविधानाद्विद्यायाः कर्म्माङ्गत्वम् ॥ ६ ॥

सू० नियमाच्च ॥ ३ । ४ । ७ ॥

(वे०पा०सौ०) "कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समा" इत्यादिनियमाच्च ॥ ७ ॥

(वे०कौ०) "कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥" इत्यादिनियमाच्च कर्म्मण्येव विद्याया उपयोगः ॥ ७ ॥

(वे०पा०सौ०) तत्रोच्यते—

सू० अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥३।४।८॥

जीवात्कर्तुरधिकस्य सर्वेश्वरस्य सर्वनियन्तुर्वेद्यत्वेनोपदेशात् "पुरुषार्थोऽतः" इति भगवतो बादरायणस्य मतम् । "एष सर्वेश्वरः अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वस्येशानः, तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"त्यादितद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

(वे०कौ०) इत्येवं प्राप्ते[१]समाधानमाह ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिषेधार्थः । कर्त्राख्यकर्म्मशेषसंस्कारद्वारोपनिषत्समधिगम्या विद्या कर्म्माङ्गमिति जैमिनिपक्षो न साधुः । अपि तु कर्तृजविदुक्तलक्षणादधिकस्य सर्वात्मनः स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषस्य कल्याणगुणगणनिधेः स्वाभाविकानन्त-

(१) एवं कर्म्मवादिनां पक्षे प्राप्ते सत्यां प्राह ।

शक्तेः जगत्कारणस्य प्रधानक्षेत्रज्ञपतेः सर्वेश्वरस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य विद्याया विषयतयोपदेशात् वेदान्तैर्वेद्यत्वेन निरूपितत्वात् विद्यातः पुरुषार्थ इत्येवं बादरायणस्य भगवतो मतम्। कुतः? तद्दर्शनात्। तस्य परमात्मन एव वेद्यस्य प्रतिपादकवाक्यदर्शनात्। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, अक्षरात्परतः परः, अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, यः सर्वज्ञः सर्ववित्, अनन्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ तेजोबलैश्वर्य्यमहावबोधः। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, स कारणं करणाधिपाधिपः, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः, एष सर्वेश्वरः, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय! "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" इत्यादितत्प्रतिपादकवाक्यकदम्बदर्शनादित्यर्थः ॥८॥

सू० तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ३ । ४ । ९ ॥

(वे०पा०सौ०) विद्याया अकर्म्माङ्गत्वेऽपि "किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे" इत्यादिदर्शनं तुल्यम् ॥ ९ ॥

(वे०कौ०) यत्तु विद्याया आचारदर्शनात्कर्म्माङ्गत्वमुक्तं तत्रोच्यते।

विद्यायाः कर्म्माङ्गत्वाभावेऽपि विदुषां कर्म्मानाचरणदर्शनं तुल्यम्। तथाहि "एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहुवाञ्चक्रिरे एवं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ती"ति अस्मत्पक्षे विविदिषायां फलाभिसन्धिरहितस्य कर्म्मणोऽनुष्ठानमुपपद्यते। वक्ष्यति च "सर्वापेक्षा च

यज्ञादिश्रुतेरश्ववदि"ति । उक्तञ्च भगवता "कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय" इति, "कुर्य्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहमि"ति च । विद्यायाः कर्म्माङ्गत्वपक्षे तु कर्म्मानुष्ठानश्रुतिबाध इति भावः ॥ ९ ॥

सू० असार्वत्रिकी ॥ ३ । ४ । १० ॥

(वे०पा०सौ०) "यदेव विद्यये"ति श्रुतिर्न सर्व(विद्या)विषया ॥१०॥

(वे०कौ०) यदप्युक्तं तच्छ्रुतेरिति, तत्रोच्यते ।

"यदेव विद्यया करोती"त्युद्गीथविद्यामात्रविषया श्रुतिरसार्वत्रिकी, सर्वविद्याविषया नास्ति ॥ १० ॥

सू० विभागः शतवत् । ३ । ४ । ११ ॥

(वे०पा०सौ०) "तं विद्याकर्म्मणी समन्वारभेते" इत्यत्र फलद्वयनिमित्तशतविभागवद्विभागो ज्ञेयः ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) यच्चोक्तं समन्वारम्भणादिति, तत्रोच्यते ।

"तं विद्याकर्म्मणी समन्वारभेते" इत्यत्र विभागो ज्ञेयः । विद्या स्वासाधारणफलाय तं समन्वारभते, कर्म्म च स्वासाधारणफलायेति, शतवत् । यथा प्रयोजनद्वयसिद्ध्यै शतमस्मै दीयतामित्युक्ते पञ्चाशदेकप्रयोजनार्थं पञ्चाशत्प्रयोजनान्तरार्थं विभज्य दीयते, तद्वत् ॥ ११ ॥

सू० अध्ययनमात्रवतः ॥ ३ । ४ । १२ ॥

(वे०पा०सौ०) "आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्ये"त्यत्र त्वध्ययनमात्रवतः कर्म्म विधीयते ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) यच्चोक्तं "तद्वतो विधानादि"ति तत्रोच्यते ।

"आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्ये"त्यत्र वेदाध्ययनमात्रवतः कर्म्म विधीयते, न तु विद्यावतः, यतो विद्याया कर्म्माङ्गकल्पना

स्यात्। पूर्वतन्त्राध्ययनहीनः "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इत्यध्ययनविधिना महता यत्नेन वेदे कृतश्रमोऽपि किञ्चिज्ज्ञानवानपि पूर्वतन्त्रनिर्णीतधर्म्मस्वरूपतदनुष्ठानज्ञानाभावात् तत्तन्त्रापेक्षयाऽध्ययनमात्रवान्स भवति, न तु वेदार्थवित्। वेदार्थस्तु पूर्वतन्त्रकृन्मते तत्तन्त्रविचारगम्यः। इह तु वेदाध्ययनपूर्वकपरिज्ञातधर्म्मरहस्योऽपि सामान्यतः सर्वविदपि सर्ववेदमुख्यार्थभूतब्रह्माभिधायिवेदान्तविचारहीनोऽध्ययनमात्रवानित्युच्यते। एवम्भूतस्य तस्मिन्वाक्ये कर्म्म विधीयते, नतु विदुष इति सूत्रकृतो भगवतोऽभिप्रायः॥ १२॥

सू॰ नाविशेषात्॥ ३। ४। १३॥

(वे॰पा॰सौ॰) नियमवाक्यस्यापि नियमेन विद्वद्विषयकत्वायोगात्॥ १३॥

(वे॰कौ॰) यच्चोक्तं नियमाच्चेति, तत्रोच्यते।

"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणी"त्यादिवाक्यबलाद्विद्यायाः कर्म्माङ्गत्वं न शक्यते वक्तुम्। कुतः? अविशेषात्। वाक्यस्य विद्वान् कुर्वन्निति विशेषाभावात्॥ १३॥

सू॰ स्तुतयेऽनुमतिर्वा॥ ३। ४। १४॥

(वे॰पा॰सौ॰) विद्यास्तुतये विदुषः "कुर्वन्नेवेह कर्म्माणी"ति कर्म्मानुज्ञा क्रियते॥ १४॥

(वे॰कौ॰) ननु "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनमि"ति विद्योपक्रमादिना वाक्यस्य विशेषतो विद्वत्परत्वं निश्चीयते इत्यत्राह।

विद्यास्तुतये विदुषः कर्म्मानुमतिः कर्मानुज्ञा क्रियते। यावज्जीवं कर्म्म कुर्वन्नपि कर्मभिर्विद्वान्न लिप्यते इति विद्यायाः स्तुतिर्भवति। "एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते

नरे" इति वाक्यशेषात् , "सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् । इति मां योऽभिजानाति कर्म्मभिर्न स बध्यते।।" इत्यादिश्रीमन्मुखवचनाच्च।।१४।।

सू० कामकारेण चैके ॥ ३ । ४ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक" इत्येके विदुषां स्वेच्छया गार्हस्थ्यत्यागमत एवाभिधीयते ॥ १५ ॥

(वे कौ०) एके शाखिनो विदुषां कामकारेण च स्वेच्छयैव कर्म्मसाधनभूतप्रजादित्यागमामनन्ति "एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसो प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक" इति विद्यायाः कर्म्मशेषत्वाऽभावे गार्हस्थ्यत्याग उपपद्यते, नतु कर्म्मशेषत्व इत्यर्थः ॥ १५ ॥

सू० उपमर्दञ्च ॥ ३ । ४ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) अत एव विद्यया कर्मोपमर्दञ्च "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" इत्यादिना पठन्ति ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) त्रिविधदुःखनिदानस्य सुकृतदुष्कृतरूपस्य कर्म्मणो विद्ययोपमर्दमामनन्ति च "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।"इत्यादिना, "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुने"ति श्रीमद्भगवद्वचनञ्च ॥ १६ ॥

सू० ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥ ३ । ४ । १७ ॥

(वे०पा०सौ०) ऊर्ध्वरेतस्सु आश्रमेषु विद्यादर्शनाच तस्याः स्वातन्त्र्यं निश्चीयते । ते तु "त्रयो कर्म्मस्कन्धाः" इत्यादिशब्दे दृश्यन्ते ॥ १७ ॥

(वे०कौ०) इतश्च विद्यायाः स्वातन्त्र्यम् , यतः ऊर्द्ध्वरेतस्सु

निवृत्तग्राम्यधर्म्मेषु आश्रमेषु ब्रह्मविद्या श्रूयते। कर्म्म चाग्निहोत्रादि तेषु न श्रूयते। ननु "यावज्जीवमि"त्यादिनाऽग्निहोत्रादिकर्म्माधिकारः श्रूयते, तद्वद्वेदे ऊर्ध्वरेतस आश्रमा न श्रूयन्ते, इत्यत्रोच्यते शब्दे हीति। ते चाश्रमाः शब्दे वेदे श्रूयन्ते "त्रयो धर्मस्कन्धाः ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते, एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ती"त्यादौ। अतस्ते सन्त्येव। "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती"ति श्रुतिस्तु अविरक्तविषया ॥१७॥

सू० परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ॥ ३ । ४ । १८ ॥

(वे०पा०सौ०) "त्रयो धर्म्मस्कन्धा" इत्यादौ तेषामाश्रमाणामनुवादमात्रं विधायकशब्दाभावात्। "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" इत्याश्रमान्तरापवादश्रवणाच्चाश्रमान्तरमननुष्ठेयमिति जैमिनिः॥१८॥

(वे०कौ०) यदुक्तं ते आश्रमाः शब्दे श्रूयन्ते अतस्ते सन्तीति, तन्नोपपद्यते, यतः "त्रयो धर्म्मस्कन्धा" इत्यादौ वैदिके शब्दे तेषां स्मृतिप्रसिद्धानामाश्रमाणां सामोपासनविधिप्रकरणे विलायमाने ततोऽपकृष्य प्रकृतस्य स्वतन्त्रस्य प्रणवेन ब्रह्मोपासनस्य स्तुत्यर्थं परामर्शमनुवादमात्रं क्रियते, न तु ते विधीयन्ते। कुतः? अचोदनात् विधायकशब्दाभावात्, "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते, आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीर्नापुत्रस्य लोकोऽस्ती"त्यादिका श्रुतिराश्रमान्तरमपवदति च, तस्माद्गृहाश्रमोऽनुष्ठेयः आश्रमान्तरमप्यननुष्ठेयमिति जैमिनिराचार्य्यो मन्यते ॥ १८ ॥

सू० अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ ३ । ४ । १९ ॥

(वे०पा०सौ०) गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्यानुवादवाक्ये तुल्यत्वश्रवणा-

तदनुष्ठेयमिति भगवान् बादरायणो मन्यते ॥ १९ ॥

(वे०कौ०) आश्रमान्तरमप्यनुष्ठेयमिति भगवान् बादरायणो मन्यते । कुतः ? साम्यश्रुतेः गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य साम्यश्रवणात् । तथा हि "त्रयो धर्म्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति, प्रथमस्तप एव द्वितीयः ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीय" इत्यत्र सर्वेषामाश्रमिणां ग्रहणं समानम् । तत्र यज्ञाध्ययनादिशब्दैर्गृहस्थाश्रमो दर्शितः । ब्रह्मचार्य्याश्रमस्य तच्छब्देनानुवादः । तपःशब्देन वानप्रस्थसंन्यासाख्ययोराश्रमयोरनुवादः । ते च सर्वे आश्रमिणो बुभुक्षवश्चेत्केवलस्वाश्रमकर्म्मनिष्ठाः सन्तः पुनरावृत्तिलोकभाजो भवन्ति, "सर्वे एते पुण्यलोकाः भवन्ती"-तिश्रुतेः । तत्र कश्चिद्भगवत्तत्त्वविन्मुमुक्षुर्भगकृपापात्रस्तच्चिह्नस्तद्भावं प्राप्नोतीत्येतद्बोधयति "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती"ति वाक्यशेषः । "मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः । आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ! । मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥" इति भगवद्वचनात् ॥ १९ ॥

सू० विधिर्वा धारणवत् ॥ ३ । ४ । २० ॥

(वे०पा०सौ०) विधिरेवास्ति, यथादिष्टाग्निहोत्रे श्रूयते "अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि देवेभ्यो धारयती"ति वाक्ये मित्त्वोपरिधारणमपूर्वत्वाद्विधीयते, तद्वत् ॥ २० ॥

(वे०कौ०) एवमनुवादपक्षेऽप्याश्रमान्तरसद्भावमुक्त्वाऽस्मिन्वाक्ये तेषां विधिरेव नानुवाद इत्याह ।

वेत्यवधारणे । उक्तवाक्ये आश्रमाणां विधिरेव । ननु वाक्यभेदः प्रसज्येत एकस्मिन्वाक्येऽनेकाश्रमविधिस्वीकारादित्याशङ्क्याह—धारणवदिति । यथादिष्टाङ्गताग्निहोत्रे श्रूयते

"अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयती"त्यत्र स्रुग्दण्डादधस्तात्समिद्धारणेन सहैकवाक्यताप्रतीतावपि तां भित्त्वा स्रुचिस्थहविरुपरि समिद्धारणमपूर्वत्वाद्विधीयते, तथेहापि । तदुक्तं शेषलक्षणे "विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वादि"ति । यद्यपि "ब्रह्मचर्य्यं समाप्य गृही भवेद्गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत्त-दहरेव प्रव्रजेदि"ति जाबालश्रुतिप्रसिद्धाश्रमविधिरस्ति । तथापि तं विनैवान्यवाक्येष्वपि भगवताश्रमप्राप्तिर्दर्शितेति ज्ञेयम् । [१]"वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीर्नापुत्रस्य लोकोऽस्ती"त्या-दीनि वाक्यानि मुमुक्षुजनविषयाणि । तस्माद्विद्यातः पुरुषार्थ इति सिद्धम् ॥ २० ॥ इति पुरुषार्थाधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥
३ । ४ । २१ ॥

(वे०पा०सौ०) "स एष रसानां रसतम" इत्यादिकर्म्माङ्गोद्गी-थादिस्तुतिमात्रं तत्सम्बन्धितया रसतमत्वादेरुपादानादिति चेन्न । अपू-र्वत्वादुद्गीथादिषु रसतमत्वादिदृष्टिविधानम् ॥ २१ ॥

(वे०कौ०) अथ इत्यादौ गृहस्थाश्रमेणाश्रमान्तरस्य तुल्यत्व-श्रवणादनुष्ठेयत्वं पूर्वत्रोपपादितं तद्वज्जुहूरादित्यादिवाक्येन क-र्म्माङ्गान्वयिना रसतमत्वादिवाक्यजातस्य साम्यात्कर्माङ्गान्वयि-त्वमित्याशङ्क्येदानीं समाधत्ते ।

उद्गीथादिविद्यासु "स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽ-ष्टमो य उद्गीथ इयमेवर्गग्निः साम अयं वाव लोकः एषोऽग्निश्चि-तस्तदिदमेवोक्थमि"त्यादि श्रूयते । तत्र संशयः किं रसतमत्वा-

(१) तस्य वीराः पुत्रा म्रियन्ते । (वीरहा-पुत्रहा)

दिवाक्यानां क्रत्वङ्गभूतोद्गीथादिस्तुतिमात्रपरत्वम्, उतोद्गीथादिषु रसतमत्वादिदृष्टिविधायकत्वम् ? इति । तत्र पूर्वपक्षयति स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेदिति । स्तुतिमात्रपरत्वम् । कुतः ? उपादानात् "इयमेव जुहूरादित्यः कूर्म्मः स्वर्गलोक आहवनीय" इत्यादिकर्म्माङ्गस्तुत्या रसतमत्वादिवाक्यजातस्य तुल्यतया कर्म्माङ्गभूतोद्गीथादेरस्तुतिपरत्वेनोपादानादित्यर्थः । अत्रोच्यते–नेति । नैवं वक्तव्यम् । कुतः ? अपूर्वत्वात् । उद्गीथादीनां रसतमादितया मानान्तरेणाप्राप्तत्वात् । उद्गीथादिषु रसतमत्वादिदृष्टिविधायकत्वमेव इष्टिविधिरेव, स्वप्रदेशे वाक्यार्थसम्भवे प्रदेशान्तरविहितोद्गीथादिस्तुतिपरत्वस्यान्याय्यत्वात् ॥ २१ ॥

सू० भावशब्दाच्च ॥ ३ । ४ । २२ ॥

(वे०पा०सौ०) "उद्गीथमुपासीते"त्यादिविधिशब्दाच्च ॥ २२ ॥

(वे०कौ०) "उद्गीथमुपासीत सामोपासीते"त्यादिविधिशब्दाचोदाहृतवाक्यानामुद्गीथादिषु रसतमत्वादिदृष्टिविधायकत्वमिति सिद्धम् ॥ २२ ॥ इति स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ ३ । ४ । २३ ॥

(वे०पा०सौ०) वेदान्तेष्वाख्यानश्रुतयः पारिप्लवार्था इति न मन्तव्यम् । "पारिप्लवमाचक्षीते"त्युक्त्वा "मनुर्वैवस्वतो राजे"त्यादिना कासाञ्चिद्विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

(वे०कौ०) रसतमत्वादेरन्यपरत्वमाशङ्क्य विद्यायामन्वयो दर्शितः, तद्वदिदानीमाख्यानविशेषवाक्यानामन्यविषयत्वमाशङ्क्य विद्यायामन्वयं दर्शयति ।

"प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम । जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस श्वेतकेतुर्हारुणेय आस । अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्य्ये बभूवतुर्मैत्रेयी

च कात्यायनी चे"त्यादयस्तत्र तत्र वेदान्तेषु बह्व्यः आख्यानश्रुतयः सन्ति । तत्र संशयः किं ताः पारिप्लवार्थाः, आहोस्विद्विद्याविध्यर्थाः? किं तावद्युक्तम्? पारिप्लवार्था इति चेन्न । कुतः? विशेषितत्वात् । "पारिप्लवमाचक्षीते"त्युक्त्वा तत्रैव "मनुर्वैवस्वतो राजे"त्यादिना कासाञ्चिच्छ्रुतीनामेव पारिप्लवपरतया विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

सू० तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ ३ । ४ । २४ ॥

(वे०पा०सौ०) एवं सति "अन्यासां द्रष्टव्यः" इत्यादिविध्येकवाक्यतयोपबन्धात्ता विद्यार्थाः ॥ २४ ॥

(वे०कौ०) तथा च कासाञ्चिदेव पारिप्लवपरत्वादन्यासामाख्यानश्रुतीनां पारिप्लवपरत्वाभावे सति तासामाख्यानश्रुतीनां विद्याविध्यर्थत्वम् । तासाम् "आत्मा वाऽरे ! द्रष्टव्य" इत्यादिविध्येकवाक्यतयोपबन्धात्सम्बन्धात् । तस्मादाख्यानश्रुतयो विद्याविध्यर्था इति सिद्धम् ॥ २४ ॥ इति पारिप्लवाधिकरणम् ॥ ३ ॥

सू० अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ ३ । ४ । २५ ॥

(वे०पा०सौ०) "ब्रह्मनिष्ठोऽमृतत्वमेति" इत्यादिश्रुतेरूर्ध्वरेतस्सु अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा विद्याऽस्ति ॥ २५ ॥

(वे०कौ०) उर्द्ध्वरेतस आश्रमाः श्रौताः सन्तीति पूर्वत्रोक्तम्, तदनन्तरं प्रदर्शितसङ्गतिवशादर्थद्वयं चिन्तितमिदानीं तेषु विद्याऽङ्गभूतयज्ञादिकर्म्माभावात्प्रधानभूता विद्याऽपि सम्भवति, न वेति संशये, न सम्भवति, यज्ञादिविद्यावद्गृहस्थाश्रमे तु सम्भवतीति प्राप्ते सिद्धान्तमाह ।

यतो "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि । एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति, ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते" इत्यादिश्रु-

तिभिस्तेषां विद्यावत्त्वमवगम्यते, अत एव च तेष्वग्न्यन्धिनाद्यनपेक्षा अग्न्याधानसाध्यकर्म्मानपेक्षा पुरुषोत्तमश्रवणमननध्यानाद्यविरोधिस्वाश्रमकर्म्मालङ्कृता विद्येति निर्श्चीयते। गार्हस्थ्ये प्रत्यहं लौकिकवैदिकदुर्निवार्य्यकर्म्मबाहुल्येन परमपुरुषार्थसाधनभूतविद्यापौष्कल्यासम्भवात्तदर्थो बुद्धिपूर्वको गार्हस्थ्यत्यागः शास्त्रादेव गम्यते। तस्मादूर्द्ध्वरेतस्सु विद्या सुतरां सम्भवत्येवेति सिद्धम् ॥२५॥

इत्यग्नीन्धनाधिकरणम् ॥ ४ ॥

सू० सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ ३ । ४ । २६ ॥

(वे०पा०सौ०) "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" त्यादिश्रुतेर्गमनेऽश्ववद्विद्या स्वोत्पत्तौ साधनभूतानि सर्वाणि कर्म्माण्यपेक्षते ॥ २६ ॥

(वे०कौ०) विद्यायाः परमपुरुषार्थसाधनत्वे निरूपिते तत्र कर्म्मत्यागमाशङ्क्येदानीं तेषां विविदिषायां विनियोगं दर्शयति।

विद्यैव परमपुरुषार्थश्चेत्तर्हि सा सर्वथा सर्वाश्रमकर्म्मनिरपेक्षा, उत सर्वापेक्षा ? इति संशये, तयैवेष्टसिद्धौ किं कर्म्मभिरतः सर्वानपेक्षेति प्राप्ते, उच्यते—सर्वापेक्षेति । सर्वेषु मुमुक्षुभिर्विद्यार्थिभिरनुष्ठीयमानेषु अङ्गभूतेष्वाश्रमकर्म्मसु जायमानत्वाऽपेक्षा यस्याः सा, यद्वा स्वोत्पत्तौ सर्वाण्याश्रमकर्म्माण्यपेक्षते इति सर्वापेक्षा। उत्पन्ना सती तु पुरुषार्थसिद्धौ निरपेक्षा। कुतः? "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने"ति यज्ञादिश्रुतेः । यज्ञादिभिर्विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्तीति विग्रहः। अत्र प्रत्ययार्थप्राधान्याङ्गीकारे इच्छाद्वारा यज्ञादयो ज्ञानाङ्गतया विनियुज्यन्ते । प्रकृत्यर्थप्राधान्याङ्गीकारे यज्ञादीनामिष्यमाणज्ञानाङ्गत्वं साक्षात्प्राप्नोतीति बोध्यम्। तत्र दृष्टान्तः अश्ववदिति। अश्वो हीप्सिततमदेशगमनसिद्ध्यै-

ऽपेक्ष्यते सिद्धे, गमने नापेक्ष्यते, तद्वत् । उक्तञ्च श्रीभगवता "यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् । यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥" इति । तथा च स्वाश्रमविहितैर्नित्यैर्नैमित्तिकैश्चानुष्ठितैः श्रीवासुदेवाभ्यर्चनौपयिकैः कर्म्मभिः शास्त्राचार्य्यानुग्रहादुपासनध्यानपराभक्तिध्रुवास्मृत्याद्याकारं सर्वाशुभघ्नं परब्रह्मादिशब्दाभिधेयपुरुषोत्तमभावापत्त्यसाधारणकारणं तत्कृपाबललभ्यं ज्ञानं जायते इति सिद्धम् ॥२६॥

इति सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू० शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ ३ । ४ । २७ ॥

(वे०पा०सौ०) ब्रह्मजिज्ञासुर्विद्याङ्गभूतस्वाश्रकर्म्मणा विद्यानिष्पत्तिसम्भवेऽपि शमदमाद्युपेतः स्यात्, "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येदि"ति विद्याऽङ्गतया शमादिविधिस्तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥

(वे०कौ०) एवं विद्योत्पत्तौ बहिरङ्गसाधनं निरूप्येदानीमन्तरङ्गसाधनं निरूपयति ।

ब्रह्मविद्यार्थी विद्योदयाय शमाद्युपेतः स्यात्, उत नेति ? संशये, शमादीनां विद्योत्पत्त्युत्तरकालवर्त्तित्वेन विद्याङ्गत्वाभावात् "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती"त्यादिश्रुत्युक्तैः कर्म्मभिरेव विद्योदयसम्भवाच्च ब्रह्मविद्यार्थिनां न शमाद्युपेतत्वं युक्तमिति प्राप्ते, उच्यते । तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः। ब्रह्मविद्यार्थिनो यद्यपि कर्म्मभिरन्तःकरणशुद्धिद्वारा विद्या स्यात्तथाऽपि स शमदमाद्युपेतः स्यात् । कस्मात् ? तदङ्गतया तद्विधेः विद्याऽङ्गतया शमादीनां विधानात् । "तस्मादेवंविच्छा-

न्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्ये-दि"ति विहितानाञ्च तेषां विद्योदयायावश्यानुष्ठेयत्वात् । शमा-दिभिरैकाग्र्यं भवति "धर्म्मेण पापमपनुदती"ति श्रुतेः । कर्म्म-भिश्च पापनिर्हरणद्वारा चैकाग्र्यं भवति, ततो विद्योदयः, ततस्तु पूर्वाभ्यासाद्वैपरीत्यस्यानिष्टत्वाच्च शमादीनां महोदयः । तस्मा-च्छमाद्युपेतः स्यादिति सिद्धम् ॥२७॥ इति शमदमाद्यधिकरणम्॥६॥

सू० सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ ३ । ४ । २८ ॥

(वे०पा०सौ०) "न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवती"ति सर्वान्नानुज्ञानं प्राणात्ययापत्तावेव प्राणात्यये चाक्रायणो हीभ्योच्छिष्टं भ-क्षणं कृतवान्, तस्य श्रुतौ दर्शनात् ॥ २८ ॥

(वे०कौ०) शमादीनां विद्याऽङ्गत्वमुक्तमिदानीं तद्वत्सर्वा-न्नभक्षणमपि विद्याऽङ्गमित्याशङ्कां निराचिकीर्षुः प्राणात्ययविषयं तदित्याह ।

बृहदारण्यके "न ह वाऽस्यानन्नं जग्धं भवती"ति, छान्दोग्ये च "न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवती"ति श्रूयते । तत्र संशयः किमिदं प्राणविदः सर्वान्नभक्षणं शमादिवत् प्राणविद्याऽ-ङ्गतया स्वस्थावस्थायाम्, उत प्राणात्यये? । किं तावदुक्तम्? स्व-स्थावस्थायामिति प्राप्ते, उच्यते प्राणात्यये एव सर्वान्नानुमतिः । कुतः? तद्दर्शनात् । अयुक्तान्नभक्षणस्य प्राणात्ययापत्तावेव "म-टचीहतेषु कुरुष्वि"ति ब्राह्मणे दर्शनात् । मटचीसञ्ज्ञकजन्तुविशे-षैः सर्वान्नभक्षणेन कुरुषु दुर्भिक्षे जाते क्षुत्परीतो मुनिश्चाक्रायणो हस्तिपोच्छिष्टभक्षणं कृतवान् । तस्मात्प्राणविदोऽपि प्राणात्यये एव सर्वान्नभक्षणं सह्यीत्येतं, इत्यवगम्यते ॥ २८ ॥

सू० अबाधाच्च ॥ ३ । ४ । २९ ॥

(वे०पा०सौ०) "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरि"त्यस्याबाधाच्च ॥२९॥

(वे०कौ०) "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिरि"ति विद्योत्पत्त्यर्थमाहारशुद्धिविधानं, तस्याबाधादपि प्राणात्यय एव सर्वान्नानुमतिरिति निश्चीयते ॥ २९ ॥

सू० अपि च स्मर्य्यते ॥ ३ । ४ । ३० ॥

(वे०पा०सौ०) "जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसे"ति स्मर्य्यते च ॥ ३० ॥

(वे०कौ०) अपि च प्राणात्ययेविदुषोऽविदुषश्च यतस्ततोऽन्नभक्षणं स्मर्य्यते "जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसे"ति ॥ ३० ॥

सू० शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३ । ४ ॥ ३१ ॥

(वे०पा०सौ०) अत एव "तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेदि"ति शब्दो यथेष्टाचारनिवृत्तौ वर्त्तते ॥ ३१ ॥

(वे०कौ०) यतः प्राणात्ययापत्तावेव विदुषोऽविदुषश्च सर्वान्नानुमतिरतोऽकामकारे च स्वच्छन्दाचारविपर्य्यये "तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेदि"ति कठानां शब्द उपपद्यते । प्राणोपासकस्य सर्वान्नानुज्ञानमापद्विषयं भवति । अनापद्विषयमिव तच्छ्रवणं तु तद्विद्यास्तुत्यर्थं, नतु शमादिवत् प्राणविद्याऽङ्गतया विधीयते इति फलितार्थः । तस्मात्सर्वान्नभक्षणमापद्विषयमिति सिद्धम् ॥ ३१ ॥ इति सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

सू० विहितत्वाच्चाश्रमकर्म्मापि ॥ ३ । ४ । ३२ ॥

(वे०पा०सौ०) यद्विद्याऽङ्गं यज्ञादि तद्वदमुमुक्षुणा चाश्रमकर्म्मत्वेनाप्यनुष्ठेयं "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती"ति विहितत्वात् ॥ ३२ ॥

(वे०कौ०) "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरि"त्यत्र यज्ञादीनां कर्म्मणां ब्रह्मविद्याऽङ्गत्वमुक्तम्, तत उक्तसङ्गतिद्वयेनार्थद्वयं चि-

न्तितमिदानीमभ्युदयार्थं यज्ञादिकर्म्माण्यमुमुक्षुणाऽऽश्रमिणा-प्यनुष्ठेयानि न वा इति चिन्त्यते ।

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेने"त्यादि-श्रुत्युक्तं कर्म्म पूर्वत्रापवर्गसाधनाङ्गतयाऽभिमतं, तदनपवर्गार्थिनः केवलाश्रमिणः प्राप्नोति,न वा ? इति संशये, पूर्वः पक्षः यज्ञा-देर्विद्याऽङ्गतया प्राप्तविषयस्य केवलाश्रमकर्म्मत्वकल्पनाऽसम्भवान्न प्राप्नोतीति । तत्रोच्यते आश्रमकर्म्मापीति । यद्विद्याऽङ्गतया श्रु-त्योक्तं यज्ञदानादि कर्म्म तदाश्रमकर्म्मापि भवति । अमुमुक्षुणा चाश्रमकर्म्मत्वेनाप्यनुष्ठेयम् । कुतः ? विहितत्वात् । "यावज्जीव-मग्निहोत्रं जुहोती"त्यादिना नित्यकर्त्तव्यतया केवलाश्रमकर्म्मत्वेने विहितत्वात् । तदमुमुक्षोः केवलाश्रमिणोऽपि प्राप्नोतीत्यर्थः ॥३२॥

सू० सहकारित्वेन च ॥ ३ । ४ । ३३ ॥

(वे०पा०सौ०) विद्यासहकारित्वेनापि "विविदिषन्ति यज्ञेने"त्या-दिना यज्ञादेर्विहितत्वान्मुमुक्षुणामप्यनुष्ठेयं संयोगपृथक्त्वेनोभयार्थत्वस-म्भवात् ॥ ३३ ॥

(वे०कौ०) एवञ्चेत्तर्हि विद्याऽङ्गत्वं यज्ञादेर्न स्यादित्यत्राह ।

"तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेने"त्यादिना विद्योत्प-त्तिद्वारा विद्यासहकारित्वेन च यज्ञादेर्विहितत्वाच्च मुमुक्षुणाऽपि यज्ञादिकर्म्मानुष्ठेयमेव । नन्वेकस्य कर्म्मण आश्रमार्थ-त्वं विद्यार्थत्वञ्च न युक्तमिति चेन्न । कर्म्माभेदेऽपि विनियोग-भेदात् , "एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमि"ति न्यायात् । य-थैकस्य खादिरत्वस्य "खादिरो यूपो भवती"ति क्रत्वर्थो विनि-योगः "खादिरं वीर्य्यकामस्ये"ति पुरुषार्थार्थो विनियोगस्तद्वत् ३३

सू० सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३ । ४ । ३४ ॥

(वे०पा०सौ०) उभयार्थतया त एव यज्ञादयो बोध्याः, उभयत्रैक-

रूपकर्म्मप्रत्यभिज्ञानात् ॥ ३४ ॥

(वे०कौ०) कर्म्माभेदमुपपादयति ।

सर्वथाश्रमकर्म्मतया विद्यार्थतया चोपदिश्यमानास्त एव यज्ञादयो बोद्धव्याः । कुतः ? उभयलिङ्गात् । उभयत्रैकरूपकर्म्मप्रत्यभिज्ञानाल्लिङ्गात् । यज्ञादयः प्रत्येकमेकैकरूपा एवाश्रमकर्म्मतया विद्याऽङ्गतया चोभयत्र तत्तच्छब्दैरुपदिश्यन्त इत्यर्थः॥३४॥

सू० अनभिभवञ्च दर्शयति ॥ ३ । ४ । ३५ ॥

(वे०पा०सौ०) "धर्म्मेण पापमपनुदती"तिश्रुतिप्रसिद्धैर्यज्ञादिभिरेव विद्याभिभवहेतुभूतपापापनयनेन विद्याया अनभिभवं दर्शयति ॥३५॥

(वे०कौ०) "शमादिभिरेष आत्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दत" इत्यादिश्रुतिर्ब्रह्मचर्य्यादिनाऽऽश्रमकर्म्मणाऽऽत्मज्ञानानभिभवं दर्शयति । आत्मा न नश्यति न विस्मृतो भवतीत्यर्थः । केवलाश्रमधर्म्मत्वेनानुष्ठिता यज्ञादयः स्वर्गादिप्रापका भवन्ति, त एव विद्याऽङ्गतयाऽनुष्ठिता विद्यामुत्पादयन्ति । अतो विनियोगभेदो, न तु कर्म्मभेदः । तस्मात्त एव मुमुक्षूणाममुमुक्षूणाञ्चानुष्ठेया इति सिद्धम् ॥३५॥ इति विहितत्वाधिकरणम् ॥८॥

सू० अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३ । ४ । ३६ ॥

(वे०पा०सौ०) आश्रममन्तरा वर्त्तमानानामपि विद्याऽधिकारोऽस्ति, रैक्वादेर्विद्यानिष्ठत्वस्य दर्शनात् ॥ ३६ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्राश्रमिणां विद्याऽधिकारस्तत्कृतकर्म्मणाञ्च विद्याऽङ्गत्वमित्युक्तमिदानीं येऽन्तराले वर्त्तमानास्तेषां विद्यायामधिकारस्तत्कृतकर्म्मणां विद्याऽङ्गत्वसिद्धये विचार्य्यते ।

आश्रममन्तरा वर्त्तमाना ये विधुरादयस्तेषां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति, न वेति संशयः। ब्रह्मविद्याया उत्पत्तावाश्रमकर्म्मापेक्षाऽस्ति, तेषामाश्रमकर्म्माभावान्नास्तीति पूर्वः पक्षः ।

तत्रोच्यते अन्तरा आश्रममन्तरा वर्त्तमानानामपि ब्रह्मविद्याया-मधिकारोऽस्ति । कुतः ? तद्दृष्टेः । तस्य ब्रह्मविद्याऽधिकार-स्यानाश्रमिणां रैकसम्वर्तादीनां श्रुतौ स्मृतौ च तद्दर्शनात् । रैक-ब्रह्मविद्याऽधिकारबोधिनी श्रुतिः प्रथमाध्याये उदाहृता । सम्व-र्त्तस्याङ्गिरसः पुत्रस्य कथाविस्तारो महाभारते आश्वमेधिके "रा-जन्नङ्गिरसः पुत्रः सम्वर्त्तो नाम धार्म्मिकः । चङ्क्रमीति दिशः सर्वा दिग्वासा मोहयन्प्रजा" इत्यादिना द्रष्टव्यः । अयमभिप्रा-यः । "तमेतमि"त्यादि श्रुत्युक्ता विद्यासहकारिणो यज्ञादयो ध-र्म्मा ये ते हि मुमुक्षुगृहस्थानुरूपा अग्निहोत्रादयो यज्ञादिशब्दा-र्थो विद्योत्पादका धर्मा बोध्याः । ऊर्ध्वरेतसामाश्रमिणां यथा-श्रममग्निहोत्रादिव्यतिरिक्ता धर्म्मा बोध्याः । एवमनाश्रमिणामपि आश्रमा नियता जपोपवासदेवताऽऽराधनादयो बोध्या इति ॥३६॥

सू० अपि च स्मर्य्यते ॥ ३ । ४ । ३७ ॥

(वे०पा०सौ०) "जप्येनैव तु संसिद्धयेद् ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥" इति तेषामपि जपादीनां विद्यानुग्रहः स्मर्य्यते ॥ ३७ ॥

(वे०कौ०) "जप्येनैव तु संसिद्धयेद् ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥" इति जपादिभिरे-वानाश्रमिणामपि सिद्धत्वं स्मर्य्यते । जपादिभिरन्तःकरणशुद्धौ सत्यां विद्योदयोऽतस्तेऽपि सिद्धार्था भवन्तीति भावः ॥ ३७ ॥

सू० विशेषानुग्रहश्च ॥ ३ । ४ । ३८ ॥

(वे०पा०सौ०) जन्मान्तरीयेणापि साधनविशेषेण विद्यानुग्रहः । स्मर्य्यते च "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमि"ति ॥ ३८ ॥

(वे०कौ०) अनेकजन्मकृतैः कर्म्मविशेषैर्विद्याऽनुग्रहः । स्म-र्य्यते च "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" इति। येषु

विद्या दृश्यते यथोक्ताश्रमकर्म्माणि विद्याङ्गानि न दृश्यन्ते, तेषु पूर्वजन्मानुष्ठितान्याश्रमकर्म्माण्यनुमेयानीति भावः ॥ ३८ ॥

सू० अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गात् ॥ ३ । ४ । ३९ ॥

(वे०पा०सौ०) (१)अन्तरालवर्त्तित्वादाश्रमवर्त्तित्वं ज्यायः, "अनाश्रमी न तिष्ठेते"तिलिङ्गाच ॥ ३९ ॥

(वे०कौ०) अतोऽन्तरालवर्त्तित्वात्तु इतरदाश्रमवर्त्तित्वं बहुविद्यासाधनसम्पत्त्या ज्यायः, अल्पकालेन विद्योत्पादकम् । कुतः? लिङ्गात् । "तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्चे"तिश्रुतिर्देवयानेन पथा गमनमाश्रमिणां दर्शयति । ब्रह्मवित्पुण्यकृत्स्वाश्रमकर्म्मकृतेन कर्म्मणैधितेन ज्ञानेन देवयानद्वारा ब्रह्मैतीति श्रुत्यर्थः । एवम्भूतात् पुण्यकृदिति श्रौताल्लिङ्गात् । ते च पञ्चाग्निविद्यायां "ये चेमेऽरण्ये" इति अरण्यवासिनां निर्देशाच्चत्वार आश्रमाः । "अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः । सम्वत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रं समाचरेत् । वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् । तोष्यते खलु विश्वात्मा नान्यत्तत्तोषकारणम् ॥"इत्यादिस्मृतिलिङ्गाच । दैवादाश्रमप्रतिपत्त्यसम्भवे जपोपवासदानदेवताराधनाहिंसासन्तोषार्ज्जवमहत्सङ्गादिभिरपवर्गं तु साधयेदेव । तथाह याज्ञवल्क्यः "नाश्रमः कारणं धर्म्मे क्रियमाणो भवेद्द्विजः । अतो यदात्मनोऽपथ्यं परस्य न तदाचरेत् ॥" इतिहासे च "विद्यावृत्तिविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च । आर्ज्जवे वर्त्तमानस्य ह्याश्रमैः किं प्रयोजनमि"ति । अत एवाश्रमालिङ्गाभावेऽपि धर्म्ममाचरेदित्युक्तं महाभारते "दूषितोऽपि चरेद्धर्म्मं न लिङ्गं धर्म्मकारणमि"ति । तस्मादाश्रमवर्त्तित्वस्य ज्यायस्त्वेऽप्यकृतदारमृतदारादीनामनाश्रमिणामपि जपादिभिर्विद्याऽनुग्रहः इति सिद्धम् ॥ ३९ ॥ इति विधुराधिकरणम् ॥ ९ ॥

---

(१) अन्तरालवर्त्तित्वादाश्रमानन्तरत्वं ज्यायः इत्यपि पाठः ।

सू० तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि
नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः ॥ ३ । ४ । ४० ॥

(वे०पा०सौ०) प्राप्तोर्ध्वरेतोभावस्याभावस्तु नोपपद्यते, इति जैमिनेरपि सम्मतं वचनाभावान्निमित्ताभावाच्छिष्टाचाराभावाच्च ॥ ४०॥

(वे०कौ०) इदानीं नैष्ठिकाद्याश्रमेभ्यः प्रच्युतानामपि विद्याऽधिकारोऽस्ति न वेति चिन्त्यते।

सन्त्यूर्द्ध्वरेतस आश्रमा इति प्रागुपपादितम्, तेभ्यो विभ्रष्टानां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति, न वेति सन्देहः। विधुरादीनामिव जपादिभिरस्तीति प्राप्ते, उच्यते। तुशब्दः पक्षनिषेधार्थः। तद्भूतस्य परमफलकत्वेन प्राप्तस्योर्द्ध्वरेतोभावस्य अतद्भावः प्रच्युतिर्न भवतीति जैमिनेरपि च सम्मतम्। जैमिनिसम्मतत्वेन स्वमतस्य दार्ढ्यमुपपादितमित्यपिशब्दः सूचयति। अतः कारणादूर्द्ध्वरेतसां नैष्ठिकवैखानसपरिव्राजकानां विधुरादीनामिवानाश्रमित्वेनावस्थानासम्भवात्तेषां ब्रह्मविद्यायामधिकारः सङ्गच्छत इत्यर्थः। प्रच्युतिर्न सम्भवतीत्यत्र हेतुनाह—नियमात्तद्रूपाभावेभ्य इति। "ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन्नि"ति "अरण्यमीयान्न ततः पुनरेयादिति "संन्यस्याग्निं न पुनरावर्त्तयेदि"ति चाश्रमाप्रच्युतिनियमात्। तच्छब्दोऽतद्भावपरामर्शपरः। तस्यातद्भावस्याश्रमप्रच्युतेः रूपाणि शब्दरूपाणि तानि तद्रूपाणि आश्रमप्रच्युतिबोधकानि वाक्यानीत्यर्थः, तेषामभावस्तद्रूपाभावस्तस्मात्। अनाश्रमनिष्ठापादकानि वाक्यानि न सन्त्यर्थः। बहुवचनेनान्येऽभावा गृह्यन्ते। तथाहि "ब्रह्मचर्य्यं समाप्य गृही भवेद्गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा परिव्रजेदि"त्यारोहणबोधकवाक्यवदवरोहणबोधकवाक्याभावात्, प्रच्युतिनिमित्ताभावाच्च, शिष्टाचारा-

भावाच्च ॥ ४० ॥

सू॰ न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात्
॥ ३ । ४ । ४१ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) अधिकारलक्षणे निर्णीतं प्रायश्चित्तं नैष्ठिकस्य न सम्भवति, तस्य तदयोगात् "आरूढो नैष्ठिकं धर्म्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महे"ति स्मृतेः ॥ ४१ ॥

(वे॰कौ॰) ननु प्रतिपन्नाश्रमप्रच्युतौ प्रमादो निमित्तमस्तु, पतितस्य च प्रायश्चित्तं पुनर्विद्याऽधिकारे हेतुरस्त्विति चेन्नेत्याह ।

"ब्रह्मचार्य्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेते"ति प्रायश्चित्तं श्रुतं तदधिकारलक्षणे षष्ठेऽध्याये । "अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्" ६।८।२२। इत्यत्र निर्णीतं, तदाधिकारिकमित्युच्यते । तन्नैष्ठिकधर्म्मच्युतानां न सम्भवति । कुतः ? पतनानुमानात्तदयोगात्, दुर्निवार्य्यपातित्यबोधकस्मृतेः, तेषां प्रायश्चित्तायोगात् । स्मृतिस्तु "आरूढो नैष्ठिकं धर्म्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महे"ति । अपिशब्दः प्रायश्चित्तमुपकुर्वाणविषयमिति द्योतयति ॥ ४१ ॥

सू॰ उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ३ । ४ । ४२ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) एके तु नैष्ठिकस्य ब्रह्मचर्य्यच्यवनमुपपातकमतस्तत्र प्रायश्चित्तं मन्यन्ते, उपकुर्वाणवत्तस्य ब्रह्मचारित्वाविशेषात् मध्वशनादिवत्, तदुक्तम् "उत्तरेषामविरोधी"ति ॥ ४२ ॥

(वे॰कौ॰) उपपूर्वं नैष्ठिकादीनां स्त्रीगमनादिना ब्रह्मचर्य्यप्रच्यवनमुपपदपूर्वमुपपातकमित्यर्थः । दुर्निवार्य्यं महापातकं नास्ति । अपिशब्दो हेत्वर्थः । अतस्तेषामपि ब्रह्मचारित्वाविशेषादुपकुर्वाणानामिव प्रायश्चित्तस्य भावमेके आचार्य्याः मन्यन्ते ।

अशनवत् । यथा मध्वशनादिनिषेधस्तत्स्वाश्रमाविरोधिनं चोपकुर्वाणानां नैष्ठिकादीनाञ्च समानम्, तद्वत् । तदुक्तम् "उत्तरेषां तदविरोधी"ति स्मृतिकृद्भिः । उपकुर्वाणस्य यदुक्तं तत्स्वाश्रमाविरोधिनैष्ठिकादीनामुत्तरेषामाश्रमिणाञ्चापि सम्भवतीत्यर्थः । इत्थं नैष्ठिकानां ब्रह्मचर्य्यच्यवने प्रायश्चित्तसम्भवाद्विद्यायां पुनरधिकारः । एवं परिव्राड्वैखानसयोरपि गतिः ॥ ४२ ॥

सू० बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ॥ ३ । ४ । ४३ ॥

(वे०पा०सौ०) नैष्ठिकादीनां स्वाश्रमप्रच्युतेर्महापातकत्वमुपपातकत्वं वाऽस्तूभयथाऽपि ते ब्रह्मविद्याऽधिकाराद्बहिर्भूताः "प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महे"ति स्मृतेः, शिष्टाचाराच्च ॥ ४३ ॥

(वे०कौ०) ऊर्द्ध्वरेतसां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्युतेर्महापातकत्वमस्तूपपातकत्वं वाऽस्तूभयथाऽपि ते बहिर्भूता एव शिष्टैः कर्त्तव्याः । कुतः ? स्मृतेराचाराच्च । "प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महा । आरूढं पतितं विप्रं दृष्ट्वा चान्द्रायणञ्चरेदि"त्यादिनिन्दास्मृतेः, अवकीर्ण्यादिजनपरित्यागलक्षणात् शिष्टाचाराच्च । तस्मात्स्वाश्रमेभ्यः प्रच्युतानां तेषां नास्ति ब्रह्मविद्यायामधिकार इति सिद्धम् ॥ ४३ ॥ इति तद्भूताधिकरणम् ॥ १० ॥

सू० स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ३ । ४ । ४४ ॥

(वे०पा०सौ०) कर्म्माङ्गाश्रितमुपासनं यजमानकर्तृकमित्यात्रेयः, "यदेव विद्यये"ति फलश्रुतेः ॥ ४४ ॥

(वे०कौ०) "तद्वित्सम्मतोऽर्थो ग्राह्यो, न त्वनिश्चिततद्वित्सम्मतः" इत्यपि जैमिन्यभिमतार्थस्वीकारात्केषाञ्चिदभिमतस्यार्थस्यानादृतत्वाच्च पूर्वाधिकरणे दर्शितम् । तथेदानीमङ्गाश्रितमुपासनमृत्विजः कर्म्मेति दर्शयन्तद्विदभिमतार्थमनादृत्य तद्विदभिमतोऽर्थ उपादेय इति दर्शयति ।

कर्म्माङ्गाश्रितमुद्गीथाद्युपासनं यजमानस्य स्वामिनः कर्म्म, आहोस्विदृत्विजः ? इति सन्देहे, स्वामिन इत्यात्रेय आचार्य्यो मन्यते । कुतः ? फलश्रुतेः, "यदेव विद्यया करोती"ति क्रतुवीर्य्यवत्तरत्वफलस्य यजमानाश्रयत्वश्रवणात् ॥ ४४ ॥

सू० आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ३ । ४ । ४५ ॥

(वे०पा०सौ०) कर्माङ्गाश्रितमुपासनमृत्वि(ज) क्कर्तृकं, त(स्य)स्मै कर्म्मणे क्रीतत्वात् , फलञ्च यजमानाश्रयम् ॥ ४५ ॥

(वे०कौ०) कर्म्माङ्गाश्रितमुद्गीथाद्युपासनमार्त्विज्यम् ऋत्विजा कर्त्तव्यम्, इत्यौडुलोमिराचार्य्यो मन्यते । कुतः ? हिहेतौ । यदस्तस्मै साङ्गकर्म्मणे कर्मकरः ऋत्विग्यजमानेन दक्षिणया परिक्रीयते, तेनैव तन्निर्वर्त्त्यं तस्मादित्यर्थः । ननु "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्य्यवत्तरमि"ति श्रुत्युक्तं वीर्य्यवत्तरं फलमप्युपासनकर्त्तुरेव स्यादिति चेन्न । "शास्त्रफलं प्रयोक्तरी"ति न्यायात् , "यां वै काञ्चनाशिषं ऋत्विज आशासते सा सर्वा यजमानस्ये"ति श्रुतेश्च फलं तु यजमानस्यैव । अतः कर्म्माङ्गाश्रितोपासनमृत्विक्कर्मेति सिद्धम् ॥ ४५ ॥ इति स्वाम्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

सू० सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ३ । ४ । ४६ ॥

(वे०पा०सौ०) "तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरि"त्यत्र मननशीले मौनपदप्रवृत्तिसम्भवेऽपि पक्षेण प्रकृतमननशीले प्रयोगदर्शनात् पाण्डित्यबाल्ययोरपेक्षया तृतीयं सहकार्य्यन्तरं मौनं विधीयते, यज्ञादिवच्छमादिवच्च ॥४६॥

(वे०कौ०) विद्यावतः सहकारिभूताः यज्ञादयः शमादयश्च

पूर्वत्र निरूपिताः । इदानीं तद्वद्विद्यावतः सहकार्य्यन्तरं मौनमस्ति, तद्विषयको विचारः क्रियते ।

बृहदारण्यके कहोलप्रश्ने श्रूयते "तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं पाण्डित्यञ्च निर्विद्याऽथ मुनिरमौनं मौनञ्च निर्विद्याथ ब्राह्मण" इति । तत्र संशयः किमिह बाल्यपाण्डित्यवन्मौनमपि विधीयते, आहोस्विदनूद्यत ? इति । मौनं ज्ञानं तद्धि पाण्डित्यं निर्विद्येति गतमेव मुनिरित्यनूद्यते इति प्राप्ते, उच्यते—तद्वतो विद्यावतः तृतीयं बाल्यपाण्डित्ययोरपेक्षया तृतीयं साधनं मौनं विधीयते । एतदेवाह—सहकार्य्यन्तरविधिरिति । ब्रह्मसाक्षात्कारे साध्ये पाण्डित्यं बाल्यञ्च सहकारि तदपेक्षया सहकार्य्यन्तरं मौनं तस्य विधिरेव मुनिरिति । विध्यादिवत् । विधीयते उपकारितयेति विधिः यज्ञदानादिरूपः सर्वाश्रमधर्म्मः शमादिरूपश्च । आदिशब्देन पाण्डित्यं बाल्यञ्च गृह्यते, तद्वत् । यत्तु—मौनं ज्ञानं तद्धि पाडित्यं निर्विद्येति गतमेव मुनिरित्यनूद्यते—इत्युक्तम् , तत्राह—पक्षेणेति । मुनिशब्दस्य "मुनीनामप्यहं व्यासः" इत्यादौ प्रकृष्टमननशीले पक्षेण प्रसिद्धेः पाण्डित्याच्तृतीयं मौनमर्थान्तरमेवेत्यर्थः । अथ मुनिरित्यत्र विधिप्रयोगाभावेऽपि मननविशेषस्य अप्राप्तत्वाद्विधेयत्वं मन्तव्यम् । यस्मादनेन प्रकारेण पूर्वे ब्राह्मणाः कृतार्थाः जातास्तस्मादन्योऽपि ब्राह्मणः पाण्डित्यं पण्डितकृत्यं श्रवणं निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन तिष्ठासेन्मननेन स्थातुमिच्छेदुभयं लब्ध्वा मुनिः स्यात् , प्रकृष्टध्यानशीलो भवेत् । तदनन्तरममौनं मौनेतरमुपायजातं मौनञ्च लब्ध्वा ब्राह्मणो भवति निष्पन्नविद्यो भवतीति श्रुत्यर्थः ॥४६॥

सू० कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ३ । ४ । ४७ ॥

(वे०पा०सौ०) "स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्प-

र्त्तते, न च पुनरावर्त्तते'' इति गृहिणोपसंहारः सर्वाश्रमधर्म्मसद्भावात्सर्वधर्मप्रदर्शनार्थः ॥ ४७ ॥

(वे०कौ०) ननु सर्वाश्रमस्थमुमुक्ष्वनुष्ठेयाः यज्ञदानतपआदयः शमदमादयः श्रवणमननिदिध्यासनाख्याश्च धर्म्मा विद्यासहकारिणस्तत्साध्या सर्वाश्रमिसाधारणा विद्याऽपवर्गसाधनं यदि भवति, तर्हि ''आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्म्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे'' इत्यारभ्य, ''स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते'' इति छान्दोग्ये गृहिणोपसंहारो न घटेत, तेनोपसंहारेणान्ये आश्रमा न सन्तीति द्योत्यते, इत्यत्राह ।

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । गृहिणोपसंहारेण तदितरे आश्रमा न सन्तीति न मन्तव्यमित्यर्थः । कृत्स्नानां धर्म्माणां तत्र भावात्सत्त्वाद्गृहिणोपसंहारः सर्वधर्म्मप्रदर्शनार्थ इत्यर्थः ॥४७॥

सू० मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ३ । ४ । ४८ ॥

(वे० पा० सौ०) तथैव तस्मिन्वाक्येऽपि मौनोपदेशः सर्वधर्म्मप्रदर्शनार्थः, मौनोपदेशवत् ''त्रयो धर्म्मस्कन्धा'' इत्यादिना सर्वाश्रमधर्म्मोपदेशात् ॥ ४८ ॥

(वे०कौ०) तथाऽत्रापि ''अथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति'' इति भिक्षाचरणपूर्वको ''अथ मुनिरि''ति मौनोपदेशः सर्वाश्रमधर्म्मप्रदर्शनार्थ इत्याह ।

तथेहापि ''ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षुचर्य्यां चरन्ती''ति भिक्षाचरणपूर्वको मौनोपदेशः सर्वाश्रमधर्म्मप्रदर्शनार्थः । कस्मात् ? मौनवन्मौनोपदेशवदितरेषामाश्रमाणां ''त्रयो धर्म्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयो-

ऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन्सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती"त्यादावुपदेशात् । तस्मात्पाण्डित्यं बाल्यं तथैव मौनश्चात्र विधीयते इति सिद्धम् ॥ ४८ ॥ इति सहकार्य्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

सू॰ अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ३ । ४ । ४९ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) पाण्डित्य[प्रयुक्त]स्वमाहात्म्याद्यनाविष्कुर्वन्बाल्येन निरहङ्कारभावेन वर्तेत, तस्यैवान्वयसम्भवात् ॥ ४९ ॥

(वे॰कौ॰) "तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरि"त्यत्र मौनमपि विधेयमित्युक्तमिदानीं बाल्यशब्दार्थश्चिन्त्यते ।

किं स्वच्छन्दाचरणमात्रं बाल्यस्य कर्म्म बाल्यशब्देनोच्यते तन्मुमुक्षुणाऽनुष्ठेयम् , उत दम्भदर्पाभिमानादिराहित्यमिह बाल्यशब्देनोच्यते तन्मुमुक्षुणोपादेयमिति संशयः । तत्र बालस्य भावो बाल्यं स्वच्छन्दाचरणमात्रं तन्मुमुक्षुणोपादेयं दम्भादिराहित्यमेवोपादेयं, न तु स्वच्छन्दाचरणमात्रमपीति, नियमे हेत्वभावादिति प्राप्ते, ब्रूमः- श्रवणादिजन्यवैदुष्याद्यनाविष्कुर्वन्बाल्येन दम्भादिराहित्येन बुद्धिपूर्वकेण ब्रह्ममननाद्यनुरूपेण तिष्ठासेत् स्थातुमिच्छेत् । कुतः ? अन्वयात् । दम्भादिराहित्यस्यैव प्रकृतेऽन्वयसम्भवात्, स्वच्छन्दाचरणस्य तु सर्वथाऽनन्वयात् "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितो नाशान्तमनसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयादि"त्यादिश्रुतेः । तस्माद्दम्भादिराहित्यं बाल्यं मुमुक्षुणोपादेयमिति सिद्धम् ॥४९॥ इति अनाविष्काराधिकरणम्॥ १३ ॥

सू॰ ऐहिकमप्रस्तुते प्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ३ । ४ । ५० ॥

(वे॰पा॰सौ॰) असति प्रतिबन्धे ऐहिकं विद्याजन्म, तस्मिन्सत्यामुष्मिकम्, "मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामि"त्यादौ तद्दर्शनात्॥५०

(वे०कौ०) विद्योत्पत्तिसाधनकदम्बमुक्त्वा इदानीं विद्योत्पत्तिकालश्चिन्त्यते।

किम् "अनाविष्कुर्वन्नन्वयादि"त्यन्तेन सूत्रगणेन प्रतिपादितैः साधनैरिहैव जन्मनि विद्योत्पत्तिः, उत जन्मान्तरे? इति संशये, पूर्वः पक्षः "स्वर्गकामो यजेदि"त्यादिशास्त्रबलादामुष्मिकाभ्युदयार्थं यत्नं कुर्वन्ति, जन्मान्तरे विद्योत्पत्त्यर्थं तु यत्नं न कुर्वन्तीहैव जन्मनि विद्यासम्भवादिति। अत्राभिधीयते। प्रतिबन्धे विद्याप्रतिबन्धके देशकालादिविशेषापेक्षे विद्येतरफलोन्मुखे कर्म्मणि अप्रस्तुते अप्रवृत्ते असतीत्यर्थः। विद्योत्पत्तिसाधनसमूहे स्वनुष्ठिते च सति ऐहिकं विद्याजन्म, प्रतिबन्धे तादृशे कर्म्मणि प्रस्तुते सति चामुष्मिकमपीति। कुतः? तद्दर्शनात् उभयथा विद्याजन्मदर्शनात्। प्रतिबन्धाभावे ऐहिकं विद्याजन्म "मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नाम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजो भूद्विमृत्युरि"तिश्रुतौ दृश्यते। जन्मान्तरानुष्ठितसाधनैर्जन्मान्तरे विद्याजन्म "गर्भस्थ एव वामदेवः प्रतिपेदे" इत्यत्र दृश्यते। प्रतिबन्धबाहुल्ये सति विद्यालाभो दुर्घटः "श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युरि"तिश्रुतेः। तस्मात्प्रतिबन्धापगमे विद्योत्पत्तिर्यस्मिन् जन्मनि साधनमनुष्ठितं तत्रैव विद्योदय इति नियमो नास्तीति सिद्धम्॥ ५०॥ इत्यैहिकाधिकरणम्॥ १४॥

सू० एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः॥ ३। ४। ५१॥

(वे०पा०सौ०) तथा मुक्तिफलानियमः "तस्य तावदेव चिरमि"ति वचनात्॥ ५१॥

हरिॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शा० मी० वाक्यार्थे वे० पा० सौरभे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥ ४॥

(वे०कौ०) विद्यार्थिनो विद्याप्राप्तिकालश्चिन्तितः,इदानीं प्राप्तविद्यस्यापवर्गार्थिनोऽपवर्गकालश्चिन्त्यते ।

प्राप्तविद्यस्य यस्मिञ्छरीरे विद्यालाभस्तद्वियोगानन्तरं विद्याया मुक्तिरूपं फलमिति नियमः, उतानियमः ? इति सन्देहः । साधने सिद्धे तदैव फलप्राप्तिसम्भवात्तच्छरीरवियोगानन्तरं फलं भवतीति नियम इति । अत्रोच्यते-एवं मुक्तिफलानियम इति । यथा प्रतिबन्धस्याभावे इहैव, भावे त्वन्यत्र विद्याजन्म सम्भवतीत्यनियमः । एवं प्राप्तविद्यस्य विद्यायाः मुक्तिरूपस्य फलस्यानियमः । असति प्रारब्धे कर्म्मणि शरीरवियोगानन्तरं विदुषो विद्यायाः मुक्तिरूपं फलं, सति च शरीरान्तरवियोगानन्तरमित्यनियम इत्यर्थः । कुतः ? तदवस्थावधृतेः । "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति छान्दोग्ये तदवस्थस्य सा विद्वद्रूपाऽवस्था यस्य स तदवस्थस्तस्य सम्पन्नविद्यस्यानियतमुक्तिकालत्वेनावधृतेरित्यर्थः । तस्मान्मुक्तिफलानियम इति सिद्धम् । पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिद्योतनार्थः ॥ ५१ ॥ इति मुक्तिफलाधिकरणम् ॥ १५ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्य्य श्रीमन्निम्बार्क्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्य्येण विरचिते
शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे
तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चायं ब्रह्मविद्याचिन्तनपरः साधनाऽध्यायस्तृतीयः ॥ ३ ॥

॥ ॐ श्रीमद्राधागोपालाभ्यां नमः ॥

ॐ मङ्गलमूर्त्तये श्रीमन्नियमानन्दाय नमः ।

भाष्यद्वयोपेते श्रीब्रह्मसूत्रे ।

चतुर्थाध्याये प्रथमपादारम्भः ।

सू० आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ ४ । १ । १ ।

श्री ६ श्रीभगवन्निम्बार्कविरचित-वेदान्तपारिजात-सौरभाख्य-ब्रह्मसूत्रवाक्यार्थः ।

असकृत् साधनावृत्तिः कर्त्तव्या "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्यादिब्रह्मदर्शनायोपदेशात् ॥ १ ॥

श्रीश्रीनिवासाचार्य्य-विरचित-श्रीवेदान्त-कौस्तुभभाष्यम् ।

तृतीयाध्याये साधनानि निरूपितानीदानीञ्चतुर्थेऽस्मिन्नध्याये फलं निरूप्यते । तत्र प्रथमे पादे फलसिद्धिर्दृढैः साधनैरञ्जसा भवेत्तदर्थं साधनावृत्तिरप्रयाणात्कर्त्तव्येति निरूप्यते । विदुषो ब्रह्मात्मकत्वादुत्तरपूर्वकर्म्मनिवृत्तिहेतुभूतविद्याबलाच्च फलसिद्धिरवश्यं भविष्यतीति च द्योत्यते, भोगेनारब्धकार्य्यकर्म्मक्षये सति ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलं भवतीति च प्रतिपाद्यते । द्वितीये पादे तु विदुष उत्क्रान्त्यादिकं चिन्त्यते। तृतीये पादे तु तस्यार्चिरादिगतिर्निरूप्यते। चतुर्थे पादे तु तस्य परब्रह्मप्राप्तस्य निवृत्ततिरोधानस्य स्वरूपादि निर्णीयते। तत्रादौ साधनमसकृदनुष्ठेयमित्याह ।

"आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः,तमेव विदित्वा ऽतिमृ-

त्युमेति, ब्रह्मविदाप्नोति परमि"त्यादिषु श्रूयमाणं ब्रह्मदर्शनसाधनं सकृदनुष्ठेयम्, उतासकृत्तदावृत्तिः कर्तव्येति संशयः। तत्र सकृदनुष्ठेयमसकृत्तदावृत्तौ प्रमाणाभावादिति पूर्वः पक्षः। तत्राभिधीयते–आवृत्तिरिति। असकृद्ब्रह्मदर्शनसाधनावृत्तिः कर्तव्या। कुतः ? उपदेशात्, श्रवणमननोपदेशपूर्वकब्रह्मदर्शनसाधनभूतध्यानोपदेशात्। अयमभिप्रायः। सकृच्छ्रवणेन यथार्थं वाक्यार्थज्ञानं श्वेतकेतुसदृशानामपि न भवति, वेदान्तवाक्यार्थस्यातिदुर्ज्ञेयत्वात्, अन्यथा तत्त्वमसीति वाक्याभ्यासस्य वैयर्थ्यं स्यात्। अत एव "यं श्रृण्वन्तोऽपि न विदुः" इत्यादिवाक्यस्य सार्थक्यम्। अत एवाध्ययनविधिना वेदान्तवाक्यश्रवणमात्रेण वाक्यार्थज्ञानाभावं मन्वानो भगवानिदं शास्त्रं कृतवान्। तथा च "आत्मा वा अरे! द्रष्टव्य" इति ब्रह्मदर्शन मु(द्दिश्य)यस्य "श्रोतव्य" इत्युपदेशोऽसकृच्छ्रवणज्ञापकः, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"त्यादिश्रुतिप्रसिद्धब्रह्मविषयकेन सकृच्छ्रवणेनाध्ययनविधिप्राप्तेन ब्रह्मदर्शने सिद्धे "श्रोतव्य" इत्युपदेशस्य वैयर्थ्यापत्तेः। एवमेव "मन्तव्य" इत्युपदेशो मननं नाम निरन्तरं तत्त्वचिन्तनं तदुपदेशः। ततो "निदिध्यासितव्य" इति ध्यानोपदेशः, श्रवणमननविषयभूतस्य ब्रह्मणोऽविच्छिन्नप्रत्ययाकारं तत्साक्षात्कारासाधारणं कारणं ध्यानं तस्योपदेशः। तस्मादुपदेशात् असकृदनुष्ठिते उपासनवेदननिदिध्यासनादिशब्दार्थे ब्रह्मध्याने तदनुग्रहाद्ब्रह्मदर्शनं भवति, "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान" इति श्रुतेः॥ १॥

सू० लिङ्गाच्च ॥ ४ । १ । २ ॥

(वे०पा०सौ०) "अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय"! इत्यादिस्मृतेश्च ॥ २ ॥

(वे०कौ०) लिङ्गं स्मृतिः। अस्मिन्नर्थे स्मृतयः सन्ति "अभ्यासेन तु कौन्तेय! मामिच्छाप्तुं धनञ्जय! । स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥" इत्याद्याः। तस्मादसकृद्ब्रह्मदर्शनसाधनावृत्तिः कर्त्तव्येति सिद्धम् ॥ २ ॥ इत्यावृत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥४।१।३॥

(वे०पा०सौ०) "एष मे आत्मे"ति पूर्वे उपगच्छन्ति, "एष ते आत्मे"ति शिष्यानुपदिशन्ति, अतो मुमुक्षुणा परमपुरुषः स्वस्यात्मत्वेन ध्येयः ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) अनन्तराधिकरणेऽसकृद्वेदनावृत्तिर्दर्शिता। सा वेत्तुर्वेद्येनात्यन्तं भेदं द्योतयति । तत्रेदानीमिदमुच्यते।

किं वेद्यं ब्रह्म वेत्तुरन्यत्वेनानुसन्धेयम्, अहोस्विद्वेत्तुरात्मत्वेनेति संशयः। तत्र पूर्वः पक्षः अन्यत्वेनेति । कस्मात् ? अहम्प्रत्ययगोचरत्वेनात्मनः सुज्ञेयत्वादिह तु प्रकृतात्मवेदनेऽसकृत्साधनावृत्त्युपदेशाच्च प्रागुदाहृतभेदबोधकश्रुतिस्मृतिगणाच्च "भेदव्यपदेशाच्च अधिकन्तु भेदनिर्देशादि"त्यादिसूत्रगणाच्च। इत्थं स्वानुभवसिद्धे शास्त्रनिष्पन्ने भेदे सति अन्यथा प्रतिपत्तिर्न कर्त्तव्या, "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे"ति निन्दावचनाच्च। अत्रोच्यते—आत्मेति तूपगच्छन्तीति । परमात्मा स्वमांशभूतस्यात्मांशित्वादहश्च तदात्मकस्तन्निरपेक्षस्थितिप्रवृत्तिरहितत्वात् । यथा स्वांश्वपेक्षया सहस्रांशुः स्वाधीनस्थितिप्रवृत्तिमान् तेषामात्मा, ते च तदात्मकास्तदभिन्नाः। एवं तादात्म्यसम्बन्धेन भगवान्ध्येयः। तुशब्दो जीवपरमात्मनोरज्ञसर्वज्ञयोः स्वरूपेण भेदं द्योतयति । द्वयोः पदार्थयोः केनापि प्रकारेणाभेदे सति तादात्म्यलक्षणः

सम्बन्ध उपपद्यते, न गवाऽश्वयोस्तादात्म्यमुपपद्यते । न चैकस्याप्यश्वस्य तादात्म्यमुपपद्यते, अपि तु कार्यकारणयोः गुणगुणिनोः शक्तिशक्तिमतोर्भिन्नाभिन्नयोः पदार्थयोरेव तादात्म्यसम्बन्धः, अन्यथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्यत्रापि चिज्जडात्मकस्य जगतो हि स्वरूपेण ब्रह्माभिन्नत्वं स्यात् । तस्मादुपासितुर्ब्रह्मांशभूतस्य स्वरूपेण भिन्नस्यैव भगवानात्मा, पत्रस्य वृक्षवत्, प्रभायाः प्रभावानिव, प्राणानां मुख्यप्राणवच्च । इह भेदोऽपि मुख्यः, अभेदोऽपि मुख्यः, उभयोः स्वाभाविकत्वात् । अस्मिन्नर्थे एव "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसी"त्यादिवाक्यान्यर्थवन्ति सन्ति । अत एव ब्रह्मणो जीवस्य वृक्षात्पत्रस्येव प्रभावतः प्रभाया इव अपृथक्सिद्धत्वात् "योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मी"ति, "न स वेद यथा पशुरि"त्यादिवाक्यान्युपपद्यन्ते । एवम्प्रकारेऽभेदे भेदाविरोधिनि "चेतनश्चेतनानाम्, अक्षरादपि चोत्तमः । अधिकोपदेशात्तु नेतरोऽनुपपत्तेरि"त्यादिश्रुतिस्मृतिसूत्राणामबाधः, भेदाभेदलक्षणस्य तयोः सम्बन्धस्य सर्वशास्त्रसम्मतत्वात् । यतः "एष मे आत्मा एष सर्वभूतान्तरात्मे"ति प्राज्ञोऽभ्युपगच्छन्ति । "एष (ते) आत्मा सर्वान्तर एष ते आत्माऽन्तर्य्याम्यमृत ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्त्वमसी"त्यादिना शिष्यांस्तथैव ग्राहयन्ति । "अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः । क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि" इत्यादिस्मृतेश्च श्रीपुरुषोत्तमः स्वस्यात्मत्वेन ध्येय इति सिद्धम् ॥ ३ ॥ इति आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० न प्रतीकेन हि सः ॥ ४ । १ । ४ ॥

(वे०पा०सौ०) प्रतीके स्वात्मानुसन्धानं न कार्य्यम्, न स उपासितुरात्मा ॥ ४ ॥

(वे०कौ०) तद्वत्प्रतीकोपासने त्वनुसन्धानं न कर्त्तव्यमितीदानीमाह ।

"मनो ब्रह्मेत्युपासीत स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते" इत्यादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः किं प्रतीकोपासनेष्वप्यात्मत्वेनानुसन्धानं करणीयम् , आहोस्विन्नेति ? किं तावद्युक्तम् ? करणीयमेव ब्रह्मोपासनत्वाविशेषादिति प्राप्ते, ब्रूमः—न प्रतीके आत्मत्वानुसन्धानं कर्त्तव्यम् । यतो नहि स प्रतीक उपासितुरात्मा मनआदेः प्रतीकस्य ब्रह्मदृष्ट्योपास्यत्वात् ॥ ४ ॥

सू० ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ४ । १ । ५ ॥

(वे०पा०सौ०) मनआदौ ब्रह्मदृष्टिर्युक्तैव, न तु ब्रह्मणि मनआदिदृष्टिर्ब्रह्मण उत्कर्षात् ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) ननूक्तस्थले मनआदिदृष्ट्या ब्रह्मण एवोपास्यत्वमस्तु मनआदेरुपास्यत्वाभावाद्ब्रह्मण उपास्यत्वाचेत्यत्राह ।

मनोनामादिषु ब्रह्मदृष्टिः कर्त्तव्या । कुतः ? उत्कर्षात् , मनोनामादिभ्यो ब्रह्मण उत्कर्षात् । न तूत्कृष्टे ब्रह्मणि मनोनामादिदृष्टिः कार्य्या, यथाऽमात्ये राजदृष्टिर्युक्ता भवति, न तु राज्यमात्यदृष्टिस्तद्वत् । तस्मात्प्रतीके आत्मत्वानुसन्धानं न कार्य्यमिति सिद्धम् ॥ ५ ॥ इति प्रतीकाधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ४ । १ । ६ ॥

(वे०पा०सौ०) "य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" इत्याद्युपाससनेषूद्गीथादिष्वादित्यादिमतयः कर्त्तव्याः, आदित्यादेरुत्कर्षोपपत्तेः ॥ ६ ॥

(वे०कौ०) इदानीं "य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत"-त्यादीन्यङ्गाश्रितोपासनानि श्रूयन्ते । तत्र फलसाधनभूतकर्म्माङ्गतयोद्गीथादेरफलेभ्यः आदित्यादिभ्य उत्कर्षादादित्यादिषूद्गी-

थादिदृष्टिः कर्त्तव्येति प्राप्ते, सिद्धान्तमाह ।

आदित्यादिमतयश्च आदित्यादिदृष्टय एव अङ्गे कर्म्माङ्गे उद्गीथादौ कर्त्तव्याः । कस्मात् ? उपपत्तेः, आदित्यादेरुत्कर्षोपपत्तेः । आदित्यादिदृष्ट्या संस्कृतेषु कर्म्माङ्गभूतेषूद्गीथादिषु कर्म्माणि विशिष्टफलप्रदानि भवन्ति, अत उपपद्यते आदित्यादेरुत्कर्षः । तस्मादादित्यादिदृष्टिरुद्गीथादौ कार्य्येति सिद्धम् ॥६॥ इत्यादित्यादिमत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

सू० आसीनः सम्भवात् ॥ ४ । १ । ७ ॥

(वे०पा०सौ०) आसीन एवोपासनमनुतिष्ठेत्तस्यैव तत्सम्भवात् ॥७॥

(वे०कौ०) ब्रह्मदर्शनासाधारणकारणस्योपासनस्यासकृदावृत्तिः कर्त्तव्येति प्रागुपपादितमिदानीं तदनुष्ठानमनियमेन कुर्य्यात्, उतासीन एवेति चिन्त्यते ।

किमुपासनमासीनः शयानो गच्छन् तिष्ठन्वाऽनुतिष्ठेदित्यनियमः, उतासीन एवेति नियमः ? इति संशये, नियमहेत्वभावादनियमः इति पूर्वपक्षे, उच्यते—आसीन इति । कुतः ? सम्भवात्, आसीने उपासके उपासनस्य सम्भवात् । शयानस्य निद्रासम्भवाद्गच्छतस्तिष्ठतश्च शरीरधारणादियत्नवशाद्विक्षेपे सत्युपासनं न सम्भवति ॥ ७ ॥

सू० ध्यानाच्च ॥ ४ । १ । ८ ॥

(वे०पा०सौ०) उपासनस्य ध्यानरूपत्वादासीन एव तदनुतिष्ठेत् ॥८॥

(वे०कौ०) "निदिध्यासितव्य" इत्युपासनस्य ध्यानरूपत्वाच्च आसीन एव ध्यातरि ध्येयाकारप्रत्ययप्रवाहरूपस्य ध्यात्यर्थस्योपासनवेदनाद्यपरपर्य्यायस्य सम्भवान्नियमो युक्त इत्यर्थः ॥८

सू० अचलत्वञ्चापेक्ष्य ॥ ४ । १ । ९ ॥

(वे०पा०सौ०) "ध्यायतीव पृथिवी"त्यत्राचलत्वमपेक्ष्य ध्यायतिप्रयोगो वर्त्तते, अत आसीन एवोपासनमनुतिष्ठेत् ॥ ९ ॥

(वे०कौ०) "ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वताः" इत्यत्र श्रुतौ पृथिव्यादीनामचलत्वमपेक्ष्य ध्यायतिप्रयोगो वर्त्तते। तस्माच्च लिङ्गाद्ध्यानवेदनादिरूपमुपासनमासीन एवानुतिष्ठेत् ॥ ९ ॥

सू० स्मरन्ति च ॥ ४ । १ । १० ॥

(वे०पा०सौ०) "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्ये"त्यादि स्मरन्ति च ॥१०॥

(वे०कौ०) "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्। तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥" इत्याद्याः आसीनस्यैव ध्यानं स्मरन्ति च ॥ १० ॥

सू० यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥४ । १ । ११ ॥

(वे०पा०सौ०) यत्र चित्तैकाग्र्यं तत्रोपासीत, तदतिरिक्तदेशादिविशेषाश्रवणात् ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) यत्र यस्मिन्देशे कालादौ चित्तैकाग्रता, तत्र कुर्यात्, तदतिरिक्तदेशकालादिविशेषाश्रवणात्। "समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिर्मनोऽनुकूले, न तु चक्षु(१)पीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेदि"ति श्वेताश्वतराणां वाक्यमपि चित्तैकाग्र्यानुरूपं देशमाह, नतु देशादिविशेषम्, मनोऽनुकूले इति वाक्यशेषात्। तस्मादासीन उपासनमनुतिष्ठेदिति सिद्धम् ॥ ११ ॥ इत्यासीनाधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू० अप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ ४ । १ । १२ ॥

---

(१) विसर्गलोपश्छान्दसः।

(वे०पा०सौ०) उपासनमाप्रयाणात्कार्य्यम्, यतस्तत्रापि "स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषमि"त्यादौ तद्दृष्टम् ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) प्राक् साधनावृत्तिरसकृत्कर्तव्येत्युक्तमिदानीं तत्कालो विचार्य्यते ।

ध्यानवेदनादिपदवाच्यमुपासनं किमल्पकाले समापनीयम्, उत देहपातपर्य्यन्तमावर्त्तनीयमिति ? संशये, अल्पकाले समापनीयं तावतैवाऽसकृदावृत्तिबोधकवाक्यस्य चरितार्थत्वादिति प्राप्ते, अभिधीयते–आप्रयाणादिति । आप्रयाणादामरणान्नैरन्तर्य्येणोपासनमावर्त्तनीयम् । हिशब्दः हेत्वर्थः । यतस्तत्रापि तस्मिन्काले खलु "अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति एवंक्रतुर्हामुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवती"तिश्रुतौ ध्येयप्रत्ययानुवर्त्तनं दृष्टम् । क्रतुमयो ध्यानप्रधान इत्यर्थः । तथा यावज्जीवं ध्येयप्रत्ययानुवर्त्तनम् । "स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" इति श्रुतौ च दृष्ट(व्यं)म् "यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः" इति स्मृतौ च। तस्मादुपासनं प्रत्यहमाप्रयाणादनुवर्त्तनीयमिति सिद्धम् ॥१२॥ इत्याप्रयाणाधिकरणम् ॥ ६ ॥

सू० तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ ४ । १ । १३ ॥

(वे०पा०सौ०)विदुष उत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवतः। कुतः ? "एवंविदि पापं कर्म्म न श्लिष्यते अस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त" इतिव्यपदेशात् ॥ १३ ॥

(वे०कौ०) एवं फलाध्यायेऽपि फलाप्तौ प्रतिबन्धकं निर्जिहीर्षुराशु स्वात्मनः श्रीपुरुषोत्तमस्य पदप्राप्तिरूपफलसिद्धये साधनेऽत्यन्तं यत्नं कुर्य्यादिति द्योतनाय साधनावृत्त्यादिविचारः

कृतः। इदानीं विद्याफलप्रतिबन्धनिवृत्तिं दर्शयति।

"तद्यथा पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवम्विदि पापं कर्म्म न श्लिष्यते" इति विदुष उत्तराघाऽश्लेषः श्रूयते। "तद्यथैषिका तूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते, क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" इति च तत्पूर्वाघविनाशः श्रूयते। तत्र सन्देहः किं प्राप्तविद्यस्योत्तरपूर्वयोः पापकर्म्मणोरश्लेषविनाशावुपपद्येते, आहोस्विन्नेति। तत्र "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म्म शुभाशुभमि"त्यादिवाक्यात्कृतस्य कर्म्मणः फलमवश्यं भोक्तव्यमत उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ नोपपद्येते, अश्लेषविनाशश्रुतेस्तु भुक्तकर्म्मनिवृत्तिपरतया चरितार्थत्वादिति प्राप्ते, ब्रूमः—तथाभूतेन ध्यानपरिपाकेन ध्रुवास्मृतिपरभक्त्याख्यज्ञानाधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशावुपपद्येते। कस्मात्? तद्व्यपदेशात्, "एवंविदि पापं कर्म्म न श्लिष्यते" इत्युत्तराघाऽश्लेषव्यपदेशात्। नायं व्यपदेशः भोगपूर्वककर्म्मणोऽश्लेषपरत्वेन नेतुं शक्यः, तदानीं श्लेषाभावे निषेधायोगात्। "एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते, क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" इति पूर्वाघनाशव्यपदेशात्। अयमपि व्यपदेशो भुक्तकर्म्मनाशपरत्वेन नेतुमशक्यः, अविदुषोऽपि भुक्तकर्म्मणो नाशस्य तुल्यत्वात्, "नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यमि"त्यादिवाक्यस्याविद्वद्विषयत्वाच्च, आरब्धकार्य्यकर्म्मविषयत्वाच्च। तस्मात्प्रमादोपपतेरुत्तरपूर्वयोर्विदुषोऽघयोरश्लेषविनाशावुपपद्येते इति सिद्धम्॥ १३॥ इति तदधिगमाधिकरणम्॥ ७॥

सू० इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु॥ ४। १। १४॥

(वे०पा०सौ०) पुण्यस्य काम्यकर्म्मणोऽपि अघवन्मुक्तिविरोधि-

त्वादुत्तरस्याश्लेषः, पूर्वस्य विनाश एव । उत्तरपूर्वयोरश्लेषविनाशानन्तरं देहपाते सति मुक्तिरेव ॥ १४ ॥

(वे० कौ०) अनन्तराधिकरणे विदुषः प्रमादोत्पन्नानां पापकर्म्मणां निवृत्तिरुक्तेदानीं पुण्यानां कर्म्मणामपि निवृत्तिमाह ।

उत्तरपूर्वाघयोरनिष्टत्वाद्विद्ययाऽश्लेषविनाशौ भवतां, पुण्यकर्म्मणोस्तूत्तरपूर्वयोर्विद्ययाऽश्लेषविनाशौ नोपपद्येते । तयोः शास्त्रीयत्वेन विद्यया विरोधाभावादिति प्राप्ते, अतिदिशति—इतरस्याप्येवमिति । अघादितरस्य पुण्यस्य काम्यकर्म्मणोऽप्येवमघवद्विद्ययाऽश्लेषविनाशौ स्याताम् । कुतः ? तद्व्यपदेशात् । मुमुक्षोः पापकर्म्मणो यथा मोक्षविरोधित्वेन हेयत्वव्यपदेशस्तथा पुण्यकर्म्मणोऽपि व्यपदेशस्तस्मात् । अस्ति च मोक्षविरोधितया हेयत्वसाम्येनोभयोः पुण्यपापयोर्व्यपदेशः "उभे सुकृतदुष्कृते निर्दिश्य सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते" इति, "सुकृतदुष्कृते विधुनुते" इति, "उभे उहैवैष एते तरती"ति च । एवं सुकृतदुष्कृतयोर्मोक्षविरोधिनोरभावात्पाते देहपाते मुक्तिरेव । तुशब्दोऽवधारणे । तस्मात्सुकृतस्याप्यश्लेषविनाशावुपपद्येते इति सिद्धम् ॥ १४ ॥ इतीतराधिकरणम् ॥ ८ ॥

सू० अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ ४ । १ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) विद्याप्राप्तौ पूर्वे पापपुण्येऽप्रवृत्तफले एव क्षीयेते । कुतः ? "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये ऽथ सम्पत्स्ये" इति शरीरपातावधिश्रवणात् ॥ १५ ॥

(वे०कौ०) सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यया विनाश उक्तः । इदानीमारब्धकार्य्ययोरपि सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यया विनाशो भवत्वित्यत आह ।

विद्यया खलु किलाऽऽरब्धकार्य्ययोरनारब्धकार्य्ययोश्च सु-

कृतदुष्कृतयोः कर्म्मणोरविशेषेण विनाशो भवत्याहोस्विद् (विशेषतः) अनारब्धकार्य्ययोरेवेति ? संशये, "क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे, सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इत्यविशेषश्रवणात्सर्वेषामविशेषेण विनाश इति प्राप्ते, सिद्धान्तमाह—अनारब्धकार्य्ये एवेति । पूर्वे सुकृतदुष्कृते कर्म्मणी अनारब्धकार्य्ये अप्रवृत्तफले एव विद्यया क्षीयेते, न तु प्रवृत्तफले । कुतः ? तदवधेः, "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति देहपातविलम्बावधिश्रवणादित्यर्थः । एवंसति विशेषवाक्यानुरोधादविशेषवाक्यं नेतव्यम् । अतो विद्यया प्रवृत्तफलयोः सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशो न भवतीति सिद्धम् ॥ १५ ॥ इति अनारब्धकार्य्याधिकरणम् ॥ ९ ॥

सू० अग्निहोत्रादि तु तत्कार्य्यायैव तद्दर्शनात् ॥ ४ । १ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) विद्ययाऽग्निहोत्रदानतपआदीनां स्वाश्रमकर्मणां निवृत्तिशङ्का नास्ति, विद्यापोत्रकत्वादनुष्ठेयान्येव । यज्ञादिश्रुतौ तेषां विद्योत्पादकत्वं दर्शनात् ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) विद्यासामर्थ्यादितरस्याप्येवमसंश्लेष इति शुभकर्म्मणोऽप्यसंश्लेष उक्तस्तद्वन्नित्यनैमित्तिकानां स्वाश्रमकर्मणामप्यसंश्लेषः प्राप्नोत्यतस्तान्यननुष्ठेयानीति शङ्कामिदानीं निराकरोति ।

अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिकं कर्म्म विदुषा न कर्त्तव्यम्, उत कर्त्तव्यमिति सन्देहे, विद्यया शुभाशुभयोरश्लेषविनाशौ भवतः, किं तदनुष्ठानेनाग्निहोत्रादेरपि शुभत्वाविशेषान्निवृत्तिः प्राप्नोतीति प्राप्ते, ब्रूमः । तुशब्दोऽग्निहोत्रादेर्विशेषत्वं द्योतयति । अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिकं स्वाश्रमकर्म्म विदुषा तत्कार्य्यायैव विद्योत्पत्तिकार्य्यायैवानुष्ठेयम् । कुतः ? तद्दर्शनात्, अग्निहोत्रादि-

स्वाश्रमकर्म्मणां "तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने"त्यादौ विद्यासाधनत्वदर्शनात् । विद्यायास्तु यावज्जीवं प्रत्यहमुत्पाद्यत्वम्, अतो यावज्जीवमाश्रमकर्म्मानुष्ठेयम् ॥१६॥

सू० अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ ४ । १ । १७ ॥

(वे०पा०सौ०) अस्मात्प्राप्तिविषयात्कर्म्मणो विद्योत्पादकादिरूपादन्याप्यफलत्वविषया कृत्याऽस्ति । तद्विषयमेकेषां "सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामि"त्युभयोः पुण्यपापयोर्विभागवचनम् ॥ १७ ॥

(वे०कौ०) ननु तर्हि "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामि"तिवाक्यं किंविषयं स्यादत आह ।

अतोऽस्माद्विद्योत्पादकत्वादिलक्षणादन्यापि प्रबलकर्म्मविशेषप्रतिरुद्धफला साधुकृत्याऽसाधुकृत्या चास्ति । हि यतः काम्यं कर्म्म फलाय क्रियते, प्रतिषिद्धश्चाचर्य्यते प्रमादात्, अतः एकेषामुभयोः पुण्यापुण्ययोर्विभागवचनं प्राप्तविषयं भवति । "सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामि"ति अश्लेषविनाशवचनं च तद्विषयं ज्ञेयम् ॥ १७ ॥

सू० यदेव विद्ययेति हि ॥ ४ । १ । १८ ॥

(वे०पा०सौ०)कर्म्मणः प्रबलत्वदुर्बलत्वसूचनार्थमिदमुच्यते "यदेव विद्यये"ति हि ॥ १८ ॥

(वे०कौ०) "पूर्वाघ्यप्रतिबन्धः फलमि"त्यत्रोक्तं कस्यचित्कर्म्मणः प्रबलत्वं कस्यचिद्दुर्बलत्वं स्मारयति ।

"यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्य्यवत्तरमि"त्येवं कस्यचित्कर्म्मणः प्रबलत्वं कस्यचिद्दुर्बलत्वम् । तत्र स्वविषये प्रबलं कर्म्म प्रथमं पतति । अतः प्रबलेषु फलोन्मुखेषु प्रवृत्तेषु कर्म्मसु दुर्बला काचित्साधुकृत्याऽसाधुकृत्या च फलायानुष्ठिता निर्विष-

शावतिष्ठते, प्रबलाभिर्गोभिर्जलतृणादिभ्यो निवारिता दुर्बला गौरिव। आरब्धकार्य्यकर्म्मक्षयानन्तरं विदुषि मुक्ते सति तत्सुहृद्दुर्हृत्सु यथायथं प्रविशतीति भावः। तस्माद्विद्योदयाय स्वाश्रमकर्म्माग्निहोत्रादिरूपं गृहस्थेन, तपोजपादीनि कर्म्माणि ऊर्द्ध्वरेतोभिरनुष्ठेयानीति सिद्धम्॥ १८॥ इत्यग्निहोत्राधिकरणम्॥१०॥

सू० भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते॥ ४। १। १९॥

(वे०पा०सौ०) विद्वानारब्धकार्य्ये तु सुकृतदुष्कृते भोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पद्यते॥ १९॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कवि० शा० मी० वाक्यार्थे वे०पा०सौरभे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः॥ १॥

(वे०कौ०) तृतीयाध्यायान्ते विद्याफलस्यारब्धकार्य्यकर्म्मरूपप्रतिबन्धनिवृत्तिसापेक्षत्वात्कालानियमः प्रतिपादितः। इह तु पाते मुक्तिरेवेत्युक्तम्। तत्र विद्याफलप्रतिबन्धभूतस्यारब्धकार्य्यस्योभयविधस्य कर्म्मणः कुतो निवृत्तिः। कस्य च देहविशेषस्य पाते मुक्तिरित्याकाङ्क्षायामिदानीमिदमाह।

"तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" "इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु" इत्यादिनोक्ताभ्यामश्लेषविनाशविषयाभ्यामनारब्धकार्य्याभ्यां शुभाशुभाभ्यां कर्म्मभ्यामितरे आरब्धकार्य्ये शुभाशुभे कर्म्मणी किं विद्यायोनिशरीरभोग्ये, किं वा शरीरान्तरभोग्येऽपीति? सन्देहे, शरीरान्तरस्यानीप्सितत्वाद्विद्यायोनिशरीरभोग्ये तत्पाते मुक्तिरेवेति प्राप्ते, प्रचक्ष्महे। तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः। इतरे आरब्धकार्य्ये शुभाशुभे कर्म्मणी (विद्यायोनिशरीरे शरीरान्तरे वा) भोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पद्यते, "नाभुक्तं क्षीयते कर्म्मे"ति श्रुतेः। ("तेनैहिकमप्रस्तुते प्रतिबन्धे" इत्यत्र दर्शितस्य विद्याप्रतिबन्धस्यापि निवृत्ति-

प्रकारो व्याख्यातः ।) तस्माद्भोगेनारब्धकार्यकर्मक्षये भोगावसानशरीरपाते मुक्तिरेवेति सिद्धम् ॥१९॥ इतीतरक्षपणाधिकरणम् ॥११॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्तकाचार्य्य श्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्य्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादः ॥ १ ॥

चतुर्थाध्याये द्वितीयपादारम्भः ।

सू० वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ ४ । २ । १ ॥

(वे०पा०सौ०) "वाङ्मनसि सम्पद्यते" इति वागिन्द्रियस्य मनसि संयोगरूपा सम्पत्तिरुच्यते, वागिन्द्रिये उपरतेऽपि मनःप्रवृत्तिदर्शनात् "वाङ्मनसि सम्पद्यते" इति शब्दाच्च ॥ १ ॥

(वे०कौ०) पूर्वपादान्ते ब्रह्म सम्पद्यते इत्युक्तमिह तु ब्रह्मप्राप्तये विदुष उत्क्रान्त्यादिकं निरूप्यते । तत्रेदानीं विद्वदविद्वत्साधारणामुत्क्रान्तिं निरूपयति ।

"अस्य सोम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामि"त्यत्र संशयः—किमत्र वाग्वृत्तेर्मनसि सम्पत्तिरुच्यते, उत वृत्तिमत्या वाच एवेति ? । वागादिवृत्तयः स्वेषु स्वेषु विषयेषु मनसा प्रवर्त्तन्तेऽतो वाग्वृत्तेर्मनसि सम्पत्तिर्युक्तेति प्राप्ते, ब्रूमः—वागेव वृत्तिमती मनसि सम्पद्यते । कुतः ? दर्शनात्, वागिन्द्रिये उपरतेऽपि मनःप्रवृत्तिदर्शनात् । नन्वेतद्वाग्वृत्तिमात्रसम्पत्तौ सत्यामपि सङ्गच्छत इत्याशङ्क्य मुख्यं हेतुमाह—शब्दाच्चेति । "वाङ्मनसि सम्पद्यते" इति शब्दाच्च । नेह वाग्वृत्तिर्मनसि सम्पद्यते इति शब्दोऽस्ति । सम्पत्तिरिह संयोगरूपा ज्ञेया, नतु लयरूपा, अनुपादानभूते म-

नसि वाचो लयासम्भवात् । (अविदुषा देहान्तरप्रतिपत्तौ वागाद्यनुवृत्तेरपेक्षितत्वात्, विदुषो वागादीनां लयस्य परमात्मनि वक्ष्यमाणत्वाच्च ।) ॥ १ ॥

सू॰ अत एव सर्वाण्यनु ॥ ४ । २ । २ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) वाचमनु सर्वाण्यपीन्द्रियाणि मनसि सम्पद्यन्ते, तथादर्शनात्, "इन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैरि"ति शब्दाच्च ॥ २ ॥

(वे॰कौ॰) अत एव दर्शनात् शब्दाच्च वागिन्द्रियमनु सर्वाण्यपीन्द्रियाणि मनसि सम्पद्यन्ते। दर्शनं तावत्पूर्ववदेव । शब्दस्तु "तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैरि"ति । अतो वागादीनीन्द्रियाणि मनसि सम्पद्यन्त इति सिद्धम्॥२॥ इति वागाधिकरणम् ॥ १ ॥

सू॰ तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ४ । २ । ३ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) तच्च प्राणेन संयुज्यते ॥ ३ ॥

(वे॰कौ॰) इदानीं तत्प्राणेन संयुज्यत इत्याह ।

वागादिसंयुक्तं मनः क्व सम्पद्यते ? इत्यत्रोच्यते—तद्वागादिसंयुक्तं मनः[१] प्राणे सम्पद्यते । कुतः ? उत्तरात्, "मनः प्राणे" इत्युत्तराच्छब्दात् । एवं सर्वेन्द्रियसंयुक्तं मनः प्राणेन संयुज्यते इति सिद्धम् ॥ ३ ॥ इति मनोऽधिकरणम् ॥ २ ॥

सू॰ सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ । २ । ४ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) प्राणो जीवेन संयुज्यते । कुतः ? "एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायान्ति, तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, कस्मिन्न्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठितः स्यामि"ति तदुपगमादिबोधकवाक्येभ्यः जीवसंयुक्तस्य प्राणस्य तेजसि सम्पत्तिरिति फलितोऽर्थः ॥ ४ ॥

---

(१) प्राणेन संयुज्यते इत्यपि पाठो दृश्यते ।

(वे०कौ०) "एवं मनः प्राणे" इति वाक्यस्यार्थो दर्शितः । इदानीं प्राणस्तेजसीति वाक्यस्यार्थमाह ।

"प्राणस्तेजसी"ति वाक्ये किं प्राणस्तेजसि सम्पद्यते, उत जीवे ? इति सन्देहे, यथा पूर्वत्र शब्दानुरोधेन वाचो मनसि सम्पत्तिर्मनसः प्राणे सम्पत्तिः "तद्वत्प्राणस्तेजसी"त्युत्तरवाक्येऽपि शब्दादेव निश्चीयते प्राणस्तेजस्येव सम्पद्यत इति पूर्वः पक्षः । तत्रोच्यते । यत्र मनसः सम्पत्तिः सः प्राणः, अध्यक्षे देहेन्द्रियाध्यक्षे जीवे सम्पद्यते, तेन संयुज्यते इत्यर्थः । कुतः ? तदुपगमादिभ्यः तस्योपगमानुगमनप्रतिष्ठानेभ्यः । तत्र तस्य प्राणस्याध्यक्षोपगमस्तावच्छ्रूयते । "यथा राजानं यात्रेच्छावन्तं सन्तं भृत्या आभिमुख्येनागच्छन्ति, एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ती"त्यध्यक्षेण सह प्राणस्यानुगमनञ्च श्रूयते । "यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती"त्यध्यक्षेण सह प्राणस्य प्रतिष्ठा च श्रूयते । "कस्मिन्नुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठितः स्यामि"ति जीवेन सह प्राणस्य तेजस्यपि सम्पत्तिः । तस्मात्प्राणो जीवेन संयुज्य पुनस्तेन सह तेजसा संयुज्यत इति सिद्धम् ॥ ४ ॥ इत्यध्यक्षाधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ४ । २ । ५ ॥

(वे०पा०सौ०) सा च जीवसंयुक्तस्य तस्य तेजःसहितेषु भूतेषु भवति "पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमय" इति सञ्चरतो जीवस्य सर्वभूतमयत्वश्रवणात् ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) अध्यक्षेण संयुज्य तेजसा प्राणः संयुज्यते, इत्युपपादितमिदानीं तेजःशब्देन किं ग्राह्यमिति विचार्यते ।

तदुपगमादिभ्योऽध्यक्षसंयुक्तस्य प्राणस्य तेजसि सम्पत्तिर्भे-

वतु तावत्, अथ सा किं तेजोमात्रे, आहोस्वित्तेजःसहितेषु भूतेषु ? इति संशये, प्राणस्तेजसीति शब्दात्तेजोमात्रे इति प्राप्ते, उच्यते—भूतेष्विति । तेजसि तेजःसहितेषु भूतेष्वित्यर्थः । कुतः ? तच्छ्रुतेः, "पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमय" इति सञ्चरतो जीवस्य सर्वभूतमयत्वश्रवणात् ॥ ५ ॥

सू॰ नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ४ । २ । ६ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) एकस्मिंस्तु स न सम्भवति "तासां त्रिवृतमेकैकां करवाणि, नानावीर्य्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना । नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥" इति श्रुतिस्मृती एकैकस्य कार्य्याक्षमत्वं दर्शयतः ॥ ६ ॥

(वे॰कौ॰) ननु "पृथिवीमय" इति श्रुतिस्तु तेजआदिष्वे-कैकस्मिन्क्रमेण सम्पत्तावप्युपपद्यते, इत्यत आह ।

हि यतः "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि, नानावीर्य्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना । नाशक्नुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥ समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः । महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ॥" इति श्रुतिस्मृती एकैकस्य कार्य्यानर्हत्वं दर्शयतः । अत एकस्मिन्नाम तेजःप्रभृतिष्वेकैकस्मिन्क्रमेण जीवसंयुक्तस्य प्राणस्य सम्पत्तिर्न संभवति, तस्मात्प्राणस्तेजसीत्यस्मिन्वाक्ये तेजःशब्दो भूतान्तरसंयुक्ततेजोवाचकोऽतः सर्वेषु भूतसूक्ष्मेषु सा संपत्तिरिति सिद्धम् ॥६॥ इति भूताधिकरणम् ॥४॥

सू॰ समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वञ्चानुपोष्य ॥४ । २ । ७॥

(वे॰पा॰सौ॰) "शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ती"ति ना-

डीविशेषेण विदुषोऽप्युत्क्रम्य गतिः श्रूयते । एवंसति विदुषां नाडीप्रवेशलक्षणगत्युपक्रमात् प्रागुत्क्रान्तिः समानैव । यत्तु "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवती"ति विदुष इहैवामृतत्वं श्रूयते, तदिन्द्रियादिसम्बन्धमदग्ध्वैवोत्तरपूर्वाघाश्लेषविनाशलक्षणमुपपद्यते ॥ ७॥

(वे०कौ०) इदानीमुक्तप्रकारोत्क्रान्तिर्विद्वदविद्वत्समाना भवति न वेति विचार्यते ।

किमियमुत्क्रान्तिरविदुष एवाहोस्विद्विद्वदविदुषोः समानैवेति ? सन्देहे, "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।" इति बृहदारण्यके विदुषोऽत्रैवामृतत्वप्राप्तिश्रवणादविदुष एवेति प्राप्ते, उच्यते—समाना चासृत्युपक्रमादिति । चशब्दोऽवधारणे, आङ्मर्यादायाम् । आसृत्युपक्रमाद्विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिः समानैव । सृतिर्गतिरर्चिरादिका, तस्या उपक्रमो नाडीप्रवेशलक्षणस्तस्मात्प्रागित्यर्थः । मूर्द्धन्यनाड्योत्क्रम्य विदुषोऽपि छान्दोग्ये गतिः श्रूयते "शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्द्धमायन्नमृतत्वमेति विश्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ती"ति । नाडीप्रवेशे तु विशेषः श्रूयते "तस्य हैतस्य हृदयाग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्द्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरप्रदेशेभ्य" इति। इह मूर्द्ध्नै उत्क्रान्तिर्ब्रह्मजिगमिषोर्विदुषः चक्षुरादिभ्यः स्वर्गं नरकं वा गच्छतोऽविदुषश्चेति विशेषः । अमृतत्वञ्चानुपोष्येति । चशब्दोऽवधारणे । अनुपोष्यैव उप दाहे इत्यस्य रूपम् । देहेन्द्रियादिसम्बन्धमदग्ध्वैवामृतत्वमुत्तरपूर्वाघाश्लेषविनाशरूपं वरप्राप्यते तत् "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवती"ति वाक्येनोच्यते । अत्र "ब्रह्म सम-

श्नुते" इति वाक्यस्य चानुभवेनोपासनकाले ब्रह्म समश्नुते इत्यर्थः। अतो विदुषोऽप्युत्क्रान्तिरुपपद्यते ॥ ७ ॥

सू॰ तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ४ । २ । ८ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) तदमृतत्वं देहसम्बन्धमदग्ध्वैव बोध्यम्। कुतः? "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य" इत्यापिमुक्तेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

(वे॰कौ॰) तदमृतत्वमदग्धदेहादिसम्बन्धस्यैव मन्तव्यम्। कस्मात्? "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामी"ति च आपीतेः संसारव्यपदेशात्। अपीतिर्ब्रह्मभावापत्तिः, साऽचिरादिकया सृत्या देशविशेषं गत्वा भवति, तदर्वाग्देहसम्बन्धरूपसंसारस्य व्यपदेशात् ॥ ८ ॥

सू॰ सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ४ । २ । ९ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) सूक्ष्मं शरीरमनुवर्त्तते "विदुषस्तं प्रति ब्रूयात् सत्यं ब्रूयादि"ति प्रमाणतस्तद्भावोपलब्धेः ॥ ९ ॥

(वे॰कौ॰) इतोऽप्यदग्धदेहसम्बन्धस्यैवामृतत्वम् "अथ मर्त्योऽमृतो भवती"ति वाक्येनोच्यते विदुषो, यतः सूक्ष्मं शरीरमनुवर्त्तते। कुतः? प्रमाणतस्तथोपलब्धेः। "देवयानेन व्रजतो हि विदुषस्तं प्रति ब्रूयात्सत्यं ब्रूयादि"ति चन्द्रमसा सम्वादबोधकं वचनं प्रमाणमस्ति। तस्मात् प्रमाणात् सूक्ष्मशरीरसद्भावोपलब्धेः ॥ ९ ॥

सू॰ नोपमर्देनातः ॥ ४ । २ । १० ॥

(वे॰पा॰सौ॰) अतः "अथ मर्त्योऽमृतो भवती"ति देहसम्बन्धो-

पमर्देनामृतत्वं वदति ॥ १० ॥

(वे०कौ०) अतो हेतुपूगात् "अथ मर्त्योऽमृतो भवती"ति श्रुतिर्न देहसम्बन्धोपमर्देनामृतत्वमाह ॥ १० ॥

सू० अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॥ ४ । २ । ११ ॥

(वे०पा०सौ०) स्थूलदेहे सूक्ष्मदेहस्यैव धर्म्मभूत उष्मोपलभ्यते, तस्मिन्नसति तदनुपलब्धेरित्युपपत्तेः ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) अस्य सूक्ष्मशरीरस्यैव धर्म्मभूतः स्थूलशरीरे जीवदवस्थायामूष्मोपलभ्यते। कुतः ? उपपत्तेः, सति सूक्ष्मशरीरे स्थूलशरीरेऽप्यूष्मोपलब्धेः, असति तस्मिंस्तत्रापि तदनुपलब्धेः, इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामूष्मणः सूक्ष्मशरीरधर्म्मत्वोपपत्तेः। इतोऽपि विद्वदविदुषोरा सृत्युपक्रमात्समानैवोत्क्रान्तिरित्यर्थः॥११॥

सू० प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ ४ । २ । १२ ॥

(वे०पा०सौ०) अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ती"ति विप्रतिषेधाद्विदुष उत्क्रान्तिरनुपपन्नेति चेत्। नायं विरोधः, यतोऽयं प्राणानामुत्क्रान्तिप्रतिषेधाद्विदुषः प्रकृताच्छरीरात्तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्तीति स्पष्ट एकेषां पाठे। तस्मादेव तेषामुत्क्रान्तिप्रतिषेधः श्रूयते ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) ननु "समाना चासृत्युपक्रमादि"त्यादिना प्रतिपादिता विदुषोऽप्युत्क्रान्तिः, सा न युक्ता, "अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येती"त्यादिकाण्वश्रुतेर्विदुषः शरीरादुत्क्रान्तिप्रतिषेधादिति चेन्न। शरीरादयमुत्क्रान्तिप्रतिषेधो न भवति। "अथाऽकामयमानः" इति प्रकृतं शारीरं तच्छब्देन परामृश्य "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ती"त्यनेन वाक्येन शारीराज्जीवात्तेषामुत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यते। तस्येति षष्ठ्या प्राणसम्बन्धि-

त्वेनाप्रकृतस्य शरीरस्य निर्देशाभावात् । "तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते" इत्यादिना संसारावस्थायां शरीरारम्भाय शारीरस्य प्राणानामुत्क्रान्तिः प्राप्ता सा निषिध्यते । विदुषः प्रारब्धकर्म्मोपस्थापितचरमशरीरवियोगकाले प्राणानां वियोगः प्राप्तस्तदपि निषिध्यते । देवयानेन पथा व्रजता तेन सहैव गच्छन्ति ब्रह्मप्राप्तेः प्राक्(१) न विश्लिष्यन्ते इत्यर्थः । एकेषां शाखिनां माध्यन्दिनानां पाठे तु "योऽकामो निष्काम आप्तकाम" इति प्रकृतात् न तस्मात् प्राणाः उत्क्रामन्तीति पञ्चम्या विभक्त्याऽपादानत्वेन निर्दिष्टाच्छरीरात्प्राणानामुत्क्रान्तिनिषेधः स्पष्ट एव श्रूयते ॥ १२ ॥

सू० स्मर्य्यते च ॥ ४ । २ । १३ ॥

(वे०पा०सौ०) "सन्निरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु वै । जगाम भित्वा मूर्द्धानं दिवमभ्युत्पपात ह"ति विदुष उत्क्रान्तिः स्मर्य्यते ॥१३॥

(वे०कौ०) स्मर्य्यते हि विदुष उत्क्रान्तिर्महाभारते "सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः । देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः" ॥ इति अनया स्मृत्या परब्रह्मप्राप्तिमार्गस्य दुर्गमत्वमप्युक्तम् । अपदस्येतिपदेन विदुषः सूक्ष्मशरीरविशिष्टस्य स्थूलशरीररहितत्वमुक्तम् । पदैषिण इत्यनेन स्थानविशेषः सूचितः । दानधर्म्मान्ते(२) च स्मर्य्यते "तस्योर्द्ध्वमगमन्प्राणाः सन्निरुद्धा महात्मनः" इत्युपक्रम्य, "सन्निरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु वै । जगाम भित्वा मूर्द्धानं दिवमभ्युत्पपात ह ॥" इति । आह च याज्ञवल्क्यः "ऊर्द्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्य्यमण्डलम् । ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिमि"ति । तस्माद्वि-

(१) नदीतीरे । (२) महाभारते ।

दुषोऽप्युत्क्रान्तिरस्त्येवेति सिद्धम् ॥१३॥ इत्यासृत्युपक्रमाधिकरणम् ५

सू० तानि परे तथा ह्याह ॥ ४ । २ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) तेजःप्रभृतिभूतसूक्ष्माणि परस्मिन्सम्पद्यन्ते। "तेजः परस्यां देवतायामि"त्याह श्रुतिः ॥ १४ ॥

(वे०कौ०) इदानीमवशिष्टस्य क्रमप्राप्तस्य "तेजः परस्यां देवतायामि"त्यस्यार्थमाह ।

वागादिसहितः प्राण उत्क्रान्तिसमयेऽध्यक्षद्वारा तेजःप्रभृतिषु भूतसूक्ष्मेषु सम्पद्यते इत्युक्तम् । तानि विदुषः सूक्ष्मदेहावयवरूपाणि वागादिप्राणान्तरसहितानि भूतसूक्ष्माणि स्वकार्य्याय यथोपयोगं गच्छन्ति, किं वा परमात्मनि समवलीयन्ते ? इति संशये, यथोपयोगं गच्छन्तीति प्राप्ते, ब्रूमः-तानि परे परस्मिन् सर्वात्मनि ब्रह्मणि सम्पद्यन्ते । कुतः ? हि यतः श्रुतिरेव तथा सुषुप्तिप्रलययोरिव विश्रामस्थानतया परमात्मानमाह "तेजः परस्यां देवतायामि"ति । तेज इति, वागादिप्राणान्तप्रवेशस्थानभूतानि तेजःप्रभृतिभूतसूक्ष्माणि परमकारणे समवलीयन्ते । स्थूलदेहादुत्क्रम्य विद्योपस्थापितं सूक्ष्मशरीरमाश्रित्याचिरादिमार्गेण सरिद्वरां विरजां प्राप्य परस्मिन् सूक्ष्मशरीरं हित्वा परभावं विद्वान्प्राप्नोतीति भावः । अतस्तानि परे समवलीयन्त इति सिद्धम् ॥ ॥१४॥ इति परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

सू० अविभागो वचनात् ॥ ४ । २ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) तेषां वागादिभूतसूक्ष्माणां परेऽविभागस्तादात्म्यापत्तिः "भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते" इति वचनात् ॥१५॥

(वे०कौ० इदानीं सा सम्पत्तिः किमाकारेति विचार्य्यते ।

विद्वत्परित्यक्तसेन्द्रियप्राणसंयुक्तभूतसूक्ष्मसम्पत्तिः किं वागादेर्मनआदाविव संयोगरूपा, उत समुद्रे नद्यादिसम्पत्तिवत्ता-

दात्म्यरूपेति ? सन्देहे, संयोगरूपैव "वाङ्मनसि सम्पद्यते" इति प्रथमवाक्यस्थस्य सम्पद्यत इत्यस्य पदस्य सर्वत्र संयोगबोधकतयैवान्वितत्वादिति प्राप्ते, उच्यते—वागादेर्मनआ (च)-द्युपादानकत्वाभावात्संयोगरूपा सम्पत्तिरिष्टा, सर्वकारणे ब्रह्मणि तु तेषामविभागः, तादात्म्यापत्तिरूपा सम्पत्तिरित्यर्थः। कुतः? वचनात् "एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती"ति परे ब्रह्मणि कलानां सम्पत्तिमुक्त्वा "भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते, स एषोऽकलोऽमृतो भवती"ति श्रवणात्। यद्यपि वागादिदशेन्द्रियाण्यन्तरिन्द्रियमेकं मनः पञ्चभूतसूक्ष्मरूपाणि तन्मात्राणि प्राणश्चैक इति सप्तदशकलाः सूक्ष्मशरीरे सन्ति, तथाऽपि प्राणस्पर्शतन्मात्रयोरेकत्वविवक्षया श्रुतौ षोडशेत्युक्तम्। अतस्तेषां जगत्कारणे परमात्मनि तादात्म्यापत्तिरूपा सम्पत्तिरिति सिद्धम् ॥ १५ ॥ इत्यविभागाधिकरणम् ॥ ७ ॥

सू॰ तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ ४ । २ । १६ ॥

(वे॰पा॰सौ॰) "शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेती"ति श्रुत्युक्ता नाडी वर्त्तते। तां विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च प्रसन्नेन वेधेनानुगृहीतो यदा भवति ततस्तस्यौको हृदयमग्रज्वलनं भवति तदा परमेश्वरप्रकाशितद्वारस्तां विदित्वा विद्वान् तया निष्क्रामति ॥ १६ ॥

(वे॰कौ॰) "समाना चासृत्युपक्रमादि"त्यत्र विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिः समाना वर्णिता। विद्वल्लिङ्गशरीरस्य परे सम्पत्तिरविभा-

गश्चोक्तः । इदानीं विद्वदुत्क्रान्तौ विशेष उच्यते ।

"शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ती"ति श्रुतौ शताधिकया मूर्द्धन्यया नाड्या विदुषोऽन्याभिरविदुषश्च निष्क्रमणमित्येवम्भूत उत्क्रान्तौ विदुषो विशेषोऽस्ति न वेति ? सन्देहे, नास्ति विशेषः नाडीविशेषज्ञानासम्भवादिति प्राप्ते, ऽभिधीयते—हार्दानुगृहीत इति । "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट" इत्येवम्भूतो हार्दः श्रीमत्पुरुषोत्तमस्तेन स्वानन्यवशीभूतेन सर्वावस्थासु तदनुरूपबुद्धियोगदात्राऽनुगृहीतः । इयं सा नाडी ययोत्क्रम्य "मम साधर्म्यं यास्यसी"ति प्रतिबोधित इत्यर्थः, "ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" इति श्रीमुखवचनात् । तदनुग्रहादेव "स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामती"ति श्रुतिप्रोक्तं तस्य हार्दानुग्रहपात्रीभूतस्य विदुष ओकः स्थानमग्रज्वलनं भवति । अग्रे ज्वलनं प्रकाशनं यस्येत्येवमनुकूलं भवति । तत्प्रकाशितद्वारस्तेनैव हार्देन प्रकाशितं द्वारं नाडीमूलं यस्मै स विद्वाञ्छताधिकया हृदयादुद्गतया मूर्द्धानं गतया सूर्य्यरश्मिभिरेकीभूतया नाड्यैव निष्क्रामति । भगवति वैषम्याभावं दर्शयन्ननुग्रहबीजमाह–विद्यासमर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च । विद्यापरिपाकजन्यवेद्यवशीकरणलक्षणवेत्तृसामर्थ्यात् । मम कदाऽनया वेदान्तगीतया वेदान्तवेद्यप्राप्तिर्भविष्यतीति विद्याशेषसृत्यनुस्मृतियोगाच्च तेनानुगृहीत इत्यर्थः । तस्माद्विदुषो नाडीविशेषेणोत्क्रमणमिति सिद्धम् ॥ १६ ॥ इति तदोकोऽधिकरणम् ॥ ८ ॥

सू० रश्म्यनुसारी ॥ ४ । २ । १७ ॥

(वे०पा०सौ०) विद्वान्मूर्द्धन्यया नाड्या निष्क्रम्य सूर्य्यरश्मीननुसार्य्यैवोर्द्ध्वं गच्छति "तैरेव रश्मिभिरि"त्यवधारणात् ॥ १७ ॥

(वे०कौ०) मूर्द्धन्यया विद्वान्निष्क्रामतीत्युक्तमिदानीं तया निष्क्रान्तस्य गतौ रश्म्यनुसारित्वं नियतमस्ति न वेति विचार्य्यते।

"अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्द्ध्वमाक्रमते" इत्याद्युक्त्वा "तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेती"ति छान्दोग्ये उत्क्रमतो मूर्द्धन्यया निष्क्रामन्रश्मीननुसृत्यादित्यमण्डलं गच्छती"ति गम्यते। तत्र संशयः गतौ सूर्य्यरश्म्यनुसारित्वं विदुषो नियतमुतानियतमिति ? तत्र रात्रौ स्थूलदेहान्मूर्द्धन्यया निष्क्रान्तस्य सूर्य्यरश्म्यनुसारित्वाभावान्न विदुषस्तद्रश्म्यनुसारित्वं नियतमिति प्राप्ते, ब्रूमः—रश्म्यनुसार्य्येव विद्वान् गच्छति "अथैतैरेव रश्मिभिरित्यवधारणात्"। रात्रावपि रश्मयो देहे औष्ण्योपलम्भाद्विद्यन्ते, हेमन्ते तु निशि तुषारनिकराभिभवादनुपलब्धिः। सर्वदा नाडीरश्म्यन्योन्यसम्बन्धश्च श्रूयते, तद्यथा "महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमञ्चामुञ्चैवमेवैत आदित्यस्य रश्मयः उभौ लोकौ गच्छन्तीमञ्चामुञ्च, अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते त आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता" इति। तस्माद्विदुष उर्द्ध्वगतौ सूर्य्यरश्म्यनुसारित्वं नियतमेवेति सिद्धम् ॥ १७ ॥ इति रश्म्यनुसार्य्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

सू० निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥ ४ । २ । १८ ॥

(वे०पा०सौ०) निशि मृतस्य विदुषो न परप्राप्तिरिति न वाच्यम्, यावद्देहभाविकर्म्मसम्बन्धापगमात्तस्य तत्प्राप्तिः स्यादेव "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति श्रुतेः ॥ १८ ॥

(वे०कौ०) इदानीं निशि मृतस्य परब्रह्मप्राप्तिर्विचार्य्यते। निशि मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिः किं भवति, उत नेति ?

शङ्कायाम् "दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च। मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितमि"ति वचनान्निशामरणस्याप्रशस्तत्वान्निशि मृतस्य सूर्य्यरश्मिलाभेऽपि ब्रह्मप्राप्तिर्नेति चेत्। न, एवं पक्षो न युक्तः। कुतः? सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्, उत्तरपूर्वयोः शुभाशुभलक्षणयोः कर्म्मणोर्विद्ययाऽश्लेषविनाशसम्भवात्। प्रारब्धकार्य्यकर्म्मसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वेन देहपाते सति विनाशसम्भवात् प्रतिबन्धाभावान्निशि मृतस्य विदुषोऽर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मप्राप्तिः स्यादित्यर्थः। दर्शयति च श्रुतिः "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति। "दिवा च शुक्लपक्षश्चे"त्यादिवचनं त्वविद्वद्विषयम्। तस्मान्निशि मृतस्यापि विदुषो ब्रह्मप्राप्तिरिति सिद्धम्॥ १८॥ इति निशाधिकरणम्॥ १०॥

सू० अतश्चायनेऽपि दक्षिणे॥ ४। २। १९॥

(वे०पा०सौ०) उक्तहेतोर्दक्षिणायनेऽपि मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिः॥ १९॥

(वे०कौ०) इदानीं दक्षिणायने मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिश्चिन्त्यते।

किं दक्षिणायने मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिरस्ति, न वेति? संशये, भीष्मस्य ब्रह्मविद उत्तरायणप्रतीक्षादर्शनात् न प्राप्नोतीति प्राप्ते, अतिदिशः—अत एव हेतोः कर्म्मसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वादेव दक्षिणायनेऽपि मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिरिष्टा। भीष्मस्योत्तरायणप्रतीक्षा तु धर्म्मप्रवर्त्तनार्थं स्वच्छन्दमरणशक्तिज्ञापनार्थं च॥ १९॥

सू० योगिनः प्रति स्मर्य्यते स्मार्त्ते चैते॥ ४। २। २०॥

(वे०पा०सौ०) "यत्र काले त्वनावृत्तिमि"त्यादिना च योगिनः

प्रति सृतिद्वयं स्मर्य्यते (स्मार्य्यते) । ते चैते स्मरणार्हेऽतो न कालविशेषनियमः ॥ २० ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्क्कं बि० शा० मी० वाक्यार्थे बे०पा०सौरभे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

ननु "यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिश्चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ! ॥ अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥ शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥" इति ब्रह्मनिष्ठान्मुमुक्षून्प्रति अपुनरावृत्तिहेतुत्वेन कर्म्मनिष्ठान्प्रति पुनरावृत्तिहेतुत्वेन च कालविशेषविधिरस्ति, तस्माद्दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिर्न युक्तेति चेन्न । यतो योगिनो ब्रह्मनिष्ठान्कर्म्मनिष्ठांश्च प्रति देवयानाख्यसृतिः पितृयानाख्यसृतिश्च स्मर्य्यते । यतश्चैते स्मार्त्ते स्मृतिविषयभूते ज्ञानाङ्गत्वकर्म्माङ्गत्वाभ्यां स्मरणार्हे "नैते सृती पार्थ ! जानन्योगी मुह्यति कश्चने"त्युपसंहारात् । स्मृतौ "यत्र काले" इति कालशब्देन कालाभिमानिदेवतायुक्तो मार्गो गृह्यते । तथा च यत्र काले यस्मिन्नहरात्राभिमान्यातिवाहिकदेवतायुक्ते मार्गे इत्यर्थः, अग्निधूमयोः कालत्वासम्भवात् , अतो न कालविशेषनियमः । तस्माद्दक्षिणायनेऽपि मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ २० ॥ इति दक्षिणायनाधिकरणम् ॥ ११ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्तकाचार्य्य श्रीमन्निम्बार्क्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादः ॥ २ ॥

चतुर्थाध्याये तृतीयपादारम्भः ।

सू०अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ ४ । ३ । १ ॥

(वे०पा०सौ०) एक एव मार्गोऽर्चिरादिर्ज्ञेयोऽतस्तेनैव विद्वांसो गच्छन्ति "अर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इति छान्दोग्ये "तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं एति वैद्युतात्पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान्गमयती"ति बृहदारण्यकेऽन्यत्रापि तथैव प्रसिद्धेः ॥ १ ॥

(वे०कौ०) एवं पूर्वपादे विदुष उत्क्रान्त्यादिकं चिन्तितमिदानीं तस्य ब्रह्मप्राप्तये गतिश्चिन्त्यते ।

वेदान्तेषु बहुविधो मार्गः श्रूयते । तत्र बृहदारण्यकेऽर्चिरादिनेकः श्रूयते "य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं एति वैद्युतात्पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान्गमयती"ति । तत्रैवान्यप्रकारः श्रूयते "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र (१)विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्द्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा डम्बरस्य खं तेन स ऊर्द्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्द्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छती"ति । कौषीत-

(१) मार्गं ददाति ।

किन्तथ प्रकारान्तरेण मार्गमाहुः "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इ(च)न्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकमि"ति । छान्दोग्ये च प्रकारान्तरेण सः श्रूयते "अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदु च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इति । तत्रैव नाडीरश्मिसम्बन्धेन पुनः श्रूयते "अथैतैरेव रश्मिभिरूर्द्धमाक्रमते" इति "सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्तीत्ये"वमन्यत्र प्रकारान्तरेण सः श्रूयते । तत्र संशयः किं परस्परं भिन्नाः मार्गाः श्रुतिभिः प्रतिपाद्यन्ते, उताचिरादिरेक एवेति । तत्र नानारूपत्वात्परस्परं भिन्ना एव श्रुतिभिः प्रतिपाद्यन्त इति प्राप्ते, उच्यते—सर्वाभिः श्रुतिभिरर्चिरादिरेक एव मार्गः प्रतिपाद्यते, तेनैवार्चिरादिना ब्रह्मविदो गन्तुमर्हन्ति । कुतः ? तत्प्रथितेः, सर्वत्र श्रुतिष्वर्चिरादिमार्गैकदेशप्रत्यभिज्ञानात्तस्यार्चिरादेरेव मार्गस्य प्रथितेः प्रसिद्धेरित्यर्थः । तस्मात्सर्वासु श्रुतिषु सर्वेषामन्यत्रोक्तानां पर्वणामन्यत्रोपसंहारेण सर्वविशेषणविशिष्टोऽर्चिरादिमार्ग एक एव प्रतिपाद्यत इति सिद्धम् ॥१॥

इत्यर्चिराद्यधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ ४ । ३ । २ ॥

(वे०पा०सौ०) छान्दोग्यश्रुतिपठितात्सम्वत्सरादूर्ध्वमादित्यात्पूर्वमग्निलोकमागच्छति "स वायुलोकमि"ति कौषीतकिश्रुत्युक्तं वायुमभिसम्भवन्ति अविशेषविशेषाभ्याम् "अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमि"त्यत्र वायोरविशेषेणोपदिष्टत्वात्, "तस्मै तत्र विजिहीते यथा

रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्द्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छती"त्यत्र विशेषावगमाच्च ॥ २ ॥

(वे०कौ०) सर्वत्र एक एवार्च्चिरादिमार्ग इत्युक्तमिदानीमन्यत्रोक्तानां तदवयवानां सन्निवेशप्रकारो निर्णीयते ।

"मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमि"ति बृहदारण्यकश्रुतौ मासादित्ययोर्मध्ये देवलोकः "मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यमि"ति छान्दोग्यश्रुतौ तु तयोर्मध्ये सम्वत्सरः श्रूयते । तयोरुभयोरुभयत्रोपसंहारः कार्य्यः, उभयत्र मार्गैक्यात् । तत्र बृहदारण्यकश्रुतिप्रोक्तयोर्मासदेवलोकयोरन्तराले सम्वत्सरः सन्निवेशयितव्यः, अह्नोऽनन्तरं पक्षस्ततः षण्मासास्तेभ्यः सम्वत्सरस्योचितत्वात् । छान्दोग्यश्रुत्युक्तयोः सम्वत्सरादित्ययोरन्तराले देवलोकः सन्निवेशयितव्यः । एवंसति बृहदारण्यकश्रुतौ "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स उर्द्ध्वमाक्रमते आदित्यमागच्छती"त्यादित्यात्पूर्वं वायुः श्रुतः । कौषीतकीश्रुतौ तु "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमि"त्यग्निलोकशब्दितादर्चिरात्मकादग्नेरनन्तरं वायुः श्रुतः । तत्र संशयः किमर्चिरात्मिकादग्नेरनन्तरं वायुं विद्वान्गच्छति, उत प्रदर्शितस्थानादब्दादनन्तरमादित्यात्पूर्वमिति ? तत्र "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमि"ति पाठबलात्कार्य्यकारणयोः सामीप्यसम्भवाच्चाग्नेरनन्तरमिति प्राप्ते, उच्यते—वायुमब्दादिति । अब्दात्सम्वत्सरादनन्तरमादित्यात्पूर्वं वायुं विद्वान् विशति । कुतः ? अविशेषविशेषाभ्याम् । अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमि"ति कौषीतकीश्रुतौ वायोर्यद्यप्यग्नेरनन्तरपाठोऽस्ति, तथाऽपि कुतश्चिद्वायोः परत्वं पूर्वत्वं वा गम-

नक्रमे विशेषतो न ज्ञायते, किन्त्वविशेषेण वायुरुपदिष्टः । यथा छात्रो गुरुगृहान्निष्क्रम्य भिक्षार्थं चैत्रगृहं मैत्रगृहं गच्छतीत्येताव-ता चैत्रगृहानन्तरं मैत्रगृहं स गच्छतीति विशेषो न निश्चीयते, तद्वत् । "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति त-स्मै तत्र स विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्द्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छती"ति बृहदारण्यकश्रुतौ तु आदित्यात्पूर्ववर्त्तित्वेन विशेषेण वायुरुपदिष्टः । ताभ्यामविशेषविशेषाभ्यामित्यर्थः । पूर्वोदाहृतबृहदारण्यकश्रुतिस्थदेवलोकशब्दो वायुपरः, देवानां लोको वासस्थानं देवलोक इत्यर्थः । कौषीतकीश्रुतिगतवायुलोकशब्दे कर्म्मधारय एव समाश्रयणीयः, सूत्रकारेणापि वायुमब्दादित्युक्तत्वात् , "स वायुमागच्छती"ति श्रौतप्रयोगाच्च । वायोर्देवानां वासस्थानत्वाल्लोकत्वं सङ्गच्छते "योऽयं पवते एष एव देवानां गृहा" इति श्रुतेः । तस्माद्वायोरब्दादित्ययोरन्तराले सन्निवेश इति सिद्धम् ॥ २ ॥ इति वाय्वधिकरणम् ॥२॥

सू० तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ॥ ४ । ३ । ३ ।

(वे०पा०सो०) "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापति-लोकं स ब्रह्मलोकमि"ति कौषीतकिश्रुत्युक्तो "वरुणश्चन्द्रमसो विद्युत-मि"ति छान्दोग्यश्रुत्युक्तविद्युत उपरि तेजो विद्युद्वरुणसम्बन्धादिन्द्रप्र-जापती च तदूर्ध्वे योज्यौ ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) एवं कौषीतकिश्रुत्युक्तस्य वायोरर्चिरादिमार्गे स्थानमुक्तमिदानीं तदनन्तरश्रुतस्य वरुणस्य स्थानमाह ।

कौषीतकिश्रुत्युक्तो वरुणः किं "स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकमि"ति पाठक्रमाद्वायोरुपर्य्येव युक्तः, उत बृह-दारण्यकश्रुतौ वायोरग्रे आदित्यस्य श्रवणादन्यत्र यथासम्भवं नि-

वेशयितव्यः ? इति संशयः । तत्र पाठक्रमाद्वायोरुपर्य्येव युक्तोऽश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति प्राप्ते, उच्यते—तडितोऽधिवरुण इति । "तडितश्चन्द्रमसो विद्युतमि"ति छान्दोग्यश्रुत्युक्ताया विद्युतोऽप्युपरि वरुणः सम्बन्ध्यते । कुतः ? सम्बन्धात्, विद्युद्वरुणयोः सम्बन्धात् इन्द्रप्रजापती उक्तस्थानाद्वरुणादधिनिवेशयितव्यौ । तस्मात्पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्तडितोऽधिवरुणः सम्बन्ध्यत इति सिद्धम् ॥ ३ ॥ इति वरुणाधिकरणम् ॥ ३ ॥

सू० आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ । ३ । ४ ॥

(वे०पा०सौ०) अर्चिरादयो गन्तॄणां गमयितारः "स एतान्ब्रह्म गमयती"त्यमानवस्य गमयितृत्वश्रवणात् पूर्वेषामपि गमयितृत्वं गम्यते ।४।

(वे०कौ०) एवमर्चिरादीनां प्राजापत्यन्तानां द्वादशसङ्ख्याकानां मार्गपर्वणां क्रमविशेषो दर्शितः । इदानीं तु विदुषोऽर्चिरादयो यत्कार्य्यं कुर्वन्ति तच्चिन्त्यते ।

किं ब्रह्मजिगमिषोर्विदुष एतेऽर्चिरादयो मार्गचिह्नभूताः, आहोस्विद्भोगभूमयः, उतातिवाहिकाः ? इति सन्देहः । तत्र मार्गचिह्नभूताः भवन्तु, वृक्षपर्वतादिवत्, "अग्निलोकं वायुलोकं वरुणलोकमि"त्यादिषु लोकत्वेन श्रूयमाणा भोगभूमयो वा भवन्तु इति प्राप्ते, उच्यते—आतिवाहिका इति । अतिवाहे भवा आतिवाहिकाः भगवदाज्ञया भागवतानां विदुषामतिवोढारः इत्यर्थः । कुतः ? तल्लिङ्गात् । उपसंहारे "तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयती"त्यमानवस्य पुरुषस्य गन्तॄणां गमयितृत्वश्रवणात् । तच्च गमयितृत्वलक्षणं लिङ्गं पूर्वेषामर्चिरादीनामपि गमयितृत्वं सूचयति । अर्चिरादयः शब्दास्तदभिमानिदेवताविशेषपरा ज्ञेयाः ॥ ४ ॥

सू० वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ४ । ३ । ५ ॥

(वे०पा०सौ०) विद्युत उपरिष्टादमानवेनैव विद्वान्नीयते । वरुणादयस्तु साहित्येनोपकारकाः ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) ननु "चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयती"ति श्रवणादमानवस्यैव पुरुषस्य विद्युल्लोकाद्गमयितृत्वं प्राप्नोति, विद्युतः परेषां वरुणेन्द्रप्रजापतीनामातिवाहिकत्वं न प्राप्नोतीत्यत आह ।

"चन्द्रमसो विद्युतमि"ति विद्वत्प्राप्तेरूर्ध्वं वैद्युतेनैव विद्युत्पर्य्यन्तागतेनामानवेनैवाऽऽब्रह्मप्राप्तेर्विद्वान्नीयते विद्युल्लोकं, विद्वद्रोढृत्वेनागतो मानवो वैद्युत इत्युच्यते । कुतः ? तच्छ्रुतेः, "स एतान्ब्रह्म गमयती"ति छान्दोग्ये "तान्वैद्युतान्पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकं गमयती"ति बृहदारण्यके च तस्यामानवस्य गमयितृत्वश्रुतेः । अर्चिरादिविद्युदन्ताः नव प्राधान्येनातिवाहिकाः, वरुणेन्द्रप्रजापतयस्त्रयः सहकारित्वेनोपकारका इति विवेकः । विद्वान् स्थूलशरीरान्मूर्द्धन्यनाड्या निष्क्रम्य सूर्य्यरश्मीनारुह्य यदा परं पदं गन्तुमिच्छति तदाऽर्चिषोऽभिमानिनाऽऽतिवाहिकेन सुसत्कृत्य दिनाभिमानिनं, नीतस्तथैव तेन पक्षाभिमानिनं, तेन च षण्मासाभिमानिनं, तेन सम्वत्सराभिमानिनं, तेन वायुं, तेन स्वस्मिन्छिद्रं दत्वाऽऽदित्यं, तथैव तेन चन्द्रमसं, तेन विद्युदभिमानिनं देवताविशेषं नीतस्ततश्च वैद्युतपुरुषप्रधानं वरुणाद्यातिवाहिकत्रयं प्राप्य प्राकृतमण्डलं भित्वा विरजां प्राप्नोति । तदा परस्मिन् लिङ्गं हित्वा तां तीर्त्वा परब्रह्मलोकं प्रविश्य ब्रह्मसाधर्म्यं प्राप्नोति तस्मादर्चिरादय आतिवाहिका इति सिद्धम् ॥ ५ ॥ इत्यातिवाहिकाधिकरणम् ॥ ४ ॥

सू० कार्य्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ४ । ३ । ६ ॥

(वे०पा०सौ०) अर्चिरादिगणः कार्य्यं ब्रह्म तदुपासकान्नयति, का-

र्य्यस्य ब्रह्मण एव गत्युपपत्तेरिति बादरिर्मन्यते ॥ ६ ॥

(वे०कौ०) अर्चिरादिगतिर्निरूपिता इदानीं गन्तृविशेषो निर्णीयते ।

किमयमर्चिरादिकः आतिवाहिकगणः कार्य्य ब्रह्मोपासीनान्गमयति, उत परब्रह्मोपासकान् , अथवा परं ब्रह्मोपासीनान्प्रकृतिवियुक्तं प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मकतयोपासीनांश्च ? इति संशये, कार्य्यं हिरण्यगर्भाख्यं गमयति तदुपासकान् । कुतः ? अस्य कार्य्यस्यैव ब्रह्मणो देशविशेषवर्तिनो गत्युपपत्तेः, गन्तव्यत्वोपपत्तेः इति बादरिराचार्य्यो मन्यते ॥ ६ ॥

सू० विशेषितत्वाच्च ॥ ४ । ३ । ७ ॥

(वे०पा०सौ०) तेषु ब्रह्मलोकेषु "पराः परावन्तो वसन्ती"ति लोकशब्दबहुवचनाभ्यां विशेषितत्वाच्च ॥ ७ ॥

(वे०कौ०) "पुरुषो मानवः स एत्य ब्रह्मलोकान्गमयती"ति "तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावन्तो वसन्ती"ति च लोकशब्देन बहुवचनेन देशविशेषवर्त्तिनः कार्य्यब्रह्मण एव विशेषितत्वाच्च तदुपासकान् तदेव गमयति ॥ ७ ॥

सू० सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः॥ ४ । ३ । ८ ॥

(वे०पा०सौ०) प्रथमजत्वेन ब्रह्मसामीप्यात्तु "ब्रह्म गमयती"ति व्यपदेश उपपद्यते ॥ ८ ॥

(वे०कौ०) ननु परब्रह्मवाचकस्य ब्रह्मशब्दस्य नपुंसकस्य हिरण्यगर्भपरत्वं न सम्भवतीत्यत्राह ।

"यो ब्रह्माणं विदधाती"ति श्रुतेर्हिरण्यगर्भस्य कार्य्यब्रह्मणः प्रथमजत्वेन कारणभूतब्रह्मसामीप्यात्तु "स एतान्ब्रह्म गमयती"ति कारणवाचकेन नपुंसकलिङ्गेन व्यपदेश उपपद्यते ॥ ८ ॥

सू० कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥४ । ३ । ९॥

५३ अ० सू०

(वे०पा०सी०) कार्य्यब्रह्मलोकनाशे कार्य्यब्रह्मणा सह कार्य्यब्रह्मणः परं प्राप्नोति "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे" इत्यभिधानात् ॥ ९ ॥

(वे०कौ०) नन्वर्चिरादिमार्गो न हिरण्यगर्भलोकविषयः "एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमानाः इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इत्यर्चिरादिमार्गेण गतस्यापुनरावृत्तिश्रवणात्, "तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेती"त्यमृतत्वश्रवणाच्च हिरण्यगर्भलोकस्य सृष्टिसंहारविषयत्वात्, "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वमि"ति हिरण्यगर्भस्य जन्यत्वादिदोषवत्त्वात्तत्प्राप्तस्य "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन !" इति पुनरावृत्तिस्मरणाच्चेत्यत आह ।

कार्य्यात्यये हिरण्यगर्भलोकनाशे सति तदध्यक्षेण तल्लोकनाथेन विद्यावता सह तत्रापि विद्याधिकारात्स्वयमपि लब्धविद्योऽतः कार्य्यब्रह्मणो हिरण्यगर्भात्परं मूलभूतं ब्रह्म प्राप्नोति । कस्मात् ? अभिधानात् "तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेती"ति "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्त" इति "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे" इति चाभिधानात् ॥ ९ ॥

सू० स्मृतेश्च ॥ ४ । ३ । १० ॥

(वे०पा०सी०) "ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदमि"ति स्मृतेश्चोक्तार्थोऽवगम्यते ॥१० ॥

(वे०कौ०) "ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परम्पदमि"ति स्मृतेश्च हिरण्यगर्भप्राप्तावप्यपुनरावृत्तिः सङ्गच्छते ॥ १० ॥

सू० परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ ४ । ३ । ११ ॥

(वे०पा०सी०) "परं ब्रह्म नयति एतान् ब्रह्म गमयती"ति ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्मुख्यत्वात् ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) आतिवाहिकगणः परब्रह्मोपासीनान् परं ब्रह्म गमयतीति जैमिनिराचार्य्यो मन्यते । कुतः ? "एतान्ब्रह्म गमयती"ति ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्ब्रह्मणि मुख्यत्वात् । यदुक्तं लोकशब्देन बहुवचनेन च देशविशेषवर्त्तिनः कार्य्यब्रह्मण एव विशेषितत्वाच्च तदुपासकान् तदेव गमयतीति, तत्रोच्यते—सर्वगतस्य परस्य ब्रह्मणः स्वेच्छया देशविशेषवर्त्तित्वं "योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् तिष्ठति तद्विष्णोः परमं पदमि"त्यादिश्रुतिभ्य एवावगम्यते । तल्लोकस्य (अपि) नित्यसिद्धत्वम् "अकृतं कृताऽस्मा ब्रह्मलोकं सम्भवानी"ति श्रुत्योच्यते । बहुवचनमपि लोकप्रदेशबाहुल्यविवक्षयोपपद्यते, "ये लोका मम विमलाः सकृद्विभान्ति ब्रह्माद्यैः सुरवृषभैरपीष्यमाणाः । तान्क्षिप्रं व्रज सततामिहोत्रयाजिन्मत्तुल्यो भव गरुडोत्तमाङ्गयान ॥" इति द्रोणपर्वस्थश्रीमुखवचनाच्च ११ ॥

सू० दर्शनाच्च ॥ ४ । ३ । १२ ॥

(वे०पा०सौ०) "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति परप्राप्यत्वदर्शनाच्च ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) "तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" इति मूर्द्धन्यया निष्क्रान्तस्य देवयानेन गतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तेर्दर्शनाच्च ॥ १२ ॥

सू० न च कार्य्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ ४ । ३ । १३ ॥

(वे०पा०सौ०) "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये" इत्ययं प्राप्तेः सङ्कल्पः कार्य्यब्रह्मविषयको न, किन्तु परमात्मविषयकः तस्यैवाधिकारात् १३

(वे०कौ०) ननु "एतान् ब्रह्म गमयती"ति श्रुतिस्थस्य ब्रह्मशब्दस्य कार्यब्रह्मपरत्वमेवास्ति "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्य" इत्यर्चिरादिना गतस्य विदुषः कार्य्ये ब्रह्मणि प्रतिपत्त्यभि-

सन्धेरित्यत्रोच्यते ।

न च कार्य्ये ब्रह्मणि "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्य" इति श्रुत्युक्तः प्रतिपत्त्यभिसन्धिः सम्प्राप्तिसङ्कल्पो भवति, किन्त्वयं प्रतिपत्त्यभिसन्धिः परब्रह्मविषयकः "नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्मे"ति परस्यैवाधिकारात् ॥ १३ ॥

सू० अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्च ॥ ४ । ३ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) अर्चिरादिगणः प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तान् परब्रह्मोपासकान् ब्रह्मात्मकतयाऽक्षरस्वरूपोपासकांश्च परं ब्रह्म नयति । कुतः ? उभयथा दोषात् । कार्य्योपासकान्नयतीत्यत्र "अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्ये"त्यादिश्रुतिव्याकोपः स्यात् । परोपासीनानेव नयतीति नियमे तु "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ती"ति श्रुतिव्याकोपः स्यात् । तस्मा"द्यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती"त्यादिश्रुतेस्तत्क्रतुस्तथैव प्राप्नोतीति सिद्धान्ती भगवान् बादरायणो मन्यते ॥ १४ ॥

(वे०कौ०) एवं पक्षद्वयं दर्शयित्वा स्वसिद्धान्तमाह भगवान्सूत्रकारः ।

अर्चिरादिक आतिवाहिकगणः अप्रतीकालम्बनान्नयतीति भगवान् बादरायणो मन्यते । ये नामादिकं ब्रह्मदृष्ट्योपासते तद्व्यतिरिक्तान्परं ब्रह्मोपासीनान्प्रकृतिवियुक्तं प्रत्यगात्मस्वरूपं ब्रह्मात्मकतयोपासीनानुभयविधान्नयतीत्यर्थः । न तु कार्य्यं ब्रह्मोपासीनान्नयति, न वा परं ब्रह्मोपासीनानेव नयतीति नियमः । कुतः ? उभयथा दोषात् । तत्र कार्य्यं ब्रह्मोपासीनान्नयतीति बादरिपक्षे "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादिश्रुतिविरोध-

रूपदोषप्रसङ्गात् । परब्रह्मोपासीनानेव नयतीति जैमिनिपक्षे "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ती"ति पञ्चाग्निविदामर्चिरादिगतिबोधकश्रुतिविरोधरूपदोषप्रसङ्गात् । अत उभयविधान्नयतीत्याह—तत्क्रतुश्चेति । "यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती"ति "तं यथा यथोपासते तदेव भवती"त्यादिश्रुतेः परब्रह्मक्रतुः परं ब्रह्म प्रतिपद्यते । परब्रह्मात्मकतया प्रकृतिवियुक्तप्रत्यगात्मक्रतुस्तादृशस्वस्वरूपप्राप्तिपूर्वकपरमात्मानं प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

सू० विशेषञ्च दर्शयति ॥ ४ । ३ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) "यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवती"-त्यादिका श्रुतिः प्रतीकोपासकस्य गत्यनपेक्षं फलविशेषञ्च दर्शयति ॥१५॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) नामादिप्राणपर्य्यन्तप्रतीकोपासनेषु परस्य ब्रह्मणः प्रतीकं प्रति विशेषणतया प्रतीकस्यैव प्रधानत्वात् प्रतीकोपासकानां परब्रह्मोपासकत्वं नास्ति । तस्मात्तेषां नार्चिरादिगतिः परब्रह्मप्राप्तिश्चास्ति । तेषां भगवती श्रुतिः "यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवती"त्यादिका गत्यनपेक्षं परिमितफलविशेषञ्च दर्शयति । तस्मादर्चिरादिक आतिवाहिको गणः परब्रह्मोपासकान् (अपि च) परब्रह्मात्मकतया प्रकृतिवियुक्तस्वस्वरूपोपासकांश्च परब्रह्म गमयतीति सिद्धम् ॥१५॥ इति कार्य्याधिकरणम्॥५॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्य्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्य्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादः ॥ ३ ॥

चतुर्थाध्याये चतुर्थपादारम्भः ।

सू० सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥ ४ । ४ । १ ॥

(वे०पा०सौ०) अर्चिरादिकेन मार्गेण परं सम्पद्य स्वाभाविकेन रूपेणाविर्भवतीति "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति वाक्येन प्रतिपाद्यते, स्वेनेतिशब्दात् ॥ १ ॥

(वे०कौ०) पूर्वपादेऽर्चिरादिमार्गः सर्वासु श्रुतिष्वेक एव, स च विद्वांसं परं ब्रह्म गमयतीत्युक्तमिदानीं तेन मार्गेण परब्रह्मप्राप्तः केन रूपेणाविर्भवतीति विचार्य्यते ।

छान्दोग्ये प्रजापतिवाक्ये "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यत" इति श्रूयते । तत्र संशयः किं परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्यागन्तुकेन खलु केनचिद्रूपेण सम्बन्धोऽनया श्रुत्या प्रतिपाद्यते, आहोस्विद्विद्वान्परं सम्पद्य स्वाभाविकेनैव स्वरूपेणाविर्भवतीति श्रुत्या प्रतिपाद्यते ? इति । तत्राभिनिष्पद्यते इत्यस्माच्छब्दात्परं ज्योतिरुपसम्पद्य देवादिवदागन्तुकेन केनचिद्रूपेण सम्पन्नो भवतीति गम्यते इति प्राप्ते, उच्यते—सम्पद्याविर्भाव इति । प्रत्यगात्मा परं ज्योतिरुपसम्पद्याविर्भावः आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणस्वरूपो भवतीत्यनया श्रुत्या प्रतिपाद्यते । कुतः ? स्वेनशब्दात् । स्वेनेतिविशेषणात् । अन्यथा रूपेणेत्यनेनैवागन्तुकरूपपरिग्रहे सिद्धे स्वेनेतिविशेषणस्यानर्थक्यापत्तेः । बद्धावस्थायामावृतस्वरूपः प्रत्यगात्माऽर्चिरादिमार्गेण भगवन्तं सम्पद्य निरावरणेन स्वेन स्वाभाविकेन रूपेणाविर्भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

सू० मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ ४ । ४ । २ ॥

(वे०पा०सौ०) बन्धाद्विमुक्त एवात्र स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते । कुतः ? "य आत्माऽपहतपाप्मे"त्युपक्रम्य "एतं त्वेव ते भूयो-

ऽनुव्याख्यास्यामी"ति प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

(वे०कौ०) ननु स्वाभाविकरूपस्य नित्यप्राप्तत्वाद्बद्धावस्थातो मुक्तावस्थायां को विशेष इत्यत आह ।

कर्म्मात्मिकाऽविद्यावशात् कार्य्यकारणरूपप्रकृतिसम्परिष्वक्तो नानातापसन्तप्तो नानातर्कविमोहितोऽनादिबद्ध इत्युच्यते । स नित्यप्राप्तमपि निजं रूपं न जानाति । मुमुक्ष्ववस्थायाञ्च शास्त्राचार्य्यानुग्रहाद् ज्ञातस्वरूपोऽपि कार्य्यकारणप्रकृतिसंसर्गात् स्वेन रूपेण नाभिनिष्पद्यते । स एव विद्यामहिम्नाऽर्चिरादिमार्गेण परं ज्योतिरुपसम्पन्नः सर्वबन्धविनिर्मुक्तः स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते, तदा मुक्त इत्युच्यत इति विशेषोऽस्ति । कुतः ? प्रतिज्ञानात् । "य आत्माऽपहतपाप्मे"त्युपक्रम्य "एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामी"ति जागरिताद्यवस्थात्रयतदालयशरीरादिनिखिलदोषविनिर्मुक्तस्वरूपप्रतिपादनविषयकप्रजापतिप्रतिज्ञानात् । असति विशेषे प्रजापतिप्रतिज्ञानस्यानर्थक्यं स्यादिति भावः ॥ २ ॥

सू० आत्मा प्रकरणात् ॥ ४ । ४ । ३ ॥

(वे०पा०सौ०) आत्मैवाविर्भूतरूपस्तत्प्रकरणात् ॥ ३ ॥

(वे०कौ०) आत्मा (स्वरूपेणैव) बद्धावस्थायामावृतस्वरूपः परंज्योतिःशब्दवाच्यं परम्ब्रह्मोपसम्पद्य स्वरूपेणैवाविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणको निष्पन्नो भवति, न रूपान्तरेणागन्तुकेन खलु केनचिदभिनिष्पद्यते । "य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकाम" इति प्रजापतिवाक्यप्रक्रमात् प्रत्यगात्मप्रकरणादप्ययमर्थोऽवगम्यते । तथैवाह शौनकः "यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः । दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा ॥ यथोदपानखननात्क्रियते न जलान्तरम् । सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः ॥

तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः। प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते॥"इति । तस्मादर्चिरादिना परम्ब्रह्मोपसम्पद्य स्वाभाविकेनैव रूपेणाभिनिष्पद्यते प्रत्यगात्मेति सिद्धम् ॥ ३ ॥

इति सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ । ४ । ४ ॥

(वे०पा०सौ०) मुक्तः परस्मादात्मानं भागाविशेषविनाऽविभागेनानुभवति, तत्त्वस्य तदानीमपरोक्षतो दृष्टत्वात्, शास्त्रस्याप्येवं दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

(वे०कौ०) "परं ज्योतिरुपसम्पद्ये"ति वाक्यात् "सम्पद्याविर्भाव" इति सूत्राच्च गम्यगन्त्रोर्मोक्षदशायामत्यन्तभेदः प्रतीयते, तत्रेदानीमिदमाह ।

किमयमाविर्भूतस्वरूपः परं ज्योतिरुपसम्पन्नः प्रत्यगात्मा परमात्मनो विभागेन स्वात्मानमनुभवति, उत तदंशतया ततोऽविभागेनेति? सन्देहे, पूर्वः पक्षः "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति, सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता, मम साधर्म्यमागता"इति श्रुतिस्मृतिभ्यां विभागेनानुभवतीति गम्यते। तत्राह—अविभागेनेति । परमात्मनः श्रीपुरुषोत्तमात्सर्वबन्धविनिर्मुक्तः प्रत्यगात्मा स्वात्मानमविभागेनानुभवति। कुतः? दृष्टत्वात्, तेन मुक्तेन तदानीं सर्वात्मनः परमात्मनो दृष्टत्वात् । अज्ञानवशादन्यथा सतोऽन्यथा प्रत्ययो जायते। यदा श्रवणमननध्यानाभ्यासवशात्परमात्मा दृष्टो भवति, तदैव स्वात्मपरमात्मस्वरूपयाथात्म्यज्ञानप्रतिबन्धाः सर्वे विनश्यन्ति "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" इति श्रुतेः, किं पुनर्मुक्तः सर्वात्मानं स्वांशिनं दृष्ट्वा स्वात्मानमंशभूतं ततोऽविभागेनानुभवतीति वक्तव्यम् । तस्मात्तदात्मकस्य प्रत्यगात्मनो हि

विभागाभावात् स्वरूपतः स्वाभाविके विभागेऽपि तत्साहिष्णुर्गुण्यादिभ्यो गुणादेरिव ब्रह्मतो जीवस्य स्वाभाविकोऽविभागो ज्ञेयः । अयं ब्रह्मणा सह जीवस्य सम्बन्धो बहुशः प्रागुपपादितः, श्रुतिस्मृतिसमुदायश्च तत्र तत्रोदाहृत एव। स्वरूपाऽविभागस्तु नेष्टः, अन्यथा "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, सर्वं खल्विदम्ब्रह्म, वासुदेवः सर्वमिति, सर्वं कृष्णः स्थावरं जङ्गमश्च विश्वात्मानं विश्वमेतं पत्तीहि" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः स्वरूपाविभागोऽचेतनवर्गस्यापि स्यात् । शास्त्रस्य विभागाविभागपरत्वेन दृष्टत्वादिति वा । तस्मान्मुक्तः परस्मादात्मानं विभागसहिष्णुनाऽविभागेनानुभवतीति सिद्धम् ॥ ४ ॥ इत्यविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ४ । ४ । ५ ॥

(वे०पा०सौ०) अपहतपाप्मत्वादिब्राह्मेण गुणेन युक्तः प्रत्यगात्माऽऽविर्भवतीति जैमिनिर्मन्यते । दहरवाक्ये ब्रह्मसम्बन्धितया श्रुतानामपहतपाप्मत्वादीनां प्रजापतिवाक्ये प्रत्यगात्मसम्बन्धितयाऽप्युपन्यासादिना लक्षणादिभ्यश्च ॥ ५ ॥

(वे०कौ०) पूर्वत्र परम्ब्रह्म सम्पद्य स्वेन रूपेणाविर्भवतीत्युक्तमिदानीं तद्रूपं कीदृशमिति विचार्य्यते।

किमयं प्रत्यगात्माऽपहतपाप्मत्वादिगुणयुक्तेन स्वेन रूपेणाविर्भवति, उत चिन्मात्रेण रूपेणाहोस्विदुभयश्रुत्यनुसारिणा रूपेणेति? सन्देहे, ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धितयाऽऽम्नातेनापहतपाप्मत्वादिगुणजातेन युक्तो मुक्त आविर्भवति । कुतः? उपन्यासादिभ्यः । अपहतपाप्मत्वादयो गुणा ब्रह्मसम्बन्धित्वेन दहरविद्यायां श्रुतास्तेषां प्रत्यगात्मसम्बन्धित्वेन "य आत्माऽपहतपाप्मे" त्यादिना प्रजापतिवाक्येऽप्युपन्यासः । आदिशब्देन लक्षणादयः सर्वज्ञत्वादयश्च गृह्यन्ते, तेभ्य इति जैमिनिराचार्य्यो मन्यते ॥५॥

[1]छां० ८ प्र० ७ ख०[?] — 'छ ब्र० सु०

सू० चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादि-
त्यौडुलोमिः ॥ ४ । ४ । ६ ॥

(वे०पा०सौ०) ब्रह्मणि चिद्रूपे उपसन्नः प्रत्यगात्मा चिन्मात्रेण रूपेणाविर्भवति, "प्रज्ञानघन एवे"ति तस्य तदात्मकत्वश्रवणादित्यौडुलोमिर्मन्यते ॥ ६ ॥

(वे०कौ०) चिति चिद्रूपे ब्रह्मण्युपसन्नः प्रत्यगात्मा तन्मात्रेण चिन्मात्रेण रूपेणाविर्भवति । कुतः ? प्रत्यगात्मनस्तदात्मकत्वात् चिदात्मकत्वात् विज्ञानमात्रत्वात् । "यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव, एवं वा अरे ! अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे"ति श्रुतिर्विज्ञानमात्रत्वमेवकारेण गुणान्तररहितत्वञ्चात्मनो दर्शयति । अपहतपाप्मत्वादिवाक्यं तु विकारादिव्यावृत्तिपरमित्यौडुलोमिर्मन्यते ॥ ६ ॥

सू० एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं
बादरायणः ॥ ४ । ४ । ७ ॥

(वे०पा०सौ०) विज्ञानमात्रस्वरूपत्वप्रतिपादने सत्यप्यपहतपाप्मत्वादिमद्विज्ञानस्वस्वरूपाविर्भावादविरोधं भगवान्बादरायणो मन्यते । कुतः? मुक्तजीवसम्बन्धितयाऽपहतपाप्मत्वाद्युपन्यासात् ॥ ७ ॥

(वे०कौ०)अथोभयश्रुत्यविरुद्धं स्वमतमाह भगवान्वेदाचार्य्यः ।

एवमपि चिन्मात्रत्वप्रतिपादने सत्यपि पूर्वभावात् पूर्वोक्तादपहतपाप्मत्वादिगुणसम्पन्नविज्ञानस्वरूपप्रत्यगात्माविर्भावात् अविरोधं मोक्षस्वरूपं भगवान्बादरायणो मन्यते । कुतः ? उपन्यासात् , प्रजापतिवाक्ये ब्रह्मस्यापहतपाप्मत्वादेर्मुक्तजीवसम्बन्धितयोपन्यासात् । "विज्ञानघन एवे"त्यत्रापहतपाप्मत्वादीनामेवकारेण व्यावृत्तिः कर्तुमशक्या, तेषां "य आत्माऽपहतपा-

ष्मे"त्यादिश्रुतिसिद्धत्वात्, एवकारस्य जडत्वव्यावृत्तिपरत्वाच्च। यथा "रसघन एवे"त्यत्रैवकारेण रूपस्पर्शादीनां व्यावृत्तिर्न कर्तुं शक्या, प्रमाणान्तरेण तदुपलब्धेः, एवकारस्य द्रव्यान्तरव्यावृत्तिपरत्वाच्च निःसम्बोधमुक्तस्वरूपवादौडुलोमिपक्षो नादर्त्तव्य इत्यभिप्रायः। एतेन निर्बोधमुक्तस्वरूपवादिनोऽन्येऽपि तार्किकादयः प्रत्युक्ताः। तस्मात्परं ज्योतिरुपसम्पद्योभयश्रुत्यविरुद्धेनापहतपाप्मत्वादिगुणयुक्तेन स्वाभाविकेन स्वेन स्वरूपेण प्रत्यगात्माऽऽविर्भवतीति सिद्धम् ॥ ७ ॥ इति ब्राह्माधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः ॥ ४ । ४ । ८ ॥

(वे०पा०सौ०) मुक्तस्य सङ्कल्पादेव पित्रादिप्राप्तिः। कुतः? "स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती"ति तदभिधानश्रुतेः ॥ ८ ॥

(वे०कौ०) प्रत्यगात्मा परं ज्योतिरुपसम्पद्यापहतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्पपर्य्यन्तगुणगणवता विज्ञानघनेन स्वरूपेणाविर्भवतीत्युक्तं, तस्मात्सत्यसङ्कल्पत्वमपि मुक्तस्य सङ्गच्छते। निःसम्बोधमुक्तात्मवादे सत्यसङ्कल्पत्वासम्भवादित्यभिप्रायवानिदानीं मुक्तस्य सङ्कल्पसामर्थ्यं दर्शयति।

मुक्तमधिकृत्य छान्दोग्ये "स तत्र पर्य्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा" इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः किं मुक्तस्य ज्ञात्यादिभिः सह संयोगः प्रयत्नान्तरसहकृतात्सङ्कल्पादुत सङ्कल्पादेवेति? तत्र लोके नृपादीनां प्रयत्नसहकृतसङ्कल्पाद्भोगोपकरणप्राप्तिदर्शनात्प्रयत्नसहकृतादेवेति प्राप्ते, उच्यते—सङ्कल्पादेव ज्ञात्यादिप्राप्तिः। कुतः? तच्छ्रुतेः "स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती"ति प्रयत्नान्तरनिरपेक्षसङ्कल्पसाध्यापित्रादिसमुत्थानश्रवणात्, सङ्कल्प-

स्य प्रयत्नान्तरसहकृतत्वाश्रवणाच्च । नृपादीनां सत्यसङ्कल्पत्वा-भावात्प्रयत्नसहकृतसङ्कल्पादिष्टप्राप्तिर्युक्तैव ॥ ८ ॥

सू० अत एवानन्याधिपतिः ॥ ४ । ४ । ९ ॥

(वे०पा०सौ०) परब्रह्मात्मको मुक्त आविर्भूतसत्यसङ्कल्पत्वादेवा-नन्याधिपतिर्भवति "स स्वराड् भवती"तिश्रुतेः ॥ ९ ॥

(वे०कौ०) मुक्तो यतः आविर्भूतसत्यसङ्कल्पोऽतोऽनन्याधि-पतिर्भवति, स्वात्मभूतादर्शिनः परस्माद्‌ब्रह्मणोऽन्योऽधिपतिर्यस्य न भवति । परब्रह्मात्मकस्य जगद्विमुक्तस्य ब्रह्मानुग्रहादाविर्भूतेन सत्येन सङ्कल्पेनाविर्भूतस्यैश्वर्य्यस्यान्यथाकारकाः प्रकृतिकालय-मेन्द्राद्या अधिपतयो न भवन्तीत्यर्थः, "स स्वराड् भवती"ति श्रुतेः । तस्मान्मुक्तस्य ज्ञात्यादिप्राप्तिः सङ्कल्पादेव भवतीति सि-द्धम् ॥ ९ ॥ इति सङ्कल्पाधिकरणम् ॥ ४ ॥

सू० अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ ४ । ४ । १० ॥

(वे०पा०सौ०) मुक्तस्य शरीराद्यभावं बादरिर्मन्यते, यतः "अ-शरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत" इति श्रुतिस्तथैवाह ॥ १० ॥

(वे०कौ०) एवं मुक्तस्य सङ्कल्पादेव ज्ञात्यादिप्राप्तिर्भवती-त्युक्तमिदानीं तस्य यथासङ्कल्पं शरीरेन्द्रियादिसंयोगं दर्शयितुं मतान्तरमाह ।

किं मुक्तस्य शरीरादिभावोऽस्ति, न वाऽस्ति, आहोस्वित्सङ्क-ल्पादस्ति, नास्ति ? चेति सन्देहे, तदभावं बादरिराचार्य्यो मन्य-ते । हि हेतौ, यतः मुक्तस्य "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिय-योरपहतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत" इति श्रुतिरन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवं शरीराद्यभावमाह ॥ १० ॥

सू० भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ४ । ४ । ११ ॥

(वे०पा०सौ०) तच्छरीरादिभावं जैमिनिर्मन्यते । कुतः ? "स एकधा भवति त्रिधा भवती"त्यादिवैविध्यामननात् ॥ ११ ॥

(वे०कौ०) भावं मुक्तस्य शरीरादेः सत्तां जैमिनिराचार्य्यो मन्यते । कस्मात् ? विकल्पामननात् । "स एकधा भवति त्रिधा भवति, पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः, शतञ्च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिरि"ति हि भूमविद्यायां तस्य वैविध्यामननात् । तच्च वैविध्यं मुक्तस्य शरीरविषयम्, अणुपरिमाणस्याच्छेद्यस्यात्मनो वैविध्यासम्भवात् । अशरीरश्रुतिस्तु कर्म्मजन्यशरीरविषया ॥ ११ ॥

सू० द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ ४ । ४ । १२ ॥

(वे०पा०सौ०) सङ्कल्पादेव शरीरत्वमशरीरत्वञ्च मुक्तस्य भगवान् बादरायणो मन्यते । द्वादशाहस्य यथा "द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदि"ति सत्रत्वमहीनत्वञ्च भवति, तद्वत् ॥ १२ ॥

(वे०कौ०) सम्प्रति स्वकीयं राद्धान्तमाह ।

अतः सङ्कल्पादेवोभयविधत्वं भगवान्बादरायणो मन्यते । यथासङ्कल्पं मुक्तशरीरादिभावाभावौ भवत इत्यर्थः । एवंसति न कस्यचिद्वाक्यस्य व्याकोपः । द्वादशाहवत्, द्वादशाहस्य यथोभयविधत्वं सङ्कल्पभेदेनास्ति । "द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुरि"त्युपैति चोदनायाः सत्रत्वं "द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदि"ति यजतिचोदनाया अहीनत्वञ्च द्वादशाहस्य भवति, तद्वत् । अत इतिशब्दस्य वाक्यद्वयादित्यर्थो वा बोध्यः । "मनसैवैतान्कामान्पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके" इत्यशरीरस्य भोगवादिवाक्यम्, "स एकधा भवती"त्यादि सशरीरस्य भोगवादिवाक्यम् (च) ॥ १२ ॥

सू० तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ ४ । ४ । १३ ॥

(वे०पा०सौ०) स्वसृष्टशरीराद्यभावे स्वप्नवद्भगवत्सृष्टशरीरादिना मुक्तभोगोपपत्तेः शरीरादिसृष्ट्यत्वानियमः ॥ १३ ॥

(वे०कौ०) तन्वभावे स्वसृष्टशरीराद्यभावे सन्ध्यवत्स्वप्नवद्भगवत्सृष्टोपकरणकलापेन मुक्तस्य लीलारसभोगोपपत्तेः। मुक्तः स्वसङ्कल्पादेव शरीरादिकं सृजतीत्यनियमः। सत्यसङ्कल्पो मुक्तः पितृलोकादिस्वशरीरादि स्रष्टुं समर्थोऽपि स्वलीलाऽनुरूपैः परमपुरुषसृष्टैरुपकरणैर्लीलारसं भुङ्क्ते इत्यर्थः। स्वप्ने भगवत्सृष्टैरेव रथादिभिर्बद्धो भुङ्क्ते इति प्रागुपपादितम् ॥ १३ ॥

सू० भावे जाग्रद्वत् ॥ ४ । ४ । १४ ॥

(वे०पा०सौ०) स्वसृष्टशरीरादिभावेऽपि मुक्तस्य भगवल्लीलारसभोगोपपत्तेः कदाचिद्भगवल्लीलाऽनुसारिणा स्वसङ्कल्पेनापि सृजति १४

(वे०कौ०) उपपत्तेरित्यनुवर्त्तते। स्वसृष्टतन्वादिभावे जाग्रद्वत् पुरुषवन्मुक्तस्य लीलारसभोगोपपत्तेः। मुक्तः स्वयं शरीरादिकं न सृजतीत्यप्यनियमः। यथा प्रबुद्धः पुरुषः भगवत्सृष्टपुरुषकामलोष्ठानुसारेण तत्सृष्ट्यन्तर्गतं पुत्रगृहरथादिकं यथाशक्ति सृजति, तेन विहरते। तथा मुक्तोऽपि भगवदनुग्रहात्सत्यसङ्कल्पस्तल्लीलाऽनुरूपं तदिच्छाऽनुसारिण्या निजेच्छया पितृज्ञात्यादिकं शरीरादिकञ्च सृजति, तल्लीलारसं भुङ्क्ते इत्यर्थः ॥ १४ ॥

सू० प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ ४ । ४ । १५ ॥

(वे०पा०सौ०) प्रभाया दीपस्येव ज्ञानेन धर्मभूतेन जीवस्यानेकशरीरेष्वावेशो भवति "स चानन्त्याय कल्पते" इतिश्रुतिस्तथाहि दर्शयति ॥ १५ ॥

(वे०कौ०) ननु "त्रिधा भवती"त्यादिश्रुत्युक्तं त्रैविध्यं तु देहेनापि मुक्तस्य न सम्भवति, एकेनाणुस्वरूपेणानेकदेहव्याप्त्यसम्भवादित्याशङ्क्याह।

मुक्तस्याणुपरिमाणकस्यैकस्मिन्देहे स्थितस्याप्यनेकेषु शरीरेषु धर्मभूतेन ज्ञानेनावेशः सत्यसङ्कल्पत्वादिदं मम शरीरमिदञ्चेत्येवं तत्तच्छरीरित्वेन समन्तात्प्रवेश उपपद्यते । प्रदीपवत् प्रदीपस्येव । यथैकत्र स्थितस्य प्रदीपस्य प्रभया धर्म्मभूतयाऽनेकेषु प्रदेशेष्वावेशस्तद्वत् । तथा हि श्रुतिर्दर्शयति "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते" इति ॥ १५ ॥

सू० स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतराऽपेक्षमाविष्कृतं हि ॥ ४ । ४ । १६ ॥

(वे०पा०सौ०) "प्राज्ञेनात्मना परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमि"ति वाक्यं तु न मुक्तविषयं, किन्तु सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरन्यतरापेक्षम् । "नाह खल्वयं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मी"ति, नो एवेमानि भूतानीति एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यती"ति च, "स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान्पश्यन्रमते"ति च जीवस्योभयत्र निर्बोधत्वं, मुक्त्यवस्थायाञ्च सर्वज्ञत्वं शास्त्रेणाविष्कृतम् ॥ १६ ॥

(वे०कौ०) नन्वनेकशरीरेषु जीवस्य धर्म्मभूतं ज्ञानमाश्रित्यापि स्थितिर्वक्तुमशक्या, "प्राज्ञेनात्मना परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमि"ति परमात्मानं प्राप्तस्य विशेषज्ञानाभाववत्त्वश्रवणादित्यत्राह ।

स्वाप्ययसम्पत्त्योः सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरन्यतरापेक्षमिदं वाक्यम्, आविष्कृतं हि । हि यतः जीवस्य स्वाप्ययसम्पत्त्योर्विशेषज्ञानाभाववत्त्वं, मोक्षदशायां सर्वज्ञत्वञ्च श्रुत्यैवाविष्कृतम् । "नाह खल्वयं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मी"ति, "नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामी"ति श्रुत्या स्वाप्यये विशेषज्ञानाभाववत्त्वं जीवस्याविष्कृतम् । सम्पत्तौ च तस्य

विशेषज्ञानाभाववत्त्वम् "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यती"ति श्रुत्याऽऽविष्कृतम्। विनश्यत्यनभिव्यक्तज्ञानो भवति। मोक्षदशायां जीवस्य सर्वज्ञत्वं "स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके"इति "सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश" इति च श्रुत्याऽऽविष्कृतम्। तस्मान्मुक्तस्य परमपुरुषसृष्टशरीराद्युपकरणवत्त्वं यथासङ्कल्पं सशरीरत्वमशरीरत्वमनेकशरीरत्वं सर्वज्ञत्वञ्च सूपपन्नमिति सिद्धम्१६ इत्यभावाधिकरणम् ॥ ५ ॥

सू० जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च

॥ ४ । ४ । १७ ॥

(वे०पा०सौ०) जगत्सृष्टयादिव्यापारेतरन्मुक्तैश्वर्य्यम् । कुतः ? "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादौ परब्रह्मप्रकरणान्मुक्तस्य तत्रासन्निहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

(वे०कौ०) एवमुक्तप्रकारस्य मुक्तस्य परमं साम्यं गतस्यैश्वर्य्यं किं लक्षणमितीदानीं चिन्त्यते ॥

मुक्तैश्वर्य्यं किं जगद्व्यापाररूपम् , उत तद्वर्ज्जमिति ? संशयः । "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"ति साम्यश्रुतेः परमपुरुषवन्मुक्तस्यापि सर्वजगत्सृष्टिस्थित्यादिव्यापाररूपमैश्वर्य्यं भवतीति पूर्वः पक्षः । तत्रोच्यते—जगद्व्यापारवर्ज्जमिति । मुक्तैश्वर्य्यं जगत्सृष्ट्यादिनियमनरूपव्यापारभिन्नं भवितुमर्हति । जगत्सृष्टयादिव्यापारस्तु परब्रह्मण एव कुतः ? प्रकरणात् , "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिषु सृष्टयादिवाक्येषु तस्यैव प्रकरणात् , असन्निहितत्वाच्च, सृष्टयादिवाक्येषु जगत्कर्त्तृत्वादिना मुक्तस्यानुक्तत्वाच्च ॥ १७ ॥

सू० प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ ४ । ४ । १८ ॥

(वे०पा०सौ०) "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती"त्यादिश्रुत्या मुक्तस्य जगद्व्यापारप्रतिपादनात् "जगद्व्यापारवर्ज्जमि"ति यदुक्तं तन्नेति चेन्न। तया श्रुत्या हिरण्यगर्भादिलोकस्थानां भोगानां मुक्तानुभवविषयतयोक्तत्वात् ॥ १८ ॥

(वे०कौ०) ननु जगद्व्यापारवर्ज्जं मुक्तैश्वर्य्यमिति यदुक्तं तन्न । कुतः ? "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती"त्यादिप्रत्यक्षोपदेशात् । प्रत्यक्षं श्रुतिस्तया छान्दोग्यादिश्रुत्या मुक्तस्य जगद्व्यापाररूपमैश्वर्य्यमुपदिश्यते तस्मादिति चेन्न । कुतः ? आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः, आधिकारिकमण्डलस्थाः हिरण्यगर्भादिलोकस्था भोगास्तेऽपि मुक्तानुभवविषयास्तेषामुक्तेः छान्दोग्यादिश्रुत्या तत्प्रतिपादनादित्यर्थः ॥ १८ ॥

सू० विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ ४ । ४ । १९ ॥

(वे०पा०सौ०) जन्मादिविकारशून्यं स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तगुणसागरं सविभूतिकं ब्रह्मैव मुक्तोऽनुभवति । तथा हि मुक्तिस्थितिमाह श्रुतिः "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति, रसो वै स रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवती"त्यादिका ॥ १९ ॥

(वे०कौ०) जगद्व्यापारवर्ज्जं मुक्तैश्वर्य्यमित्युक्तं, तत्किमित्याकाङ्क्षायां सविभूतिपरब्रह्मानुभवरूपं मुक्तस्यैश्वर्य्यं दर्शयन्नाधिकारिकमण्डलस्थभोगानां मुक्तानुभवविषयत्वकथनान्मुक्तस्य ब्रह्मतुल्यतां प्राप्तां निराकरोति ।

विकारावर्त्ति जन्मादिविकारास्पृष्टं स्वभावतोऽपास्तसमस्त-

देशं समस्तकल्याणगुणैकसागरं सविभूतिकं परं ब्रह्मैव मुक्तोऽनुभवति । चेत्यत्रप्रकरणे । तथा हि मुक्तस्थितिमाह श्रुतिः "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति, रसो वै स रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमि"त्यादिका । अयमर्थः । बद्धः कदाचिद्देवाद्धिरण्यगर्भादिलोकान्गत्वाऽप्यभयं न प्राप्नोति, "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने"ति भगवद्वचनात् । मुक्तस्तु सविभूतिं भगवन्तं प्राप्य तद्विभूतिविशेषतदन्तर्गतहिरण्यगर्भादिलोकस्थानपि भोगान्भुङ्क्ते "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती"ति श्रुत्योच्यते । सर्वेषां परब्रह्मविभूतिभूतानां लोकानां परे ब्रह्मणि स्थितिः "तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चने"ति श्रुत्योच्यते । न च वाच्यं परस्माज्जीवस्यान्यत्वात्कदाचिद्भयं भवेत्, "द्वितीयाद्वै भयं भवती"ति वचनादिति, व्याघ्रान्मृगस्येव परस्मान्मुक्तस्य द्वितीयत्वाभावात्, ब्रह्मात्मकत्वाद्ब्रह्मानन्यतया जीवस्य शास्त्रहृद्भिः प्रतिपादितत्वाच्च ॥ १९ ॥

सू० दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ ४ । ४ । २० ॥

(वे०पा०सौ०) कृत्स्नजगत्सृष्ट्यादिव्यापारार्हं ब्रह्मैव "स कारणं करणाधिपाधिपः, सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरमि"ति श्रुतिस्मृती दर्शयतः—जगद्व्यापारवर्जं मुक्तैश्वर्यम् ॥ २० ॥

(वे०कौ०) प्रत्यक्षं श्रुतिः, अनुमानं स्मृतिः । ते श्रुतिस्मृती एवम्भूतं जगत्सृष्टिस्थित्यादिव्यापारार्हं विकारावधि ब्रह्मैव दर्शयतः । "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्ब्रह्म, एष सर्वेश्वरः एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानाम-

सम्भेदाय, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, भीषा स्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषा स्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । स कारणं कारणाधिपाधिपः, तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य" इत्यादिश्रुतिः । "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् । अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव । मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय !" इति स्मृतिः । मुक्तस्य तु परब्रह्मसाधर्म्येऽपि निखिलचेतनाचेतनपतित्वतन्नियन्तृत्वतद्विधारकत्वसर्वगतत्वाद्यसम्भवाज्जगद्व्यापारवर्ज्जमैश्वर्यम् ॥ २० ॥

सू० भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ ४ । ४ । २१ ॥

(वे०पा०सौ०) "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिते"-ति भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च मुक्तैश्वर्यं जगद्व्यापारवर्ज्जम् ॥ २१ ॥

(वे०कौ०) "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिते"-ति भोगमात्रे खलु मुक्तस्य परब्रह्मसाम्यबोधकलिङ्गाच्च मुक्तैश्वर्यं जगद्व्यापारवर्ज्जमिति गम्यते ॥ २१ ॥

सू० अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ ४ । ४ । २२॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य संसाराद्विमुक्तस्य प्रत्यगात्मनः पुनरावृत्तिर्न भवति । कुतः ? "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" । मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते" इति शब्दात् ॥ २२ ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादः ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

मुक्तस्य भोगमात्रे ब्रह्मसाम्यप्रतिपादनात् स्वरूपसाम्याभावो दर्शितस्तस्य ब्रह्मविलक्षणस्य मुक्तस्वरूपस्यानावृत्तिर्बोध्या। "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यन्ते न च पुनरावर्त्तते । एतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तते, मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः । मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते । इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च"त्यादिश्रुतिस्मृतिरूपाच्छब्दात् । सूत्रावृत्तिः शास्त्रसमाप्तिद्योतिका । सर्वोत्मभूतपरमानन्दपरब्रह्मानुभवरूपं मुक्तैश्वर्यमिति सिद्धम् ॥ २२ ॥ इति जगद्व्यापारवर्ज्जाधिकरणम् ॥ ६ ॥

सूत्रसूत्रार्थकारौ हि वन्देऽहं यत्प्रसादतः ॥
श्रुत्यब्धेरुद्धृतो भूत्यै विदां वेदान्तकौस्तुभः ॥ १ ॥

हरिर्गुरुवशोऽस्मदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

श्रीराधाकृष्णार्पणमस्तु ॥

समाप्तश्चायं फलाख्यश्चतुर्थोऽध्यायः ॥

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति
रूपकमात्तु	रूपकमा तु	१	६
निमित्तकारणस्य	निमित्तोपादानकारणस्य	१८	१४
अचेतेनात्मको	अचेतनात्मको	२५	२०
ब्रह्माभावा	ब्रह्मभावा	२६	२
स्यार्थस्य चेतन	स्यार्थस्याचेतन	२७	४
चान्तरमेवामेवायं	चान्तरमेवमेवायं	२७	१२
सङ्कुलकर्तृ	सङ्कातकर्तृ	२८	१०
कुत: ? स्तस्यै	कुत: ? तस्यै	३४	६
परमात्मन	परमात्मन	३५	१८
वाक्येन ब्रह्म	वाक्ये न ब्रह्म	४२	१०
मामव	मामेव	४४	७
स्वर्पिता: प्रज्ञा)	स्वर्पिता: प्रज्ञामात्रा: प्राणोऽर्पिता इति" भूतमात्रा प्रज्ञा	४५	५
मयादिवाच्यो	मयादिपदवाच्यो	५१	२
आत्मा हृदये	आत्माऽन्तर्हृदये	५२	२२
मोक्षबन्ध:	मोक्षबन्धै:	५४	२
यत्वालिङ्गा	यत्वाल्लिङ्गा	५५	१४
नियमेनना	नियमेनान	६५	३
द्युमूर्द्ध	द्युमूर्द्ध	७१	१७
श्रवणाश्च	श्रवणाच्च	७२	१०
निरञ्जय:	निरञ्जन:	७७	२१

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पङ्क्ति
भागोयतन	भोगायतन	८५	१२
वाक्षरशब्दः	वाक्षरशब्दार्थः	८५	१९
जीवात्तलोक	जीवात्तलोक	८७	६
शब्दस्ताभ्यां हरः	शब्दस्ताभ्यां दहरः	९०	१३
त्वादीनां जीवे	त्वादीनां पूर्वोक्तानां जीवे	९२	१०
श्रवणात्तदेव	श्रवणात्तदेव	१०६	२४
चित्रपुरोहित	चित्ररथपुरोहित	१०९	१
काठवल्ली	कठवल्ली	११५	१
मग्रहरूपितं	तेभ्योऽपि मग्रहरूपितं	११६	१५
विचाय्य	निचाय्य	११९	१३
पेयोमुपगंतृणां	पेयोपगन्तृणां	१२०	३
तद्वाच्यम्याप्त्	तद्वाच्यम्याप्यमाप्त्	१२१	२१
वद्वा	वर्हीं	१२५	८
पजनशाब्द	पञ्चजनशब्द	१२९	१
सत्यतच्छब्दो	सत्येतच्छब्दो	१३४	१३
एवमेवैषु	एवमेवैष	१३५	५
मतस्योयत्ता	मतस्येयत्ता	१३८	७
शिराव्हेभ्यो	शिरोरुहेभ्यो	१४९	१८
प्रत्यवतिष्ठने	प्रत्यवतिष्ठते	१५२	८
"विज्ञानञ्चाभवदि"	"विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्चा- भवदि"	१५२	९
पश्चाकारश्चेतन	पश्चाद्याकारश्चेतन	१५२	२०
हन्ताहिमिमा	हन्ताऽहमिमा	१५३	८
कार्य्यस्याव्याच्च	कार्य्यस्यासत्त्व	१५६	२३

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पङ्क्ति
भोक्तनियन्तृत्वा	भोक्तुनियन्तृत्वा	१५८	२२
आहुस्तन्मन्तं	आहुस्तन्मतं	१६०	१
जलहरणादि	जलाहरणादि	१६१	२
घटाथ	घटार्थ	१६३	४
द्विग्यत्वे	द्विरवत्वे	१६३	२०
सदैव	सवैव	१६३	२४
प्राणायामादि	प्राणापानादि	१६४	६
ब्रह्मभिन्नत्व	ब्रह्माभिन्नत्व	१६५	१६
षोडकत्व	षोडशकत्व	१७७	१६
ब्रह्मभिन्नत्वा	ब्रह्माभिन्नत्वा	,,	१८
सृष्टिवलायां	सृष्टिवेलायां	१८७	१
मुपचिचित	मुपचित	१८६	२३
प्रत्यर्थेति	प्रत्ययर्थेति	१६५	१२
विरोधोऽपि	निरोधोऽपि	१६६	७
मिसदृश	विसदृश	१६७	८
सन्तानास्य	सन्तानस्य	१६७	६
उपचयश्चेत्येवं	अपचयश्चेत्येवं	२०६	२१
स परा	सा परा	२११	१५
प्रलीयते आकाश	प्रलीयते वायुराकाशे		
	प्रलीयते आकाश	२१६	१०
लब्धिक्रियायां	लब्धिवत् क्रियायां	२३२	१४
नाप्यत्यन्तभिन्नः	नाप्यत्यन्ताभिन्नः	२३६	३
यथाभूता	तथाभूता	२४०	७
उत्क्रामन्ती	अनुत्क्रामन्ती	२४४	६

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पङ्क्ति
वाग्वाद्यादि	वाग्वादि	२५५	११
वागीन्द्रियाणां	वागादीन्द्रियाणां	२५७	५
नेन्द्राक्तत्वात्	नेन्द्र भाक्तत्वात्	२५७	८
उपक्रमाद्यनुपपत्तेः	उपक्रमाद्युपपत्तेः	२५७	२५
ते देवा	तं देवा	२५९	१९
श्राद्धादि	श्रद्धादि	२६६	४
सुभभा	सुभगा	२६७	६
सङ्क्रमन्तरणो	सङ्क्रमन्तरेणो	२६७	९
अतो खलु	अतो वै खलु	२६९	१
तत्साहश्य	तत्तत्साहश्य	,,	४
,,	,,	,,	६
,,	,,	,,	७
स्थावरजन्य	स्थावरजन्य	२७०	१४
सन्देहे स्वप्न	सन्देहे सन्ध्ये स्वप्न	२७२	६
सुज्य	सृज्य	२७६	११
आहोस्वित्समुच्चयः	आहोस्वित्तत्समुच्चयः	२७६	१५
सिद्धम् ॥ ८ ॥	सिद्धम् ॥८॥ इत्तित्द-भावाधिकरणम् ॥	२७७	८
परविषयानि	परविषयाणि	२८०	१७
कर्म्मानुरूपकर्त्तृ	कर्म्मानुरूपनामरूपकर्त्तृ	२८२	६
भवति । एवं	भवति । चकाराद्यदि भ्रान्तेरविषये नीयते तदा तस्या वैयर्थ्य-म्भवति । एवं	२८२	२४

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति
उभ सामञ्जस्या	उभयसामञ्जस्या	२८५	६
ज्ञानप्रसादेन	ब्रह्मज्ञानप्रसादेन	२८८	१२
पूर्णा सर्व	पूर्णा पुरुषेण सर्व	२९२	१६
परमसुत्कृष्ट	परमुत्कृष्ट	२९५	१०
ब्रह्मणः	परब्रह्मणः	२९६	४
मेवास्यामपि	मेकस्यामपि	२९९	२५
सुपासा	सुद्गीथसुपासा	३०२	३
त्स्मधयिते	त्समधीयते	,,	६
त्युद्गीथे प्रणव	त्युद्गीथावयवप्रणव	३०३	१३
विहितार्नां	विहितानां	३१४	६
यागादिकर्म्म	प्रवर्ग्यादिकर्म्म	३१६	१९
माप्रपद्यते । अपि वाक्य	माप्यते । अपि तु वाक्य	३१८	११
वाक्यादुप	वाक्यात्तदुप	३१९	८
कालविशेषेण मासे समा	कालाविशेषेण मासे सम	३२०	२
सम्पराये	साम्पराये	,,	१३
दुत्सर्पक	दुत्सर्पण	३२१	१८
तद्वियागा	तद्वियोगा	३२३	६
कालेषु	लोकेषु	,,	१७
निरशेषं	निरवशेषं	,,	२४
किन्तु स	किन्तु सा	३२४	७
सुकृताह्नुत्या	सुकृतानिह्नुत्या	,,	१२
गुर्वो	गुर्वी	३२६	५
त्वाद्गुणानां च	त्वादृगुणानाञ्च	३२७	२,३

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति
स्थूलत्वादि	अस्थूलत्वादि	३२८	१९
योऽश्राना	योऽश्नना	३२९	१९
सत्यविद्यायां	सद्विद्यायां	३२९	२२
हीतरत्वात्	हीतरवत्	३३१	२५
दुपास्यस्य	दुपासनस्य	३३७	९
श्रेष्ठत्वाकर्म्म	श्रेष्ठत्वात् कर्म्म	,,	१४
तद् गुण	तत्तद् गुण	३३८	२४
चक्षुश्चित: कर्म	चक्षुश्चित: श्रोत्रचित: कर्म	३४०	१
मनसाऽशंसन	मनसा स्तुवन्त:		
	मनसा शंसन	,,	१२
दतिदशाच्च	दतिदेशाच्च	३४२	६
ते हैतै	ते हैते	,,	९
सिद्धम् ।। ६४ ।।	सिद्धम् ।।८४।। इति यथा-		
	श्रयभावाधिकरणम् ।।	,,	२०
कर्म्मोपयोगि	कर्म्मोपयोगि	३५६	१२
जनानां, सर्वस्येशान:	जनानां सर्वस्य वशी		
	सर्वस्येशान:	३५७	१७
भगकृपा	भगवत्कृपा	३६२	११
कर्म्मत्वने	कर्म्मत्वेन	३७१	१०
वचवा	वचना	३७५	४
पुनरे	पुनरे	,,	१७
मामि	माम	३७६	१२
प्रकृत	प्रकृष्ट	३७८	२२
दाशुर्ष	दाशुर्ष	३८०	१८

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति
स्थूलत्वादि	अस्थूलत्वादि	३२८	१६
योऽशाना	योऽशना	३२९	१९
सत्यविद्यायां	सद्विद्यायां	३२९	२२
हीतरत्वात्	हीतरवत्	३३१	२५
दुपास्यस्य	दुपासनस्य	३३७	६
श्रेष्ठत्वाकर्म्म	श्रेष्ठत्वात् कर्म्म	,,	१४
तद् गुण	तत्तद् गुण	३३८	२४
चक्षुश्चितः कर्म	चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्म	३४०	१
मनसाऽशंसन	मनसा स्तुवन्तः मनसा शंसन्	,,	१२
दतिद्शाच्च	दतिदेशाच्च	३४२	६
ते हैतैं	ते हैते	,,	९
सिद्धम् ॥ ६४ ॥	सिद्धम् ॥८४॥ इति यथा-श्रयभावाधिकरणम् ॥	,,	२०
कर्म्मांपयोगि	कर्म्मोपयोगि	३५६	१२
जनानां, सर्वस्येशानः	जनानां सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः	३५७	१७
भगकृपा	भगवत्कृपा	३६३	११
कर्म्मत्वने	कर्म्मत्वेन	३७१	१०
वचवा	वचना	३७५	४
पुनरे	पुनरे	,,	१७
माप्ति	माप्त	३७६	१२
प्रकृत	प्रकृष्ट	३७८	२२
दायुषं	दायुषं	३८०	१८

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पंक्ति
जलाशयदि	जलाशयादि	३९०	१८
अमया	आमया	,,	२३
पूर्वांघयो	पूर्वांघयो	३९१	१८
दोत्म्यक्ते	दोत्पन्नयो	३९२	२२
भाप्ति	भाप्त	३९५	५
अविदुषा	अविदुषो	३९८	१
स न सम्भवति तासां त्रिवृत	सा न सम्भवति तासां त्रिवृतं त्रिवृत	४००	७
पृथिवीमय इति	पृथिवीमय आपोमय इति	,,	११
विदुषा	विदुषो	४०१	१
निर्दिष्टाच्छ	निर्दिष्टाच्छा	४०४	१०
भाग्रान्तरसहि	भाग्रान्तरसहि	४०५	९
वियद्रुवा	वियुद्रुवा	४१४	१६
वायोरमे	वायोरमे	,,	२५
दधिनिवेश	दधिनिवेश	४१५	५
उधिवस्था:	उधिवस्था:	,,	६
तादेर्नी	तेदानीं	४१७	२
भागाविरोधि	विभागविरोधि	४२४	६
रादिर्मुक्त	रादेर्मुक्त	४३०	२
विद्द्रग	चिद्रग	,,	११
प्रभाया	प्रभया	,,	२०

श्री६निम्बार्कसम्प्रदायस्य मुद्रितग्रन्थाः।

१	वे० पारिजातसौरभ श्री ६ निम्बार्काचार्य विरचित।	१।)
२	वे० जान्हवी सेतु सहित १म तरंग।	४।)
३	,, ,, मूल सहित २य तरंग।	
४	लघुमञ्जूषा दश श्लोक की सरल संस्कृत व्याख्या।	
५	वे० रत्नमञ्जूषा श्रीभगवत्पुरुषोत्तमाचार्यकृत। दश श्लोक का बृहद्भाष्य।	२)
६	वे० तत्त्वबोध। श्रीअनन्तरामकृत।	
७	श्रुत्यन्तसुरद्रुम। २५ श्लोकी का बृहद्भाष्य।	४।)
८	श्रुतिसिद्धान्तमञ्जरी। २५श्लोकी की सरल व्याख्या।	
९	श्रुत्यन्तकल्पवल्ली। २५ श्लोकी का विस्तृत भाष्य।	२)
१०	क्रमदीपिकातन्त्रग्रन्थ। श्रीगोपालमन्त्र का विविध प्रयोगविधि सटीक।	४।)
११	श्रीगुरुभक्तिमन्दाकिनी श्री श्री निवासाचार्यकृता।	
१२	श्रुतिसिद्धान्तसंग्रह सटीक।	४।)
१३	आध्यात्मसुधातरंगिणी।	
१४	श्रीपुरुषसूक्त ४ व्याख्या सहित।	१)

सर्व प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—

हमारे यहां सब प्रकार की उत्तम छपाई भी होती है।

जयकृष्णदास–हरिदास गुप्तः—

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस,

विद्याविलास प्रेस, गोपालमन्दिर के उत्तर फाटक,

बनारस सिटी।

श्री निम्बार्कसम्प्रदायके वैष्णवोंको नीचे लिखी पुस्तकें केवल पोष्ट चार्ज भेजने पर विना मूल्य मिलेंगी ।

नाम पुस्तकें

१ श्री स्वधर्मामृतबिन्दु ।
२ श्री विष्णुसहस्रनाम संस्कृतभाष्यसहित ।
३ श्री मुण्डकोपनिषद् । भाष्यसहित ।
४ वेदान्ततत्त्वसुधा । २५ श्लोकोंकी भाषाटीका ।

मिलनेका पता—महन्त श्री व्रजभूषणशरणदेवजी
मु:—कलड़ा—पोस्ट । जि: वर्दवान (बंगाल)

---

१ श्री अर्चिरादिपद्धतिसंस्कृतव्याख्या ।

पता—पं० बिहारीदासजी त्यागी
बिहारीजीकी बगीचीके पीछे—राजाराजचन्द्रका मन्दिर
मु:—वृंदावन—मथुरा (यू० पी०)

---

१ श्री हरिव्यासयशामृत । भाषागीतिकाव्य ।
२ श्री निम्बार्काष्टोत्तरशतनाम । संस्कृतटीकासह ।
३ श्री गोपालपूजनपद्धति । भाषाटीकासह ।
४ पुष्पेषुमधुकल्पलतासौरभ । भाषाटीकासह ।
५ श्री वैष्णवधर्मसुरद्रुममञ्जरी । भाषाटीका सह ।
६ श्री निम्बार्कावतरणनाटक हिन्दी । मूल्य रु० १) ।

पता—विरक्तवैष्णव श्रीरामचन्द्रदास
ठि:—टटियावालों बड़ा कुंज—मु: वृंदावन । जि० मथुरा ।

---

१ स्तोत्ररत्नावली १ म भाग ।
२ वेदान्ततत्त्वसुधा । २५ श्लोकोंकी भाषाटीका ।
३ वेदस्तुति :
४ द्वैताद्वैतसिद्धान्त । भाषा इंग्लिश ।

मिलनेका पता—महन्त—श्री कल्याणदासजी पण्डित
ठि: पानीघाट । मु:—वृंदावन—जि० मथुरा (यू० पी०)

॥ श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ॥

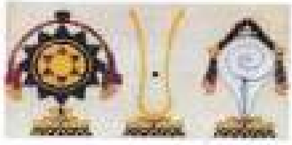

॥ भगवन् श्री निम्बार्काचार्याय नमः ॥

श्री निम्बार्क ज्ञान कोश

(श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्धान्त , उपासना , साहित्य, इतिहास,समाज को देन एवं साधकों की जिज्ञासा समाधान कोश)

संस्थापना–श्री निम्बार्क जयन्ति वि.स. 2073 तदनुसार 14 नवम्बर 2016

संचालक मण्डल - श्री जयकिशोर शरण जी

श्री हरिदास जी (9997374430)

डा.राधाकान्त वत्स(9268889017)